देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्।। ऋ० १/८६/२

Impact Factor
8.642

ISSN : 2395-7115
Feb. 2026
Vol.-23, Issue-2

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

UGC Valid Journal (The Gazette of India, Extraordinary Part III, Section 4, Dated July 18, 2018)

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Advocate

Publisher :
Gugan Ram Educational & Social Welfare Society (Regd.)
#202, Old Housing Board, Bhiwani, Haryana-127021

स्व. चौ. गुगनराम सिहाग व उनकी छोटी बहन स्व. श्रीमती गीना देवी के शुभाशीर्वाद से प्रकाशित

JOURNAL OF HUMANITIES, COMMERECE, SCIENCE, MANAGEMENT & LAW

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

https://bohalshodhmanjusha.com/

Vol. 23 | **ISSUE-2, Part-2** | (फरवरी 2026) | **ISSN : 2395-7115**

प्रेरणा :

चौ. एम. सिहाग

सम्पादक :

डॉ. नरेश सिहाग 'बोहल', एडवोकेट

एम.ए. (समाजशास्त्र, लोक प्रशासन, हिन्दी शिक्षा शास्त्र, पत्रकारिता),
एम.फिल (समाजशास्त्र, हिन्दी) एम. लिब., एल-एल.बी. (ऑनर्स),
डिप्लोमा पंचायती राज (रजत पदक विजेता), पी.एच.डी. (हिन्दी)
डी.लिट् (मानद उपाधि), काठमांडू, नेपाल

कार्यकारी सम्पादक :

प्रो. शकुन्तला चौहान

शामली, उत्तर प्रदेश।

प्रकाशक :

गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.)

202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड, भिवानी-127021 (हरियाणा)

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL REFEREED/REVIEWED AND INDEXED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
ISSN 2395-7115

सम्पादकीय सम्पर्क :
डॉ. नरेश सिहाग एडवोकेट
202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड,
भिवानी-127021 (हरियाणा)
Email : nksihag202@gmail.com
मो. 09466532152

Published by :
Gugan Ram Educational & Social Welfare Society (Regd.)
202, Old Housing Board,
Bhiwani-127021 (Haryana) INDIA
Email : grsbohal@gmail.com
Facebook.com/bohalshodhmanjusha
Website : www.bohalsm.blogspot.com
WhatsApp : 9466532152

All Right Reserved by Publisher & Editor

Price

Individual/Institutional : 1100/-

<u>*Disclaimer :*</u>

1. Printing, Editing, Selling and distribution of this Journal is absolutely honorary and non-commercial.
2. All the Cheque/Bank Draft/IPO should be sent in the name of Gugan Ram Educational & Social Welfare Society payable at Bhiwani.
3. Articles in this journal do not reflect the Views or Policies of the Editor's or the Publisher's. Respective authors are responsible for the originally of their views/opinions expressed in their articles.
4. All dispute will be Subject to Bhiwani, Hry. Jurisdication only.

Printed by : Manbhawan Printers, Old Bus Stand Road, Naya Bazar, Bhiwani (Hry.)

बोहल शोध मंजूषा परिवार*

मानद संरक्षक

डॉ. कैलाश चन्द्र शर्मा 'शंकी'
पूर्व शिक्षा अधिकारी,
साहित्यकार,
चरखी दादरी (हरियाणा)

डॉ. विश्वबंधु शर्मा
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बाबा मस्तनाथ वि.वि.
रोहतक (हरियाणा)

डॉ. विनोद तनेजा
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुरूनानक वि.वि. अमृतसर
पंजाब।

सम्पादक मण्डल

सह सम्पादिका :
डॉ. रेखा सोनी
उप प्राचार्या, शिक्षा विभाग
टाटिया वि.वि. श्रीगंगानगर।

सह सम्पादिका :
डॉ. सुशीला आर्या
हिन्दी विभाग, चौ. बंसीलाल
विश्वविद्यालय, भिवानी।

प्रबंध सम्पादक :
समुन्द्र सिंह
भिवानी, हरियाणा।

विधि विशेषज्ञ

डॉ. रामफल दलाल, एडवोकेट
जिला न्यायालय
भिवानी, हरियाणा।

अजीत सिहाग, एडवोकेट
पंजाब एवं हरियाणा हाईकोर्ट,
चंडीगढ़।

चरणवीर सिंह, एडवोकेट
जिला न्यायालय
पटियाला, पंजाब।

विषय विशेषज्ञ/परामर्शदात्री/शोधपत्र निरीक्षण समिति

डॉ. कुमारी लक्ष्मी जोशी
हिन्दी विभाग, त्रिभुवन वि.वि.
काठमाण्डू, नेपाल।

डिल्लीराम शर्मा संग्रौला
विभागीय प्रमुख, संस्कृत, पत्रकारिता, हिंदी
पद्मकन्या बहुमुखी कैंपस, काठमांडू, नेपाल।

डॉ. संजय एल. मादार
विभागाध्यक्ष, पी.जी. केन्द्र
द.भा.हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद।

डॉ. गीता दहिया, प्राचार्या,
नैशनल टीटी कॉलेज फॉर गर्ल्स
अलवर, राजस्थान

डॉ. इस्पाक अली
पूर्व प्राचार्य, लाल बहादुर शास्त्री
शिक्षा महाविद्यालय, बेंगलूरू

डॉ. मो. रियाज़ खान
बीएमएस वूमैन कॉलेज आटोनोमेस
बेगलूरू

डॉ. वनिता कुमारी
च. दादरी (हरियाणा)

श्री सहदेव समर्पित
सम्पादक, शान्तिधर्मी, जीन्द

डॉ. अंजली उपाध्याय
उत्तर प्रदेश

डॉ. लता एस. पाटिल
राजीव गांधी बीएड कालेज
धारवाड़, कर्नाटक

प्रो. अमनप्रीत कौर
गुरू तेग बहादुर खालसा कॉलेज
फॉर वूमैन, दसूहा, पंजाब

डॉ. वर्षा रानी
संस्कृत विभाग, डॉ. भीमराम
अम्बेडकर, वि.वि., आगरा

प्रो. कमलेश चौधरी
राजकीय रणबीर महाविद्यालय
संगरूर, पंजाब

डॉ. किरण गिल
दीनदयाल टी.टी. महाविद्यालय
बारी, जिला सीकर, राज.

डॉ. सविता घुड़केवार
पीजी विभाग, दक्षिण भारत
हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

डॉ. परमजीत कौर
बरेली कॉलेज बरेली,
उत्तर प्रदेश।

डॉ. राजकुमारी शर्मा
श्रीराम कॉलेज,
नई दिल्ली।

डॉ. श्रीविद्या एन.टी.
श्री शंकराचार्य संस्कृत वि.वि.
केरल।

डॉ. बी. संतोषी कुमारी
पी.जी.विभाग, दक्षिण भारत हिन्दी
प्रचार सभा, मद्रास।

श्री राकेश ग्रेवाल
सन जॉस,
कैलिफोर्निया, यू.एस.ए.

डॉ. पंडित बन्ने
भारत महाविद्यालय,
सोलापुर (महाराष्ट्र)

डॉ. करमजीत कौर
प्राचार्या, दशमेश गर्ल्स कॉलेज
चक आला, मुकेरिया, पंजाब।

श्री राकेश शंकर भारती
साहित्यकार व अनुवादक,
यूक्रेन।

डॉ. उमा सैनी
आई.ए.एस.ई. विश्वविद्यालय
सरदारशहर, राजस्थान

डॉ. मनमीत कौर
राधा गोविन्द वि.वि.,
रामगढ़, झारखण्ड।

डॉ. रीना उन्नीयाल तिवारी
शिक्षा संकाय, डी.ए.वी. पीजी
कालेज, देहरादून

डॉ. सुरजीत सिंह कस्वां
डीन फिजिकल एजुकेशन
टांटिया वि.वि., श्रीगंगानगर,

डॉ. शबाना हबीब
गवर्नमेंट कॉलेज फॉर वूमैन
त्रिवन्तपुरम, केरल।

डॉ. शिवकरण निमल
सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान
एसपीसी राजकीय महा. भीम, राजस्थान।

डॉ. राधाकृष्णन गणेशन
भारत कला भवन
वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

डॉ. मानसिंह दहिया
संस्कृत विभाग
हरियाणा सरकार।

डॉ. नीलम आर्या
संस्कृत विभाग
उत्तर प्रदेश।

डॉ. रवि सुण्डयाल
हॉयर एजुकेशन डिपार्टमेंट
जम्मू कश्मीर।

प्रो. नरेन्द्र सोनी
सूचना एवं जन सम्पर्क अधिकारी,
हरियाणा सरकार।

डॉ. रोहतास
एस.जी.पी.जी.आई.एम.एस.
लखनऊ, उत्तर प्रदेश।

प्रो. सत्यबीर कालोहिया
पूर्व प्राचार्य,
कैलिफोर्निया।

पठान चिन्ना जानी
सहायक प्राध्यापक
सी.एच.एस.डी. सेंट थेरेसा
महिला महाविद्यालय (ए)
एलुरु, आंध्र प्रदेश

डॉ. वैशाली सिंह
सहायक प्राध्यापक
शिक्षा विभाग, एस.एम.टी. अनार देवी
टी.टी. कॉलेज, बखराना
(कोटपुतली) राजस्थान।

डॉ. रेखा रानी
गवर्नमेंट रणबीर कॉलेज
संगरूर, पंजाब

डॉ. के.के. मल्हौत्रा
पूर्व विभागाध्यक्ष
गवर्नमेंट कॉलेज, गुरदासपुर

डॉ. अंकिता चतुर्वेदी, प्रवक्ता
भीमसेन डिग्री कॉलेज
(आगरा यूनिवर्सिटी)

शिओंग छन श्यू
चीन

*सम्पूर्ण बोहल शोध मञ्जूषा परिवार/सम्पादक मण्डल अवैतनिक है।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्।। ऋ० १/८६/२
ISSN : 2395-7115
9 772395 711007
बोहल शोध मञ्जूषा
Bohal Shodh Manjusha
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED & REFEREED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
Publisher : Gugan Ram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Table 2

Methodology for University and College Teachers for calculating Academic/Research Score

(Assessment must be based on evidence produced by the teacher such as: copy of publications, project sanction letter, utilization and completion certificates issued by the University and acknowledgements for patent filing and approval letters, students' Ph.D. award letter, etc,.)

S.N.	Academic/Research Activity	Faculty of Sciences /Engineering / Agriculture / Medical /Veterinary Sciences	Faculty of Languages / Humanities / Arts / Social Sciences / Library /Education / Physical Education / Commerce / Management & other related disciplines
1.	**Research Papers in Peer-Reviewed or UGC listed Journals**	08 per paper	10 per paper
2.	**Publications (other than Research papers)**		
	(a) Books authored which are published by ;		
	International publishers	12	12
	National Publishers	10	10
	Chapter in Edited Book	05	05
	Editor of Book by International Publisher	10	10
	Editor of Book by National Publisher	08	08
	(b) Translation works in Indian and Foreign Languages by qualified faculties		
	Chapter or Research paper	03	03
	Book	08	08
3.	**Creation of ICT mediated Teaching Learning pedagogy and content and development of new and innovative courses and curricula**		
	(a) Development of Innovative pedagogy	05	05
	(b) Design of new curricula and courses	02 per curricula/course	02 per curricula/course

202, Old Housing Board, Bhiwani, Haryana-127021
www.bohalsm.blogspot.com grsbohal@gmail.com 8708822674 9466532152

अनुक्रमाणिका – फरवरी 2026

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय	डॉ. नरेश सिहाग	09–09
2.	डॉ. नरेश सिहाग की कविता : 'वक्त का सफर'	S. RAJALAKSHMI	10-12
3.	नागपुरी का व्याकरणिक परम्परा	आलोक कुमार मिश्रा	13–14
4.	नागपुरी जागरण गीत एवं कविताएँ : एक अध्ययन	चन्द्रिका कुमारी	15–16
5.	श्रम का विभाजन या सामाजिक नियंत्रण : जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक व्याख्या	खुशबू सिंह	17–21
6.	युवतियों में बढ़ते अनैतिक व्यवहार का उनके स्वास्थ्य एवं सामाजिक दृष्टिकोण पर पड़ने वाले प्रभाव रू वाराणसी के संदर्भ में	प्रोफेसर चन्द्रशेखर सिंह	22–30
7.	इतिहास में मिथक, लोककथा और जनस्मृति का महत्व	डॉ० शिवानन्द कुमार	31–36
8.	झारखण्ड के उराँव जनजाति की युवागृह संस्था	डॉ० प्रमीला उराँव	37–39
9.	नई काव्य चेतना में प्रतिष्ठित लघु मानव : एक नया व्यक्तित्व	डॉ. पूजा धमीजा, सुभाष चन्द्र वर्मा	40–43
10.	विभिन्न दर्शनों में श्रम की व्याख्या : एक समालोचनात्मक अध्ययन	राजेंद्र प्रसाद	44–48
11.	आजाद हिंद फौज का इंदौर से संबंध	महेन्द्र	49–54
12.	कबीर के काव्य में गुरु–शिष्य परंपरा : एक सर्वांगीण आध्यात्मिक एवं सामाजिक विश्लेषण	डॉ. सतीश चन्द मंगल, राम खिलाड़ी गुर्जर	55–58
13.	**Democratic Decentralization and the Evolution of Panchayati Raj Institutions in Rural Rajasthan (1950–1980)**	**ANSHUL NAGAR**	**59-66**
14.	भारतीय ज्ञान परम्परा और आयुर्वेदीय चिकित्सा	डॉ. बिहारी लाल द्विवेदी	67–72
15.	चंबल संभाग में भारत छोड़ो आंदोलन : एक ऐतिहासिक अध्ययन	धीरज मीणा	73–77
16.	मध्य प्रांत के प्रमुख जंगल सत्याग्रह	डॉ. रामानुज प्रताप सिंह धुर्वे	78–85
17.	**Mercantile Prosperity and Architectural Flourishing in Shekhawati during British India**	**PRADEEP SOLET**	**86-91**
18.	**Narratives of Time and the Past in Early Historical South Asia**	**Srishti Agrahari**	**92-97**
19.	उत्तराखण्ड ताम्र हस्तशिल्प कला : चुनौतियां और पुनरुद्धार रणनीतियां	शिवानी	98–103
20.	**Impact of Social Media and Online Games on Early Growing School Children**	**NITISH KUMAR SINGH**	**104-109**

21.	सहयोगात्मक अधिगम और अकादमिक सफलता	Dr. Vaishali Singh	110-114
22.	Comparative Awareness of Yoga and Physical Education Careers among Urban and Rural College going girl's	Dr. Anurag Singh, Amar Singh,	115-122
23.	गौवंश के संरक्षण हेतु विभिन्न सामाजिक संगठनों द्वारा किए गए प्रयासों का समग्र अध्ययन	नरेश प्रसाद भट्ट, डॉ. मंजू सिंह	123-126
24.	सूरदास : ऐंद्रिक आसक्ति के बीच भक्ति का साक्षात्कार	डॉ. अजय कुमार यादव	127-134
25.	Teaching and learning process to enhance teaching a literature review	Dr. Ram Nagina Rajak	135-140
26.	'कवि किंकर भट्ट' श्री गिरधारी शर्मा 'तैलंग' का मत्स्यांचल के संस्कृत साहित्य में योगदान	प्रो. मधुबाला मीना	141-145
27.	विभिन्न प्रकार के राजयोगों का तुलनात्मक अध्ययन	अरविन्द उनियाल, डॉ. मंजू सिंह	146-149
28.	आधुनिक राजनीति में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन	रूखमणी मोहबे, डॉ. मुन्नालाल चौधरी,	150-156
29.	A STUDY OF PSYCHOLOGICAL AND MENTAL ABILITY PROFILES OF INDIVIDUAL AND TEAM GAME PLAYERS	Patel Kalpesh Shashikant, Dr. Jully Ojha. Dr. Aruna Dogra	157-164
30.	यौगिक ध्यान तकनीकों का अध्ययन : पतंजलि योगसूत्र और भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में	करनाराम, डॉ. महेश चन्द्र	165-169
31.	RISING DIVORCE RATES IN URBAN INDIA : A STUDY THROUGH FAMILY COURT PERCEPTIONS	Anwani Sadhna Kishore Renu, Dr. Vijaymala	170-177
32.	Role of ultrasound based muscle quality and architecture study for early identification of frailty in acute hip fracture	Navas NK, Dr. Prateek Sharma, Dr. Brijesh Sathian	178-186
33.	आधुनिक जीवन शैली से उत्पन्न शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का यौगिक उपचार	नीलू, डॉ. पूनम आहूजा	187-192
34.	STUDY OF THE NATURE AND SCOPE OF URBAN GEOGRAPHY IN SRI GANGANAGAR	Dr. Sachin Kumar	193-199
35.	बीकानेर जिले के भू आवरण के बदलते स्वरूप पर नगरीकरण का प्रभाव : एक भौगोलिक अध्ययन	सुमन चौधरी, डॉ. सचिन कुमार	200-204
36.	पातंजलि योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक-तकनीक की अवधारणा का अध्ययन	विपिन बोहरा, डॉ. पूनम आहूजा	205-210
37.	भोजपुरी लोकगीतों में अभिव्यक्त लोक जीवन	संतोष कुमार	211-213

संपादकीय...

समकालीन शोध चेतना और बोहल शोध मंजूषा

शोध केवल तथ्यों का संकलन नहीं, बल्कि समाज, समय और संवेदना के बीच एक जीवंत संवाद है। बोहल शोध मंजूषा का यह फरवरी मासिक अंक इसी संवाद को और अधिक सशक्त बनाते हुए पाठकों एवं शोधार्थियों के समक्ष प्रस्तुत है। यह पत्रिका अपने आरंभ से ही साहित्य, समाज, संस्कृति और समकालीन विमर्श को शोध की दृष्टि से देखने का सतत प्रयास करती रही है, और यह अंक उसी परंपरा की एक सशक्त कड़ी है।

आज का समय तीव्र परिवर्तन का समय है। वैश्वीकरण, तकनीकी विकास, सामाजिक असमानताएँ, सांस्कृतिक संक्रमण और वैचारिक द्वंद्वकृये सभी तत्व हमारे साहित्य और शोध को गहराई से प्रभावित कर रहे हैं। ऐसे समय में शोध पत्रिकाओं की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। बोहल शोध मंजूषा केवल लेखन का मंच नहीं, बल्कि विचारों के मंथन और बौद्धिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करने वाला एक गंभीर प्रयास है।

फरवरी अंक में संकलित शोध आलेख विविध विषयों को समेटे हुए हैं। इनमें हिंदी साहित्य, लोकसंस्कृति, सामाजिक यथार्थ, स्त्री विमर्श, पर्यावरणीय चिंतन, इतिहासबोध तथा समकालीन समस्याओं पर आधारित अध्ययन शामिल हैं। ये आलेख न केवल अकादमिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, बल्कि समाज के व्यापक प्रश्नों से भी संवाद करते हैं। शोधार्थियों ने संदर्भों, तर्कों और मौलिक दृष्टिकोण के माध्यम से अपने विषयों को प्रामाणिकता प्रदान की है।

यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आज शोध का उद्देश्य केवल डिग्री प्राप्ति तक सीमित नहीं रहना चाहिए। शोध समाज के लिए उपयोगी हो, मानवीय मूल्यों को पुष्ट करे और साहित्य को जीवन से जोड़े—यह अपेक्षा हर गंभीर पाठक की होती है। बोहल शोध मंजूषा इस अपेक्षा को समझते हुए ऐसे शोध कार्यों को प्राथमिकता देती है जो संवेदनशील, तथ्यपरक और वैचारिक रूप से सुदृढ़ हों।

यह अंक उन सभी शोधार्थियों और विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करता है, जिन्होंने अपने परिश्रम, समय और ज्ञान से पत्रिका को समृद्ध किया। साथ ही समीक्षकों और संपादकीय सहयोगियों का योगदान भी उल्लेखनीय है, जिनकी सूक्ष्म दृष्टि और मार्गदर्शन से आलेखों की गुणवत्ता सुनिश्चित हो सकी।

अंत में, बोहल शोध मंजूषा अपने पाठकों से यह अपेक्षा रखती है कि वे इस शोध यात्रा में सहभागी बनें—पढ़ें, विचार करें और संवाद को आगे बढ़ाएँ। शोध तभी सार्थक है जब वह प्रश्नों को जन्म दे और चेतना को जाग्रत करे। हमें विश्वास है कि फरवरी अंक इस दिशा में एक सकारात्मक और विचारोत्तेजक पहल सिद्ध होगा।

–संपादक

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 10-12
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

डॉ. नरेश सिहाग की कविता : 'वक्त का सफर'

S. RAJALAKSHMI
Assistant Professor in Hindi
Agurchand Manmull Jain College,

कवि परिचय :

डॉ. नरेश कुमार सिहाग हिन्दी साहित्य, समाजशास्त्र एवं समकालीन विमर्श के प्रतिष्ठित विद्वान, लेखक एवं शोध निर्देशक हैं। वर्तमान में वे टांटिया विश्वविद्यालय, श्रीगंगानगर (राजस्थान) के हिन्दी विभाग में विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत हैं। उनके 60 से अधिक शोध आलेख राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ. नरेश कुमार सिहाग हिन्दी साहित्य, समाजशास्त्रीय चिंतन एवं समकालीन विमर्श के एक सक्रिय, बहुआयामी और प्रतिबद्ध विद्वान लेखक हैं। उनका लेखन साहित्य को केवल सौंदर्यबोध तक सीमित न रखकर उसे समाज, संस्कृति और मानवीय सरोकारों से गहराई से जोड़ता है। शोध, आलोचना, अनुवाद और नव–विमर्श के क्षेत्रों में उनकी वैचारिक दृष्टि संतुलित, प्रगतिशील और तथ्यपरक है।

आपके लेख समकालीन समस्याओं को परम्परा के आलोक में देखने का नया दृष्टिकोण प्रदान करते हैं तथा अकादमिक गम्भीरता के साथ सामाजिक चेतना को भी सशक्त करते हैं। सरल भाषा, स्पष्ट तर्क और गहन अध्ययन उनके लेखन की प्रमुख विशेषताएँ हैं, जो पाठक और शोधार्थीकृदोनों को समान रूप से प्रेरित करती हैं।

प्रस्तावना :

कविता 'वक्त का सफर' आधुनिक जीवन के संघर्ष, समय की महत्ता और सफलता की प्रक्रिया को अत्यंत संवेदनशील और प्रेरक भाषा में प्रस्तुत करती है। यह कविता न केवल जीवन की सच्चाईयों को उजागर करती है, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टिकोण भी देती है। इसमें वर्णित विचार किसी भी पाठक को प्रेरणा, आत्ममंथन और आत्मविश्वास से भर देते हैं।

आज के समय में जब व्यक्ति शीघ्र सफलता पाने की दौड़ में भाग रहा है, यह कविता धैर्य, समय और परिश्रम के वास्तविक मूल्य को रेखांकित करती है। यह कविता एक जीवन–दर्शन की प्रस्तुति है।

विषयवस्तु और कथ्य :

'वक्त का सफर' का केंद्रीय विषय समय और संघर्ष है। कवि इस विचार को स्थापित करते हैं कि कामयाबी कोई तात्कालिक जादू नहीं, बल्कि एक दीर्घकालिक प्रक्रिया है, जिसमें संघर्ष, त्याग और समय की भूमिका अनिवार्य है।

कामयाबी के लिए समय का निवेश आवश्यक है। ख्वाब को हकीकत में बदलने के लिए बलिदान देना

पड़ता है। हर बड़ी चीज के पीछे एक लंबा संघर्ष और मेहनत छुपी होती है। समय और धैर्य सबसे बड़े सहायक हैं।

कविता यह स्पष्ट करती है कि जो लोग कठिनाइयों से घबरा जाते हैं, वे मंजिल तक नहीं पहुँच सकते। यह विचार कविता को यथार्थ के धरातल पर रखता है और पाठकों को स्वप्रेरणा प्रदान करता है।

शिल्प और शैली

(क) भाषा और लयात्मकता :

कविता की भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण और संवेदनशील है। कवि ने कठिन शब्दों के प्रयोग से बचते हुए भी गहरे भाव प्रकट किए हैं। हिंदी–उर्दू के मेल से बनी शब्दावली कविता को भावनात्मक और प्रभावशाली बनाती है। उदाहरण :

'धूप में तपकर ही सोना निखरता है,
और कांटों से गुजरकर ही गुलाब महकता है।'

इस तरह की पंक्तियाँ लोक प्रचलित कहावतों की याद दिलाती हैं, जिससे कविता का प्रभाव व्यापक होता है।

(ख) छंद और शैली :

कविता छंदबद्ध नहीं है, फिर भी इसकी पंक्तियों में स्वाभाविक लय है। यह मुक्त छंद कविता है, जिसमें भावों को बंधनमुक्त तरीके से अभिव्यक्त किया गया है। इसमें एक प्रकार की प्रवाहमयी गति है, जो पाठक को आरंभ से अंत तक बाँध कर रखती है।

(ग) प्रतीक और रूपक :

कविता में प्रतीकात्मक भाषा का सुंदर प्रयोग हुआ है, जो भावों की गहराई को स्पष्ट करता है। जैसे : 'हर ईंट में छुपे होते हैं सालों के आंसू' – यह एक गूढ़ प्रतीक है जो बताता है कि निर्माण केवल भौतिक नहीं होता, उसमें भावनाएँ और संघर्ष भी जुड़ा होता है।

'धूप में तपकर ही सोना निखरता है' – यह रूपक मेहनत और तपस्या का सूचक है।

सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ :

यह कविता हमारे समाज में व्याप्त उस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करती है, जहाँ लोग तुरंत परिणामों की अपेक्षा करते हैं। आज की पीढ़ी में शीघ्र कामयाबी की धारणा गहराती जा रही है, जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है।

कवि का यह कथन :

'एक दिन में किसी के महल खड़े नहीं होते'।

इस सोच को खंडित करता है और बताता है कि सफलता एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है।

साथ ही, कविता मेहनतकश वर्ग की पीड़ा को भी सूक्ष्म रूप में उजागर करती है :

'हर दीवार पर लिखी होती है, इंसान की मेहनत की दास्तां।'

यह पंक्ति एक श्रमिक चेतना को प्रस्तुत करती है, जो आधुनिक हिंदी कविता का महत्वपूर्ण विषय रहा है।

भावात्मक पक्ष :

कविता में प्रेरणा, संघर्ष, धैर्य और आत्म–विश्वास जैसे भाव प्रबल हैं। कविता किसी उपदेश की तरह नहीं, बल्कि सहानुभूतिपूर्ण मित्र की तरह पाठक से संवाद करती है। वह उसके मन की ऊहापोह को समझती है और आश्वस्त करती है कि समय के साथ सब कुछ संभव है, बशर्ते वह चलते रहे।

'चलते रहो तो रास्ता भी बन जाता है,
वरना ठहराव में सिर्फ सन्नाटा होता है।'

यह पंक्ति भावनात्मक और दार्शनिक दोनों स्तरों पर गहरे प्रभाव डालती है। इसमें जीवन की गतिशीलता और ठहराव की विफलता का सुंदर द्वंद्व है।

नैतिक और प्रेरक दृष्टिकोण :

'वक्त का सफर' एक मूल्यपरक कविता है, जो जीवन के संघर्षों में दिशा दिखाने वाली मशाल का कार्य करती है। यह न केवल युवाओं के लिए बल्कि हर उस व्यक्ति के लिए उपयोगी है जो जीवन में किसी कठिन दौर से गुजर रहा है।

'सपनों की उड़ान को पंख वक्त देता है,
और हौसले को ऊँचाई मेहनत देती है।'

इस तरह की पंक्तियाँ हमें 'स्वयं पर विश्वास रखने' का संदेश देती हैं।

काव्य सौंदर्य :

कविता में सौंदर्य के तीन प्रमुख रूप दिखाई देते हैं :

(i) **वर्णनात्मक सौंदर्य :** कविता में हर पंक्ति एक दृश्य उत्पन्न करती है – जैसे मजदूर की ईंटें, तपता सूरज, कांटे और गुलाब। यह कविता को दृश्यात्मक प्रभाव प्रदान करता है।

(ii) **भाव सौंदर्य :** कविता आत्मीय भावनाओं से ओतप्रोत है, जो पाठक के मन को छूती है। इसे पढ़ते समय पाठक खुद को कविता के भीतर पाता है।

(iii) **बौद्धिक सौंदर्य :** यह कविता न केवल भावात्मक है, बल्कि बौद्धिक उत्तेजना भी देती है – यानी सोचने पर मजबूर करती है कि हम अपने जीवन में कैसे समय, मेहनत और धैर्य का महत्व समझते हैं।

संभावित स्थान और उपयोगिता :

'वक्त का सफर' को निम्नलिखित रूपों में उपयोग किया जा सकता है :

प्रेरक साहित्य संग्रहों में।

भाषणों या कार्यशालाओं में उद्धरण के रूप में।

यह कविता मनोवैज्ञानिक प्रेरणा देने में सक्षम है और पाठकों को अंदर से सशक्त करती है।

निष्कर्ष :

कविता 'वक्त का सफर' एक उत्कृष्ट प्रेरणादायक रचना है जो संघर्ष, समय, मेहनत और आत्म–विश्वास की महत्ता को बेहद सुंदर और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। इसमें न केवल साहित्यिक गुण हैं, बल्कि यह सामाजिक चेतना और जीवन–दर्शन से भी परिपूर्ण है।

यह रचना जीवन के उस अनमोल सत्य को दर्शाती है कि :

'सपने हकीकत बनते हैं,
जब उन्हें समय, मेहनत और विश्वास की जमीन मिलती है।'

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 13-14
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

नागपुरी का व्याकरणिक परम्परा

आलोक कुमार मिश्रा
वरीय शोधार्थी, स्नातकोत्तर नागपुरी विभाग,
जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा संकाय, राँची विश्वविद्यालय राँची, झारखण्ड।

भारत वर्ष में व्याकरण परम्परा मुख्य रूप से संस्कृत व्याकरण (वेदांग) से विकसित हुई है। जिसका उद्देश्य वेदों की शुद्धता और शब्दों की उत्पत्ति की रक्षा करना था। भारतीय परम्परा में प्रत्येक विषय का संबंध वेदों से ही जोड़ कर प्रयत्न किया जाता है। इस हेतु व्याकरण शास्त्र के प्राचीन स्रोत को ढूंढने के लिए वेदों के अभिमुख होना पड़ता है। बेदांग नामकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा, कल्प, छंद, निरुक्त, व्याकरण तथा ज्योतिष इन छः वों अंगों को पृथक रूप में मान्यता वेदों के संहिता रूप में निबध्द होने तथा उनकी स्वाध्याय–प्रवृत्ति के बाद ही संभव हुई है।

हर भाषा के अपने कुछ नियम होते हैं, उसकी अपनी बनावट और व्यवस्था होती है। व्याकरण में भाषा को अनुशासित और नियंत्रित करने के नियम होते हैं। भाषा जनभाषा हो या राष्ट्र्ध्भाषा तथा उसके बोलने वाले कम हो या ज्यादा जिस भाषा की व्याकरण नहीं होता है सही मायने मायने यह भाषा का रूप नहीं ले पाता। भाषा का प्रथम रूप बोली होता है। उसे भाषा का दर्जा तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि उसे व्याकणिक बंधन में उसे बांधा न जाय। व्याकरण ऐसा ज्ञान देने वाला शास्त्र है जिसमें ध्वनि, वर्ण, शब्द, रूप, वाक्य आदि विभिन्न व्याकणिक को इकाईयों को सूक्ष्मता से विश्लेषित किया जाता है। व्याकरण की परिभाषा विद्वानों ने अपने–अपने नजरीय से व्यक्त किए है – ''व्याकरण वह शास्त्र है जो किसी भाषा को शुद्ध रूप से बोलना, समझना, लिखना तथा पढ़ना सिखाता है।

व्याकरण (वि + आ + करण) शब्द का अर्थ भली–भाँति समझना है। व्याकरण में वे नियम समझाये जाते है जो शिष्ट जनों के द्वारा स्वीकृत शब्दों के रूपों और प्रयोग में दिखलाई देते हैं।

व्याकरण (ग्रामर) वह शास्त्र है जिसमें की भाषा का विश्लेषण किया जाता है। और उसके अंगों के स्वरूपों तथा प्रयोगों के नियमों का निरुपण होता है, तथा व्याकरण शास्त्र भाषा का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। किसी भाषा के वैज्ञानिक ज्ञान से ही उस भाषा में शुद्ध–शुद्ध बोलना और लिखना आता है।

नागपुरी भाषा का व्याकरणिक परम्परा के अन्तर्गत प्रथम व्याकरण नोट्स ऑन दि गँवारी डायलेक्ट ऑफ लोहरदगा, छोटानागपुर 1896 ई. में प्रकाशित हुआ जिसे रेवरेंड ई. एच व्हिटली ने लिखा था। नागपुरी व्याकरण परम्परा लगभग 130 वर्ष प्राचीन है। किसी भी व्याकणिक परम्परा का दो नजरिया रहता है पहला उपनिवेशिक

और दूसरा स्वतंत्र। नागपुरी व्याकरणिक परम्परा का आरम्भ इसी व्याकरण से माना जाता है। यही व्याकरण 1914 ई. में फिर से प्रकाशित हुआ। इस बार इसका नाम नोट्स ऑन नागपुरिया हिन्दी कर दिया गया। परन्तु इसी बीच रेव. फादर कोनार्ड बुकाउट का व्याकरण ग्रामर ऑफ दि नागपुरिया सदानी लैंग्वेज 1906 ई. में प्रकाशित हुभा। नागपुरी का व्याकरणिक परम्परा अत्यंत ही प्राचीन होते हुए आज के आधुनिक युग में प्रवेश किया। नागपुरी में अब तक के प्रमुख व्याकरण :–

1. नोट्स ऑन दि गँवारी डायलेक्ट ऑफ लोहरदगा, छोटानागपुर रेव. ई. एच. ह्विटली 1896, लिपि–रोमन।
2. ग्रामर ऑफ दि नागपुरिया सदानी लैंग्वेज – रेव. कोनार्ड बुकाउट – 1906 (1914) – प्रकाशित
3. नोट्स ऑन दि नागपुरिया हिन्दी – रेव. ई. एच ह्विटली (1914 ई.)
4. लैंग्वेज हैण्ड बुक सदानी – रेव. फादर हेनरिक फ्लोर – (1931 ई.)
5. ए सिम्पल सदानी ग्रामर – फादर पी. एस नवरंगी (अंग्रेजी)
6. नागपुरी भाषा और साहित्य – प्रो. केशरी कुमार (1959 ई.)
7. नागपुरिया सदानी बोली का व्याकरण – फा. पी. एस. नवरंगी (1965 ई.)
8. नागपुरी भाषा का संक्षिप्त परिचय – पंडित योगेन्द्रनाथ तिवारी – (1971 ई.)
9. नागपुरी भाषा – डॉ. श्रवण कुमार गोस्वामी – (1976 ई.)
10. नागपुरी (सदानी) व्याकरण – शकुन्तला मिश्र एवं डॉ. उमेश नन्द तिवारी – (2021 ई.)
11. नागपुरी भाषा व्याकरण एवं साहित्य – डॉ. बीरेन्द्र कुमार महतो – (2015 ई.)
12. नागपुरी का संक्षिप्त व्याकरण – डॉ. एमलीन केरकेट्टा (2019 ई.)
13. नागपुरी भाषा का व्याकरण – डॉ. रामजय नाईक (2022 ई.)
14. नागपुरी व्याकरण – डॉ. युगेश कुमार महतो – (2025 ई.)

इस तरह से कहा जा सकता है कि नागपुरी भाषा का व्याकरणिक परम्परा हिन्दी भाषा के जैसा ही है। नागपुरी के अब तक इस परम्परा में श्रेष्ठ व्याकरण फादर नवरंगी जी का व्याकरण ''नागपुरी सदानी बोली का व्याकरण'' को माना गया है। फादर नवरंगी ने नागपुरी बोली का व्याकरण लिखा भाषा का नहीं फिर भी यह वैज्ञानिक सिध्द व्याकरण है क्योंकि इन्होंने नागपुरी के ठेठ रूपों को अपनाया है। नागपुरी एक जीवंत भाषा है इसी कारण व्याकरणिक परम्परा का एक मजबूत इतिहास हमें दिगदर्शन करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. तिवारी डॉ. भोलानाथ – व्यवहारिक हिन्दी व्याकरण और रचना, पृ. सं – 02, प्रकाशक – फ्रेंक ब्रदर्स एण्ड कम्पनी नई दिल्ली–1996
2. गुरु कामता प्रसाद – हिन्दी व्याकरण पृ. सं – 05, प्रकाशक – नई दिल्ली, दरियागंज – 2021
3. प्रसाद डॉ. राम – स्वातंर्त्र्योत्तर नागपुरी साहित्य : एक शास्त्रीय अध्ययन, पृ. सं –527, प्रकाशक – झारखण्ड झरोखा, राँची – 2014

Gmail – alokkumar747@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 15-16

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

नागपुरी जागरण गीत एवं कविताएँ : एक अध्ययन

चन्द्रिका कुमारी
शोधार्थी, स्नातकोत्तर नागपुरी भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची।

प्राचीन काल से ही नागपुरी गीतों की एक समृद्ध परम्परा रही है। ये गीत नागपुरी साहित्य के सबसे कोमल और भास्वर अंश है। रघुनाथ नृपति (नागवंश के 50 वें राजा) इसके पहले ज्ञात कवि हैं।

हनुमान सिहं, बरजुराम, जयगोविन्द, कमल, सोबरन, घाँसीराम, कंचन, विनंद, गौरांगिया, दिना, अनुप आदि ने नागपुरी गीतों की परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य किया। इस पीढ़ी के बाद नागपुरी गीतों को सम्पन्न करने वालों गीतकारों में धनीराम बक्शी, मदन सिंह, जयगोविन्द, नारायण तिवारी, दृगपाल राम देवघरिया, भवानी प्रसाद, योगेन्द्र नाथ तिवारी, फादर पीटर शांति नवरंगी, लालरणविजयनाथ शाहदेव, शेख डोमन अली, पांडे दुर्गा आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आजादी के पहले इन कवियों–गीतकारों के गीतों का मुख्य विषय भक्ति और श्रृंगार था। आजादी के बाद 1960 ई0 के आसपास से नागपुरी गीतों के भाव एवं विषय परिवर्तन होने लगे। अब भक्ति और श्रृंगार के साथ–साथ नागपुरी गीतों में आधुनिक चेतना, जीवन दर्शन, विश्व बंधुत्व की भावना, राष्ट्रप्रेम, झारखण्डी जनता की पीडा, दुख–दर्द एवं उससे मुक्ति की कामनाएँ जैसे भाव मुखरित होने लगे। इस चेतना के स्वर को अभिव्यक्ति देने वालों में प्रफुल्ल कुमार राय अग्रणी रहे। इन्होंने अपनी ''अब नागपुर बोली'' कविता के माध्यम से शोषित, पीड़ीत झारखण्डी जनता को जगाने का काम किया।

'अब नागपुर चुप नई रही,
अब नागपुर बोली
ढेइर दिनक सुतल रहे
अब तो नजइर खोली'।

इसी प्रकार शारदा प्रसाद शर्मा, डॉ. बी. पी. केशरी, चन्द्रदेव सिंह, मुकुन्द नायक, महाबीर नायक, मधुमंसरी हँसमुख, कृष्णकलाधर, डॉ. गिरीधारी राम गाँझू 'गिरिराज', धनेन्द्र प्रवाही जैसे अंसख्य कवियों एवं गीतकारों ने अपने गीत–कविताओं के माध्यम से झारखण्डी समाज को उनके हक एवं अधिकारों की रक्षा एवं झारखण्डी कला साहित्य संस्कृति के प्रति प्रेम एवं अपनत्व की भावना को विकसित किया है।

झारखण्ड की भूमि रत्नगर्भा है, इसके गर्भ में कोयला, लोहा, अभरक, यूरेनियम, ताँम्बा, बॉक्साइड जैसे बहुमूल्य खनिज छिपे हुए हैं, तो धरती के ऊपर आपार वन संपदा भी भरी पड़ी है। इस प्रकार प्रकृति संपदा से समृद्ध एवं धनी होने के बावजूद भी झारखण्डी जनता दिन–हिन और शोषण से चूर हैं। अशिक्षा, कुषोषण, बीमारी,

पलायन जैसी समस्याएँ इनके भाग्य के साथ जुड़ गए हैं। इन सारी विसंगतियों के कारण इनकी बहुमूल्य कला संस्कृति एवं साहित्य का भी ह्रास होने लगा। इन विसंगतियों को देखकर यहाँ के कवि कलाकार चिंतित हो गए। और अपनी गीत–कविताओं के माध्यम से लोगों को जागरूक करने का बीड़ा उठाया। हम इन कवियों के इस प्रकार के रचनाओं को ही जागरण गीतों की श्रेणी में रखते हैं। जागरण गीत आगे बढ़कर देश प्रेम, विश्व बंधुत्व एवं आत्म–परिष्कार तक की सीमा को छुता है। नारी सशक्तिकरण, पर्यावरण चेतना, कुप्रथा एवं अंधविश्वास के प्रति विरोध जैसे विषय इसी जागरण गीत के घेरा में आतें हैं।

झारखण्डी भाषा साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान तथा चिंतक डॉ. रामदयाल मुण्डा झारखण्ड को मिनी इंडिया कहते थे। स्वतंत्रता के पश्चात् के काल को झारखण्ड के सांस्कृतिक पुर्नजागरण काल कहा जाता है। उन्होंने नागपुरी सहित अन्य सभी झारखण्डी भाषाओं के गीत–कविताओं के गहन अध्ययन के बाद कहा कि झारखण्डी भाषाओं के गीत–कविताओं में प्रचुर मात्रा में जागरण गीत भरे पड़े हैं। ये गीत–कविताएँ झारखण्डी जनता की अभिव्यक्ति के मूल स्वर हैं। अतः इन गीत–कविताओं का संकलन आवश्यक है। उनकी असामयिक मृत्यु के कारण जागरण गीतों के संकलन का यह महत्वपूर्ण कार्य उस समय नहीं हो पाया। बाद में इस कार्य को नागपुरी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. गिरीधारी राम गौंझू ने झारखण्ड जागरण गीत–नगीत (नागपुरी खण्ड) नामक कविता संकलन पुस्तक को सम्पादित किया।

नागपुरी के समर्थ साहित्यकार लालरणविजय नाथ शाहदेव ने भी 1980 के दशक में ''अब नरसिंधा बाजी'' ''अब झारखण्ड देसे'' गीत के माध्यम से झारखण्डी जनता को अपनी पीड़ा व शोषण से मुक्ति के लिए आह्वान किया। बाद में इन्होनें जागरण की भावना से ओत–प्रोत एक गीत संग्रह प्रकाशित की–

'जागी जवानी चमकी बिजुरी।'

प्रसिद्ध नागपुरी साहित्यकार एवं कवि डॉ. बी. पी. केशरी ने अपनी नागपुरी कविता संग्रह ''बोल आपन बोली'' में भी अनेक जागरण संबंधी कवितओं को शामिल किया है।

नागपुरी कवि चन्द्रदेव सिंह ने कविता संग्रह झारखण्ड–दर्पण में भी अनेक जागरण गीतों को शामिल किया है। इसी प्रकार प्रमुख गीतकार मुकुन्द नायक, मधुमंसरी हँसमुख, क्षितिज कुमार राय, महाबीर नायक जैसे असंख्य गीतकारों ने अपने जागरण गीतों से झारखण्डी जनता को समय–समय पर उद्वेलित करने का कार्य किया है। ''**जागु जवान नागपुरे देहु तनि धेयान**'' जैसे क्रांतिकारी गीत झारखण्ड आन्दोलन के समय पूरे झारखण्ड की फिजा तैर रहे थे। इन सभी गीत–कविताओं के आलावा सैकड़ों जागरण गीत–कविताएँ सोशल मिडिया एवं पत्र–पत्रिकाओं में देखे जा सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथों की सूची :

1. नागपुरी लोक साहित्य –'अनुज' डॉ. भुनेश्वर।
2. नागपुरी लोकगीत वृहत संग्रह –'केशरी' डॉ. विसेश्वर प्रसाद।
3. आगम बेस काव्य संग्रह–'प्रवाही ' धनेन्द्र।
4. झारखण्डी लोक संगीत – 'गिरीराज' डॉ. गिरीधार राम गौंझू।
5. जागी जवानी चमकी बिजुरी – 'शाहदेव' लालरणविजयनाथ।

मो. नं. 6207620660, Email Id: chandrikakumari664@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 17-21

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

श्रम का विभाजन या सामाजिक नियंत्रण : जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक व्याख्या

खुशबू सिंह
शोध छात्र, प्राचीन इतिहास संस्कृत एवं पुरातत्व विभाग,
महाराज सुहेलदेव विश्वविद्यालय, आजमगढ़।

सारांश :

भारतीय इतिहास मे 'श्रम' का विभिन्न प्रकार के संदर्भों मे उपयोग किया गया है जो सामाजिक और पारिवारिक एवं जाति के रूप मे दिखाई देती है और यह आगे चल कर समकालीन समाज एक व्यापक रूप मे प्रदर्शित होता है। श्रम का विभाजन सामाजिक नियंत्रण और जाति व्यवस्था के भाव व वैचारिक संस्थागत रूप मे दिखाई देता है। इसके विकास का सफर विभिन्न आयामों से होकर गुजरा है जो वर्ग से श्रम से जाति तक चलता रहा है। यह यात्रा इतनी अनोखी रही है जिसका निष्कर्ष निकालना मुश्किल रहा है और हम आज भी इससे जुड़े मुद्दों पर वाद–संवाद कि जगह वाद–विवाद करते है पर अंत मे हम इतिहास के इस विषय को ऊपरी सतह से देखते है जो कि हमे सूक्ष्म नजरिए से दिखायी देता है। मैने इस विषय के सन्दर्भ मे अलग अलग प्रकार के मुद्दों को देखा है जिसमे सबसे करीब 'श्रम विभाजन या सामाजिक नियंत्रण' का विचार दिखायी देता है। जो की इस व्यापक विषय के नये सोच को बताता है, इसमे हम मानव विकास की यात्रा जो कबिलाई–ग्रामीण–शहरी के साथ मजबूत सामाजिक संगठन के रूप में सामने आया है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे साथ ही इसके अन्य पहलुओं पर भी बात करेंगे। यह शोध पत्र जाति व्यवस्था को दो प्रमुख दृष्टिकोणों श्रम का विभाजन और सामाजिक नियंत्रण के परिप्रेक्ष्य से पुर्नव्याख्यित करता है। वैदिक काल से समकालीन भारत तक के ऐतिहासिक प्रसंगों में यह अध्ययन दिखाता है कि कैसे श्रेणियों में विभाजन ने आर्थिक कार्यक्षमता और विशेषज्ञता को जन्म दिया, तथा किस प्रकार सामाजिक नियंत्रण के यंत्र ने इन श्रेणियों को स्थापित और अपरिवर्तनीय बनाया।

मुख्य शब्द – जाति व्यवस्था, श्रम विभाजन, सामाजिक नियंत्रण, वैदिक समाज, औपनिवेशिक पुनर्निर्माण, आधुनिक पुनर्रचना।

भूमिका –

जाति व्यवस्था भारतीय समाज का एक सदियों पुराना सामाजिक तंत्र रहा है। यह केवल जन्म आधारित विभाजन भर नहीं, बल्कि अर्थव्यवस्था, राजनीति और सामाजिक मानदंडों को भी आकर दिया है। जिसमें सामाजिक मानदंड आज भी प्रासंगिक है जिसका उदाहरण 'बी एल बशन' की पुस्तक 'अद्भुत भारत' में उन्होंने

बताया है कि भारत में आज भी कई जातियों में वैवाहिक सामाजिक संस्कार होते है जो प्राचीन काल से चले आ रहे है। उन्होंने इसको आगे विभिन्न मंत्रो के प्रयोग जो पूजन के समय होते है उससे जोड़ा है जो एक मजबूत सामजिक संस्था के रूप को दिखता है। परंपरागत रूप से इसे वैदिक वर्ण व्यवस्था से जोड़ा जाता है, जहाँ चार वर्ण– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का पाठ मिलता है। लेकिन इनमे एक और वर्ण कि भी जानकारी मिलती ही जिनको हम पंचम वर्ण के नाम से जानते है जिसे आदिवासी, जनजाति कहते है। इनकी भूमिका लंबे समय तक नगण्य रही औपनिवेशक काल ने सभी जाति को समावेशन के माध्यम से सीमित कर दिया। जाति व्यवस्था का सफर इतिहास का एक प्रमुख भाग रहा है।

प्राचीन ग्रंथों में वर्ण व्यवस्था :

ऋग्वेद (पुरुष सूक्त) में वर्ण व्यवस्था को ब्रह्मा के अंगों से उत्पन्न बताया गया है– ब्राह्मण (मुख), क्षत्रिय (भुजाएँ), वैश्य (जांघें), शूद्र (पाँव)। यह प्रतीकात्मक श्रम विभाजन का संकेत देता है। मनुस्मृति में जातियों के लिए कठोर नियम निर्धारित किए गए हैं, जैसे शूद्रों को वेद अध्ययन से वर्जित करना, जिससे सामाजिक नियंत्रण की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है याज्ञवल्क्यस्मृति और नारदस्मृति जैसे ग्रंथों में जाति आधारित दंड व्यवस्था का उल्लेख मिलता है, जहाँ उच्च जातियों को हल्का दंड और निम्न जातियों को कठोर दंड दिया जाता था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र जाति व्यवस्था को आर्थिक दृष्टिकोण से देखता है, लेकिन राज्य हित में कुछ लचीलापन भी दर्शाता है। डॉ. बी. आर. आंबेडकर ने जाति व्यवस्था को सामाजिक शोषण का औजार बताया और इसे जन्म आधारित असमानता का प्रतीक माना। आर. एस. शर्मा (शूद्रों की स्थिति पर शोध) ने गुप्तकाल में जातिगत कठोरता के बढ़ने की ओर संकेत किया। द्रौपदी देवी और गौरी विश्वनाथन जैसे समकालीन लेखकों ने जाति को सांस्कृतिक वर्चस्व और सामाजिक नियंत्रण के रूप में देखा है। बौद्ध और जैन ग्रंथों में जाति व्यवस्था की आलोचना मिलती है। बुद्ध ने कर्म आधारित मूल्य को जन्म आधारित श्रेष्ठता से ऊपर रखा। भक्ति आंदोलन के संतों (कबीर, रैदास) ने जाति को नकारते हुए समता और श्रम की गरिमा का संदेश दिया। गेल ओम्वेट और नंदिनी सुंदर जैसे समाजशास्त्रियों ने जाति को सत्ता संरचना और सामाजिक नियंत्रण के रूप में विश्लेषित किया है। इग्नू, जे.न.यू और बी.एच.यू जैसे संस्थानों में जाति पर आधारित शोध कार्यों में यह स्पष्ट हुआ है कि श्रम विभाजन की अवधारणा व्यवहार में सामाजिक नियंत्रण में बदल गई।

प्राचीन काल में जाति व्यवस्था वैदिक वर्ण संहिता :

वैदिक ग्रंथों में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। संभवतः इसका उद्देश्य प्रारंभिक कृषि–आधारित अर्थव्यवस्था में श्रमिकों को व्यवस्थित करना था। ब्राह्मणों को शिक्षण– धर्म कार्य, क्षत्रियों को सुरक्षा–शासन, वैश्य–कृषि व्यापार कार्य, शूद्र–श्रम एवं उपयुक्त समूहों का सेवक कार्य आदि सौंपा गया।

कार्य विभाजन बनाम जन्म आधारित विभाजन :

प्रारम्भिक साहित्य में वर्णों का हस्तगत होना योग्यता–आधारित प्रतीत होता है, लेकिन समय के साथ जन्म आधारित विभाजन अधिक दृढ़ हुआ। इस संक्रमण ने आर्थिक विशेषज्ञता की बजाय सामाजिक नियंत्रण को महत्व दिया। प्राचीन काल में जाति व्यवस्था एक जटिल और बहुस्तरीय सामाजिक संरचना थी, जिसकी नींव वैदिक काल में पड़ी और जो समय के साथ जन्म आधारित पदानुक्रम में बदल गई।

वैदिक काल की जाति व्यवस्था :

वर्ण व्यवस्था कि उत्पति उत्तर वैदिक काल में लगभग (1500–1000 ई.) में हुई।

- **ब्राह्मण** – ज्ञान और पूजा के कार्य।
- **क्षत्रिय** – शासन और युद्ध।
- **वैश्य** – व्यापार और कृषि।
- **शूद्र** – सेवा और श्रम।

यह विभाजन कर्म आधारित माना जाता था, न कि जन्म आधारित। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णों की उत्पत्ति को ब्रह्मा के शरीर से जोड़ा गया जैसे ब्राह्मण – मुख से, क्षत्रिय – भुजाओं से, वैश्य – जंघा से, शूद्र – चरणों से। यह प्रतीकात्मक वर्णन सामाजिक पदानुक्रम को धार्मिक वैधता देने का प्रयास था। यह एक वर्ग या समूह आधारित व्यवस्था रही है जिसमे अपने अपने कौशल के आधार पर कार्यों का बटवारा था जिसे हम एक संरचनात्मक व्यवस्था या व्यवसाय आधारित व्यवस्था का नाम दे सकते है। इसमें आपके अपने व्यवसाय को बदलने का विकल्प था जैसा कि ऋग्वेद के दसवे मण्डल के पुरुष सूक्त में है कि मै कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य है, मेरी माता चक्की चलाती है अर्थात् भिन्न–भिन्न व्यवसायों से जीवकोपार्जन करते हुए हम एक साथ रहते है। इस विशेषता ने इस काल को एक आधुनिक समय का पर्याय बनाया।

उत्तर वैदिक काल और जाति का कठोर रूप :

सामाजिक परिवर्तन का ऐसा बदलाव हुआ कि उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था वर्ग या समूह आधारित से जन्म आधारित जाति व्यवस्था में बदल गई। व्यक्ति का व्यवसाय, विवाह, शिक्षा और सामाजिक अधिकार जाति से निर्धारित होने लगे। मनुस्मृति और अन्य ग्रंथों ने जाति को धार्मिक और नैतिक नियमों से बाँध दिया। शूद्रों को वेद अध्ययन, यज्ञ, और उच्च शिक्षा से वंचित किया गया। सामाजिक प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि शिक्षा विवाह खान–पान तक बाट दिए गए। उच्च जाति के लोगों के लिए सबकुछ अलग नियम वैश्य और शूद्रों के लिए अलग नियम हो गए। इसी काल से कर्मकांड विधि, टोना टोटका आदि का प्रभाव बड़ा जिसका असर आगे चलकर जाति के क्रम को और मजबूत बनाया जहा चांडाल, अछूत आदि जातियों का नाम उभरा इसका सर्वाधिक असर शूद्र जाति पर पड़ा जो वैदिक काल मे सेवा, सत्कार का भाव था वो समाज के क्रम मे सीमित अवसर के वजह से निश्चित सेवा और बिना अधिकार के व्यवसाय के रूप मे सामने आया। उत्तर वैदिक काल से राजा का समाज मे सम्मान एक व्यापक रूप लिया जिसमे विभिन्न शक्ति के साथ आर्थिक समृद्धि का माध्यम बना। वही ज्ञान, वेद, पूजा पाठ, दीक्षा, शिक्षा के रूप ब्राह्मण वर्ग का उत्थान हुया जो राजा के बाद क्रम मे दूसरे स्थान पर और कुछ जगहों मे यह राजा के बराबर था। इसी क्रम मे आगे वैश्य का स्थान था जिनके पास अब कृषि के साथ साथ व्यापार, राजस्व सहयोग आदि आर्थिक शक्ति के साथ उभरे और समाज के क्रम मे यह तीसरे स्थान पर रहे और अंतिम स्थान शूद्र और अन्य जातियाँ सम्मिलित थी।

मध्यकाल में जाति व्यवस्था में परिवर्तन :

मध्यकाल भारत में जाति व्यवस्था मंदिर, गिल्ड, और जातिगत समुदायों के रूप में विस्तृत हुई। व्यापार और शिल्प से जुड़े गिल्ड ने श्रम विभाजन का लाभ उठाया, वहीं युद्धकालीन तनावों में शासक– शिल्पी समूहों ने जातिगत प्रतिबंधों को भ्रष्टाचार और विद्रोह से बचाव का उपाय माना। मध्यकालीन भारत में जाति व्यवस्था

में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जो राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रभावों के कारण उत्पन्न हुए। मुस्लिम शासन के आगमन से जाति व्यवस्था को एक नया संदर्भ मिला। यद्यपि हिंदू समाज में जाति आधारित पदानुक्रम बना रहा, लेकिन प्रशासनिक ढांचे में कुछ जातियाँ जैसे कायस्थ और राजपूत उभरीं, जो फारसी जानने और प्रशासनिक दक्षता के कारण सत्ता में भागीदार बनीं। मुगल दरबार में कायस्थों, चारणों और अन्य जातियों को विशेष स्थान मिला, जिससे जातिगत गतिशीलता का आभास हुआ। साथ ही समाज मे विभिन्न जातियों का उदगम हुआ उनमें से एक जाति कायस्थ है जिसने जाति व्यवस्था में शक्ति विभान को एक नया आयाम दिया जो आगे चल कर राज व्यवस्था में मुख्य पद पर रहे इनकी भागीदारी सामाजिक नियंत्रण के साथ साथ सत्ता मे रहे उनमे एक है 'पाल' साम्राज्य के शासक थे जिसकी उत्पत्ति बंगाल में हुई थी वही आवध राज्य के नवाबों के अधीन राज्यपाल और मंत्री के पद पे रहे। भक्ति आंदोलन (कबीर, रैदास, मीराबाई) आदि आलोचना की और समता का संदेश दिया।सूफी परंपरा ने भी आध्यात्मिक लोकतंत्र को बढ़ावा दिया, जिससे जाति आधारित भेदभाव को चुनौती मिली। इन आंदोलनों ने निम्न जातियों को धार्मिक और सांस्कृतिक मंच प्रदान किया। इस काल में उपजातियाँ और व्यावसायिक जातियाँ जैसे छीपे, पटवा, सुनार, मोची, शिकलीगर आदि उभरकर सामने आईं।

औपनिवेशिक पुनर्निर्माण :

ब्रिटिश शासन ने जाति को दस्तावेजीकृत कर, जनगणना तथा राजस्व विवरणों में स्थायी श्रेणियाँ तय कीं। तकनीकी रूप से यह श्रम विभाजन को समझा गया, जबकि सामाजिक नियंत्रण के उपकरण पहचान पत्र, आरक्षण, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और पुख्ता हो गए। औपनिवेशिक काल में जाति व्यवस्था का पुनर्निर्माण एक गहरा और बहुआयामी परिवर्तन था, जिसने भारतीय समाज की पारंपरिक संरचना को न केवल प्रभावित किया बल्कि कई स्तरों पर पुनर्परिभाषित भी किया। जाति अब केवल सामाजिक नहीं, बल्कि राज्य–मान्य पहचान बन गई। अंग्रेजों ने शिक्षा को उच्च जातियों तक सीमित रखा, जिससे ब्राह्मणों और कायस्थों को सरकारी नौकरियों में बढ़त मिली। निम्न जातियाँ शिक्षा से वंचित रहीं, जिससे सामाजिक गतिशीलता बाधित हुई। इंडियन सिविल सर्विस और अन्य प्रशासनिक पदों पर उच्च जातियों का वर्चस्व रहा। जाति आधारित सामाजिक पूंजी ने अंग्रेजों को सहयोगी वर्ग प्रदान किया। औपनिवेशिक काल में आर्य समाज, ब्रह्म समाज, और सत्यशोधक समाज जैसे आंदोलनों ने जाति व्यवस्था को चुनौती दी। ज्योतिबा फुले और आंबेडकर जैसे नेताओं ने जाति के विरुद्ध सामाजिक चेतना जगाई। अंग्रेजों ने जाति आधारित भेदभाव को कानूनी रूप से समाप्त नहीं किया, बल्कि उसे अप्रत्यक्ष रूप से बनाए रखा। विवाह, उत्तराधिकार और धार्मिक मामलों में जाति आधारित नियमों को मान्यता दी गई। जनगणना में जातियों को पेशे, धर्म और सामाजिक स्थिति के आधार पर वर्गीकृत किया गया। इससे जाति व्यवस्था को एक स्थायी और कठोर रूप मिला, जो पहले अधिक लचीला था।

निष्कर्ष :

जाति व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास श्रम विभाजन के आर्थिक तर्क और सामाजिक नियंत्रण के अनुशासनात्मक यंत्र दोनों से प्रेरित रहा है। प्राचीन समय में वर्णों का आर्थिक विभाजन प्रमुख था, परंतु मध्ययुगीन और औपनिवेशिक काल ने सामाजिक नियंत्रण को अभिन्न बना दिया। आधुनिक भारत में इन्हीं विरासतों का मिश्रण दिखाई देता है। एक ओर आरक्षण द्वारा आर्थिक सशक्तिकरण, दूसरी ओर सामाजिक बाधाएँ जाति व्यवस्था का ऐतिहासिक विश्लेषण यह दर्शाता है कि प्रारंभिक वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था को श्रम आधारित सामाजिक

संगठन के रूप में प्रस्तुत किया गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकृइन चार वर्णों को उनके कर्मों के अनुसार कार्य सौंपे गए थे। यह व्यवस्था, सैद्धांतिक रूप से, दक्षता और सामाजिक समन्वय को बढ़ावा देने वाली थी। किन्तु उत्तर वैदिक काल से लेकर मध्यकालीन और औपनिवेशिक काल तक आते–आते यह श्रम विभाजन जन्म आधारित सामाजिक नियंत्रण में बदल गया। धर्मशास्त्रों, स्मृतियों और राज्य की नीतियों ने जाति को एक स्थायी पदानुक्रम बना दिया, जिसमें सामाजिक गतिशीलता बाधित हो गई और श्रम की गरिमा को वंशानुगत श्रेष्ठता से दबा दिया गया। श्रम विभाजन का उद्देश्य दक्षता, विशेषज्ञता और सामाजिक एकजुटता था। सामाजिक नियंत्रण का उद्देश्य सत्ता संरचना को बनाए रखना, उच्च जातियों को विशेषाधिकार देना और निम्न जातियों को सीमित करना था। भारतीय जाति व्यवस्था ने इन दोनों अवधारणाओं को मिलाकर एक ऐसा ढांचा बनाया जो शोषण और स्थायित्व को बढ़ावा देता है। आज के भारत में जाति व्यवस्था कानूनी रूप से भले ही समाप्त हो चुकी हो, लेकिन सामाजिक व्यवहार में इसके प्रभाव अब भी मौजूद हैं।

संदर्भ :

1. बी. आर. अंबेडकर, – जात–पांत का विनाश (मुंबई – नवलकिशोर प्रेस, 1936).
2. राम आहूजा – भारतीय समाजशास्त्र (रावत पब्लिकैशन जयपुर)
3. आर. एस. शर्मा – भारतीय सामंतवाद (न्यू दिल्ली – मैकमिलन 1990).
4. गेल ऑम्वेड्ट – Dalits and the Democratic Revolution (सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1994)
5. उपेंद्र चक्रवर्ती – जाति और सामाजिक संरचना (2015, समाज विज्ञान प्रकाशन, कोलकाता)
6. एम. एन. श्रीनिवास – Social Change in Modern India (ओरिएंट लॉन्गमैन, 1966)
7. ए. आर. देसाई – Social Background of Indian Nationalist (पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई, 1948)
8. डी. एन. मजूमदार – Indian Social Anthropology (National Book Trust, India, 1982)

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 22-30

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

युवतियों में बढ़ते अनैतिक व्यवहार का उनके स्वास्थ्य एवं सामाजिक दृष्टिकोण पर पड़ने वाले प्रभाव : वाराणसी के संदर्भ में

प्रोफेसर चन्द्रशेखर सिंह

समाज कार्य विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

सारांश (Abstract)

वर्तमान भारतीय समाज तीव्र सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। इन परिवर्तनों का सर्वाधिक प्रभाव युवा वर्ग, विशेषकर युवतियों पर दृष्टिगोचर होता है। आधुनिकता, वैश्वीकरण, नगरीकरण, शिक्षा, मीडिया एवं तकनीकी विकास ने युवतियों के जीवन–शैली, सोच एवं व्यवहार में व्यापक परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। कई बार ये परिवर्तन पारंपरिक सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों से टकराते हुए समाज द्वारा "अनैतिक व्यवहार" के रूप में देखे जाते हैं। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य वाराणसी जैसे सांस्कृतिक एवं धार्मिक नगर के संदर्भ में युवतियों में बढ़ते अनैतिक व्यवहार का उनके शारीरिक–मानसिक स्वास्थ्य तथा सामाजिक दृष्टिकोण पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण करना है। यह अध्ययन द्वितीयक स्रोतों पर आधारित वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तथाकथित अनैतिक व्यवहार केवल नैतिक पतन का परिणाम नहीं है, बल्कि इसके पीछे सामाजिक संरचना में परिवर्तन, पारिवारिक विघटन, मीडिया प्रभाव, मानसिक तनाव एवं पहचान संकट जैसे अनेक कारक कार्यरत हैं। यह शोध युवतियों की समस्याओं को समझने तथा समाधान हेतु नीतिगत एवं सामाजिक हस्तक्षेप की आवश्यकता को रेखांकित करता है।

मुख्य शब्द (Key Words) : युवतियाँ, अनैतिक व्यवहार, स्वास्थ्य, सामाजिक दृष्टिकोण, वाराणसी, सामाजिक परिवर्तन।

भूमिका (Introduction) :

भारतीय समाज की पहचान सदैव उसकी सांस्कृतिक परंपराओं, नैतिक मूल्यों और सामाजिक अनुशासन से रही है। यहाँ नारी को शक्ति, त्याग और संस्कारों की प्रतीक के रूप में देखा गया है। विशेष रूप से युवतियों से अपेक्षा की जाती रही है कि वे पारिवारिक मर्यादाओं, सामाजिक मूल्यों एवं नैतिक आचरण का पालन करें। किंतु वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन की तीव्र गति ने इन पारंपरिक अपेक्षाओं को चुनौती दी है।

वाराणसी, जिसे काशी या बनारस कहा जाता है, भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक चेतना का प्रमुख केंद्र

है। यह नगर परंपरा और आधुनिकता के संगम का जीवंत उदाहरण है। एक ओर यहाँ धार्मिक अनुष्ठान, तीर्थाटन और सांस्कृतिक अनुशासन दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक शिक्षा, पर्यटन, मीडिया और शहरीकरण का तीव्र प्रभाव भी स्पष्ट है। ऐसे परिवेश में युवतियों के जीवन–मूल्य, सोच और व्यवहार में परिवर्तन स्वाभाविक है। आज की युवतियाँ शिक्षा, रोजगार और आत्मनिर्भरता की दिशा में आगे बढ़ रही हैं, जो एक सकारात्मक सामाजिक परिवर्तन है। किंतु इसके साथ–साथ कुछ ऐसे व्यवहार भी सामने आए हैं जिन्हें समाज अनैतिक मानता है, जैसे– असंयमित जीवन–शैली, नशीले पदार्थों का सेवन, पारंपरिक मर्यादाओं की उपेक्षा, असुरक्षित यौन व्यवहार, सामाजिक उत्तरदायित्वों से दूरी आदि। यह स्थिति युवतियों के स्वास्थ्य एवं समाज के दृष्टिकोण दोनों को प्रभावित कर रही है।

भारतीय समाज विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है, जिसकी पहचान उसकी सांस्कृतिक विरासत, नैतिक मूल्यों, सामाजिक परंपराओं तथा पारिवारिक संरचना से रही है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में नैतिकता केवल व्यक्तिगत आचरण तक सीमित नहीं रही, बल्कि यह परिवार, समाज और संस्कृति के सामूहिक अस्तित्व का आधार रही है। इस व्यवस्था में नारी की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण मानी गई है। युवतियों को सदैव संस्कारों की वाहक, सामाजिक मर्यादाओं की संरक्षिका तथा पारिवारिक प्रतिष्ठा का प्रतीक माना गया है। किंतु वर्तमान समय में तीव्र सामाजिक परिवर्तन ने इस पारंपरिक दृष्टिकोण को गहन चुनौती दी है।

इक्कीसवीं सदी का भारतीय समाज वैश्वीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण, तकनीकी क्रांति और उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव में तेजी से परिवर्तित हो रहा है। इन परिवर्तनों का सर्वाधिक प्रभाव युवा वर्ग पर पड़ा है, विशेष रूप से युवतियों पर, जो शिक्षा, रोजगार और सामाजिक सहभागिता के नए अवसरों के साथ–साथ नए सामाजिक दबावों और द्वंद्वों का सामना कर रही हैं। आधुनिकता ने जहाँ एक ओर युवतियों को आत्मनिर्भरता, समानता और स्वतंत्रता प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर उनके व्यवहार, जीवन–शैली और सामाजिक दृष्टिकोण में ऐसे परिवर्तन भी उत्पन्न किए हैं जिन्हें पारंपरिक समाज "अनैतिक व्यवहार" की संज्ञा देता है।

अनैतिक व्यवहार : सामाजिक अवधारणा :

"अनैतिक व्यवहार" कोई स्थिर या सार्वभौमिक अवधारणा नहीं है, बल्कि यह समाज, संस्कृति और समय के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। जो व्यवहार किसी समाज में अनैतिक माना जाता है, वही व्यवहार किसी अन्य समाज या समय में सामान्य अथवा स्वीकार्य हो सकता है। भारतीय सामाजिक संदर्भ में अनैतिक व्यवहार से आशय ऐसे आचरण से लिया जाता है जो सामाजिक मानदंडों, पारिवारिक मूल्यों, सांस्कृतिक परंपराओं और नैतिक अपेक्षाओं के विपरीत हो।

युवतियों के संदर्भ में यह अवधारणा और अधिक संवेदनशील हो जाती है, क्योंकि समाज स्त्री के आचरण को केवल व्यक्तिगत विषय न मानकर उसे पारिवारिक सम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़ देता है। युवतियों की स्वतंत्र जीवन–शैली, व्यक्तिगत निर्णय, मित्रता, पहनावा, व्यवहार और विचारों को कई बार नैतिकता के कठोर मानकों पर परखा जाता है। इस कारण युवतियों का व्यवहार सामाजिक आलोचना का विषय बन जाता है, भले ही वह व्यवहार उनके स्वास्थ्य, आत्मसम्मान या व्यक्तिगत विकास से जुड़ा हो।

अनैतिक व्यवहार एक सापेक्ष अवधारणा है, जिसकी परिभाषा समाज, संस्कृति और समय के अनुसार बदलती रहती है। भारतीय सामाजिक संदर्भ में अनैतिक व्यवहार से आशय ऐसे आचरण से है जो सामाजिक

मानदंडों, सांस्कृतिक परंपराओं और नैतिक मूल्यों के विरुद्ध हो। युवतियों के संदर्भ में यह अवधारणा अधिक संवेदनशील हो जाती है, क्योंकि समाज स्त्री के आचरण को पारिवारिक और सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़कर देखता है।

यह उल्लेखनीय है कि कई बार समाज द्वारा अनैतिक कहे जाने वाले व्यवहार वास्तव में आधुनिक जीवन–शैली, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आत्म–अभिव्यक्ति के परिणाम होते हैं। इसलिए इस विषय को केवल नैतिकता के चश्मे से नहीं, बल्कि सामाजिक–स्वास्थ्य एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझना आवश्यक है।

सामाजिक परिवर्तन और युवतियाँ :

वर्तमान समय सामाजिक संक्रमण (Social Transition) का काल है। संयुक्त परिवारों का विघटन, एकल परिवारों की वृद्धि, माता–पिता का कार्य–व्यस्त जीवन, शिक्षा एवं रोजगार के लिए घर से बाहर जाना– इन सभी कारकों ने युवतियों के सामाजिकरण की प्रक्रिया को गहराई से प्रभावित किया है। पारंपरिक सामाजिक नियंत्रण कमजोर हुआ है और युवतियाँ अपने निर्णय स्वयं लेने लगी हैं। साथ ही, इंटरनेट, सोशल मीडिया, फिल्मों, वेब–सीरीज और विज्ञापनों ने युवतियों के जीवन–दृष्टिकोण को वैश्विक स्तर से जोड़ दिया है। यह माध्यम उन्हें नए विचारों, जीवन–शैलियों और स्वतंत्रता की अवधारणाओं से परिचित कराते हैं। किंतु जब ये आधुनिक मूल्य पारंपरिक सामाजिक संरचना से टकराते हैं, तो युवतियों का व्यवहार "अनैतिक" के रूप में चिन्हित किया जाने लगता है। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में पारंपरिक नियंत्रण तंत्र कमजोर होता है और नई सामाजिक संरचनाएँ उभरती हैं। संयुक्त परिवारों का विघटन, एकल परिवारों की वृद्धि, माता–पिता का कार्य–केंद्रित जीवन, शिक्षा एवं रोजगार हेतु स्थानांतरण– इन सभी कारकों ने युवतियों के सामाजिकरण (Socialization) की प्रक्रिया को मूलतः परिवर्तित कर दिया है। परिणामस्वरूप युवतियाँ पारंपरिक भूमिकाओं से बाहर निकलकर नई पहचान गढ़ने का प्रयास कर रही हैं। साथ ही, डिजिटल मीडिया, सोशल नेटवर्किंग साइट्स, वैश्विक संस्कृति और उपभोक्तावादी मूल्यों ने युवतियों की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को पुनर्परिभाषित किया है। यह परिवर्तन उन्हें आत्मनिर्भर और मुखर बनाता है, किंतु इसके साथ ही पारंपरिक समाज के साथ टकराव की स्थिति भी उत्पन्न करता है। यही टकराव युवतियों के व्यवहार को सामाजिक रूप से "अनैतिक" घोषित किए जाने की पृष्ठभूमि तैयार करता है।

वाराणसी : परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व :

वाराणसी, जिसे काशी या बनारस कहा जाता है, भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन का एक प्रमुख केंद्र रहा है। यह नगर मोक्ष, साधना, ज्ञान और नैतिक अनुशासन की भूमि माना जाता है। यहाँ की सामाजिक संरचना पर धार्मिक आस्थाओं, परंपराओं और सांस्कृतिक मूल्यों का गहरा प्रभाव रहा है। स्त्रियों की भूमिका को लंबे समय तक पारंपरिक मर्यादाओं के भीतर परिभाषित किया गया।

किन्तु पिछले कुछ दशकों में वाराणसी में तीव्र परिवर्तन देखने को मिले हैं। उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थापना, पर्यटन का विस्तार, सेवा एवं व्यापार क्षेत्रों का विकास, ग्रामीण–शहरी आव्रजन और बाहरी संस्कृतियों का प्रवेश– इन सभी ने इस नगर की सामाजिक संरचना को बदल दिया है। आज वाराणसी में बड़ी संख्या में युवतियाँ शिक्षा, रोजगार और आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर हैं। यह परिवर्तन सकारात्मक है, परंतु इसके साथ–साथ सामाजिक टकराव भी उत्पन्न हुआ है।

वाराणसी जैसे पारंपरिक शहर में जब युवतियाँ आधुनिक जीवन–शैली अपनाती हैं, तो समाज का एक वर्ग इसे नैतिक पतन के रूप में देखता है। यही कारण है कि यहाँ युवतियों में बढ़ते तथाकथित अनैतिक व्यवहार और समाज की प्रतिक्रिया के बीच तनाव अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

वाराणसी भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्राचीनतम केंद्र माना जाता है। यह नगर न केवल धार्मिक आस्था का प्रतीक है, बल्कि यहाँ की सामाजिक संरचना नैतिक अनुशासन, सांस्कृतिक परंपरा और आध्यात्मिक चेतना पर आधारित रही है। वाराणसी में स्त्री की सामाजिक भूमिका ऐतिहासिक रूप से परंपरागत मर्यादाओं के भीतर परिभाषित की गई है।

किन्तु हाल के दशकों में वाराणसी में तीव्र सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन हुए हैं। उच्च शिक्षा संस्थानों का विस्तार, पर्यटन उद्योग की वृद्धि, सेवा एवं व्यापार क्षेत्रों का विकास, तथा बाहरी जनसंख्या के आगमन ने इस नगर को परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व का केंद्र बना दिया है। इस परिवेश में युवतियाँ एक ओर आधुनिक जीवन–शैली, स्वतंत्रता और अवसरों को अपनाती हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक–नैतिक अपेक्षाओं के दबाव का सामना करती हैं।

स्वास्थ्य पर प्रभाव का संदर्भ :

युवतियों के व्यवहार में आए परिवर्तनों का प्रभाव केवल सामाजिक स्तर तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को भी प्रभावित करता है। असंतुलित जीवन–शैली, मानसिक दबाव, सामाजिक आलोचना, पहचान संकट और आत्मसंघर्ष युवतियों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। तनाव, अवसाद, चिंता, नींद की समस्या, पोषण संबंधी विकार और प्रजनन स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याएँ आम होती जा रही हैं।

वाराणसी में पारंपरिक अपेक्षाओं और आधुनिक जीवन–शैली के बीच फँसी युवतियाँ अक्सर मानसिक द्वंद्व का अनुभव करती हैं। एक ओर वे स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता चाहती हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक स्वीकृति और पारिवारिक अपेक्षाओं का दबाव झेलती हैं। यह द्वंद्व उनके मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है, जिसका प्रभाव उनके व्यवहार और सामाजिक संबंधों पर पड़ता है। युवतियों में तथाकथित अनैतिक व्यवहार का प्रभाव केवल सामाजिक स्तर तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उनके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर भी गहरा प्रभाव डालता है। आधुनिक जीवन–शैली, अनियमित दिनचर्या, मानसिक तनाव, सामाजिक आलोचना, आत्म–संघर्ष और पहचान संकट युवतियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। अवसाद, चिंता, आत्म–ग्लानि, नींद संबंधी समस्याएँ और प्रजनन स्वास्थ्य से जुड़ी जटिलताएँ इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं।

वाराणसी जैसे सांस्कृतिक नगर में यह प्रभाव और अधिक जटिल हो जाता है, क्योंकि यहाँ युवतियाँ आधुनिक आकांक्षाओं और पारंपरिक नैतिक दबावों के बीच फँसी होती हैं। यह द्वंद्व उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, जो अंततः उनके व्यवहार और सामाजिक सहभागिता को प्रभावित करता है।

सामाजिक दृष्टिकोण और प्रतिक्रिया :

वाराणसी जैसे सांस्कृतिक समाज में युवतियों के व्यवहार को सामाजिक निगरानी के दायरे में रखा जाता है। समाज का दृष्टिकोण अक्सर नैतिकता–केंद्रित और आलोचनात्मक होता है। युवतियों के तथाकथित अनैतिक व्यवहार को चरित्र से जोड़कर देखा जाता है, जिससे वे सामाजिक भेदभाव, संदेह और आलोचना का शिकार

होती हैं।

इस प्रकार की सामाजिक प्रतिक्रिया युवतियों को और अधिक अलग–थलग कर देती है। वे समाज से दूरी बनाने लगती हैं, आत्मरक्षा की स्थिति में चली जाती हैं और कई बार विद्रोही दृष्टिकोण अपनाती हैं। यह स्थिति न केवल युवतियों के लिए, बल्कि समाज के समग्र स्वास्थ्य और सामाजिक समरसता के लिए भी हानिकारक सिद्ध होती है।

समाज की प्रतिक्रिया युवतियों के व्यवहार को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वाराणसी जैसे परंपरागत समाज में युवतियों के आचरण को सामाजिक प्रतिष्ठा और नैतिकता से जोड़कर देखा जाता है। परिणामस्वरूप युवतियाँ सामाजिक निगरानी, आलोचना और कभी–कभी बहिष्कार का सामना करती हैं। यह स्थिति उन्हें समाज से विमुख कर सकती है और विद्रोही या आत्मरक्षात्मक व्यवहार को जन्म दे सकती है।

अध्ययन की आवश्यकता :

वाराणसी के संदर्भ में युवतियों में बढ़ते अनैतिक व्यवहार पर आधारित अध्ययन इसलिए आवश्यक है क्योंकि –

1. यह नगर परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व का प्रतीक है।
2. युवतियों के व्यवहार पर सामाजिक प्रतिक्रिया अधिक तीव्र है।
3. स्वास्थ्य और सामाजिक दृष्टिकोण पर इसके प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।
4. इस विषय पर स्थानीय एवं समग्र अध्ययन सीमित हैं।

यह अध्ययन युवतियों के व्यवहार को केवल नैतिक पतन के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के परिणाम के रूप में समझने का प्रयास करता है।

समाज एक सतत परिवर्तनशील इकाई है, जिसकी संरचना, मूल्य प्रणाली और व्यवहारिक मानदंड समय, परिस्थितियों तथा ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के अनुसार निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं। भारतीय समाज, जो प्राचीन काल से नैतिकता, संस्कृति और परंपरा–आधारित जीवन पद्धति के लिए जाना जाता रहा है, वर्तमान में तीव्र सामाजिक संक्रमण (Social Transition) के दौर से गुजर रहा है। वैश्वीकरण, उदारीकरण, नगरीकरण, तकनीकी विकास तथा उपभोक्तावादी संस्कृति ने भारतीय समाज की पारंपरिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया है। इन परिवर्तनों का सर्वाधिक प्रभाव युवा वर्ग पर परिलक्षित होता है, विशेष रूप से युवतियों पर, जिनकी सामाजिक स्थिति, भूमिका और पहचान में उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में नारी की स्थिति ऐतिहासिक रूप से नैतिक मूल्यों, पारिवारिक मर्यादाओं और सांस्कृतिक अपेक्षाओं से घनिष्ठ रूप से जुड़ी रही है। युवतियों को न केवल परिवार की प्रतिष्ठा का प्रतीक माना गया है, बल्कि उन्हें सामाजिक नैतिकता की संरक्षिका के रूप में भी देखा गया है। इस संदर्भ में युवतियों के व्यवहार को समाज द्वारा कठोर नैतिक मानकों के अंतर्गत मूल्यांकित किया जाता रहा है। किंतु समकालीन सामाजिक परिदृश्य में जब युवतियाँ शिक्षा, रोजगार, आर्थिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत निर्णय–निर्माण के क्षेत्र में सक्रिय भागीदारी कर रही हैं, तब उनके व्यवहार और जीवन–शैली में आए परिवर्तन सामाजिक बहस और विवाद का विषय बन गए हैं।

अनैतिक व्यवहार : सैद्धांतिक विवेचन :

"अनैतिक व्यवहार" (Immoral Behaviour) एक जटिल, बहु–आयामी और समाज–सापेक्ष अवधारणा है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से नैतिकता को सामाजिक मानदंडों, मूल्यों और सामूहिक स्वीकृति की प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है। अतः जो व्यवहार किसी समाज में अनैतिक माना जाता है, वही व्यवहार किसी अन्य सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ में स्वीकृत हो सकता है। इस प्रकार अनैतिकता को एक सामाजिक निर्माण (Social Construct) के रूप में देखा जाना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

युवतियों के संदर्भ में अनैतिक व्यवहार की अवधारणा और भी अधिक संवेदनशील हो जाती है, क्योंकि यहाँ नैतिकता का मूल्यांकन लैंगिक असमानता और पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित होता है। युवतियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता, मित्रता, पहनावा, कार्य–स्थल सहभागिता, भावनात्मक एवं यौन निर्णयों को समाज प्रायः नैतिकता के कठोर ढाँचे में परखता है। परिणामस्वरूप कई ऐसे व्यवहार, जो आधुनिक समाज में सामान्य माने जा सकते हैं, पारंपरिक सामाजिक संदर्भ में "अनैतिक" घोषित कर दिए जाते हैं।

शोध के उद्देश्य (Objectives)

1. वाराणसी में युवतियों में बढ़ते अनैतिक व्यवहार के स्वरूप को समझना।
2. इन व्यवहारों का युवतियों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन करना।
3. समाज के दृष्टिकोण एवं प्रतिक्रिया का विश्लेषण करना।
4. सामाजिक एवं नीतिगत समाधान हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

शोध पद्धति (Research Methodology)

प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रकृति का है।

यह शोध मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों– पुस्तकों, शोध–पत्रों, सरकारी रिपोर्टों, जनगणना आंकड़ों और स्वास्थ्य सर्वेक्षणों पर आधारित है।

आंकड़ों का विश्लेषण गुणात्मक पद्धति द्वारा किया गया है।

स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव

शारीरिक स्वास्थ्य :

युवतियों में असंतुलित जीवन–शैली, अनियमित खान–पान, तनाव और नशीले पदार्थों का सेवन शारीरिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। एनीमिया, थकान, हार्मोनल समस्याएँ और प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी जोखिम इसके प्रमुख परिणाम हैं।

मानसिक स्वास्थ्य :

मानसिक स्तर पर युवतियाँ तनाव, चिंता, अवसाद और पहचान संकट से जूझती हैं। पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक अपेक्षाओं के बीच फँसकर वे आत्म–संघर्ष का अनुभव करती हैं। सामाजिक आलोचना और नैतिक दबाव उनके मानसिक स्वास्थ्य को और अधिक प्रभावित करता है।

सामाजिक दृष्टिकोण पर प्रभाव :

वाराणसी जैसे पारंपरिक समाज में युवतियों के व्यवहार को सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़ा जाता है। जब उनका व्यवहार सामाजिक मानदंडों से भिन्न होता है, तो उन्हें आलोचना, संदेह और भेदभाव का सामना करना

पड़ता है। इससे समाज और युवतियों के बीच दूरी बढ़ती है और सामाजिक समरसता प्रभावित होती है।

विश्लेषण एवं चर्चा :

अध्ययन से स्पष्ट है कि युवतियों में तथाकथित अनैतिक व्यवहार केवल व्यक्तिगत नैतिक विफलता नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संरचना में आए व्यापक परिवर्तनों का परिणाम है। परिवार, शिक्षा, मीडिया और समाज की भूमिका इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि समाज केवल दंडात्मक दृष्टिकोण अपनाता है, तो समस्या और गहराती है।

निष्कर्ष (Conclusion)

वाराणसी के संदर्भ में युवतियों में बढ़ते अनैतिक व्यवहार का प्रभाव उनके स्वास्थ्य और सामाजिक दृष्टिकोण दोनों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह अध्ययन निष्कर्ष निकालता है कि –

समस्या नैतिक पतन से अधिक सामाजिक परिवर्तन की है। युवतियों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। समाज को आलोचनात्मक के बजाय सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। प्रस्तुत शोध–अध्ययन के माध्यम से यह स्पष्ट रूप से स्थापित होता है कि युवतियों में बढ़ते तथाकथित "अनैतिक व्यवहार" को केवल व्यक्तिगत नैतिक विफलता या चरित्रगत विचलन के रूप में देखना न केवल एकांगी है, बल्कि यह सामाजिक यथार्थ को समझने में भी बाधक है। वाराणसी जैसे सांस्कृतिक, धार्मिक एवं पारंपरिक नगर के संदर्भ में यह समस्या और अधिक जटिल रूप में उभरकर सामने आती है, जहाँ परंपरा और आधुनिकता के बीच गहन द्वंद्व विद्यमान है। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि युवतियों के व्यवहार में आए परिवर्तन मूलतः सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक संक्रमण, पारिवारिक विघटन, शिक्षा एवं रोजगार की बदलती परिस्थितियों, तथा मीडिया–प्रेरित जीवन–शैली के परिणाम हैं। अनैतिकता की अवधारणा यहाँ एक सामाजिक निर्माण (Social Construct) के रूप में सामने आती है, जो पितृसत्तात्मक मूल्यों, लैंगिक असमानताओं और सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रियाओं से गहराई से जुड़ी हुई है। वाराणसी जैसे समाज में युवतियों के आचरण को परिवार और समाज की प्रतिष्ठा से जोड़कर देखा जाना, उनके व्यवहार पर अत्यधिक नैतिक दबाव उत्पन्न करता है। स्वास्थ्य के संदर्भ में अध्ययन यह दर्शाता है कि युवतियों में बढ़ते सामाजिक दबाव, आलोचना, पहचान संकट और आत्म–संघर्ष का सीधा प्रभाव उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ता है। तनाव, चिंता, अवसाद, आत्म–ग्लानि और सामाजिक असुरक्षा की भावना युवतियों के मानसिक संतुलन को प्रभावित करती है, जिसका परोक्ष प्रभाव उनके शारीरिक स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। इस प्रकार, तथाकथित अनैतिक व्यवहार और स्वास्थ्य के बीच संबंध एकरेखीय न होकर बहुआयामी और पारस्परिक है। सामाजिक दृष्टिकोण के स्तर पर यह अध्ययन यह उजागर करता है कि वाराणसी जैसे पारंपरिक समाज में युवतियों के व्यवहार के प्रति समाज का दृष्टिकोण प्रायः नैतिकतावादी और दंडात्मक रहता है। सामाजिक आलोचना, निगरानी और बहिष्कार की प्रवृत्तियाँ युवतियों को और अधिक हाशिए पर धकेलती हैं। परिणामस्वरूप वे सामाजिक सहभागिता से दूरी बनाने लगती हैं, जिससे समाज और युवतियों के बीच संवाद की संभावना क्षीण हो जाती है। यह स्थिति सामाजिक समरसता और सामाजिक स्वास्थ्य दोनों के लिए चुनौतीपूर्ण सिद्ध होती है। अध्ययन का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी है कि युवतियों में दिखाई देने वाला तथाकथित अनैतिक व्यवहार कई बार स्वतंत्रता, आत्म–अभिव्यक्ति और आत्म–पहचान की खोज का परिणाम होता है, जिसे समाज नैतिक विचलन के रूप में परिभाषित कर देता है। इस दृष्टि से

समस्या युवतियों के व्यवहार से अधिक समाज की उस मानसिकता से जुड़ी है, जो सामाजिक परिवर्तन को सहज रूप से स्वीकार करने में असमर्थ है।

अतः यह शोध निष्कर्षतः इस बात को रेखांकित करता है कि युवतियों में बढ़ते अनैतिक व्यवहार को समझने के लिए नैतिक निर्णयों से ऊपर उठकर सामाजिक–संरचनात्मक, सांस्कृतिक और स्वास्थ्य–आधारित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। वाराणसी के संदर्भ में यह अध्ययन संकेत देता है कि यदि समाज सहानुभूतिपूर्ण, संवादपरक और समावेशी दृष्टिकोण अपनाता है, तो न केवल युवतियों के स्वास्थ्य और सामाजिक स्थिति में सुधार संभव है, बल्कि सामाजिक संतुलन और सांस्कृतिक निरंतरता भी बनाए रखी जा सकती है। इस प्रकार, प्रस्तुत शोध यह निष्कर्ष प्रदान करता है कि युवतियों का व्यवहार सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है, न कि केवल नैतिक पतन का संकेत। इसे समझना और सकारात्मक दिशा देना ही समकालीन समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

सुझाव (Suggestions)

1. युवतियों के लिए स्वास्थ्य एवं परामर्श सेवाओं का विस्तार।
2. परिवार और शिक्षण संस्थानों में नैतिक एवं जीवन–कौशल शिक्षा।
3. मीडिया साक्षरता कार्यक्रमों को बढ़ावा।
4. सामाजिक संवाद और सकारात्मक सहभागिता को प्रोत्साहन।

References (APA Style) :

1. Becker, H. S. (1963). Outsiders: Studies in the sociology of deviance. New York, NY: Free Press.
2. Chaudhary, R. (2018). Changing values and moral crisis among Indian youth. Indian Journal of Social Research, 59(2), 233–247.
3. Desai, M., & Krishnaraj, M. (2004). Women and society in India. New Delhi, India: Ajanta Publications.
4. Giddens, A. (1991). Modernity and self-identity: Self and society in the late modern age. Cambridge, UK: Polity Press.
5. Government of India. (2011). Census of India 2011: Uttar Pradesh series. New Delhi, India: Office of the Registrar General of India.
6. Kumar, V. (2016). Youth, morality and social change in urban India. Social Change, 46(3), 421–437.
7. https://doi.org/10.1177/0049085716651586
8. Mead, M. (1928). Coming of age in Samoa. New York, NY: William Morrow.
9. National Mental Health Survey of India. (2016). Prevalence, patterns and outcomes. Bengaluru, India: NIMHANS.
10. Patel, V., Saxena, S., Lund, C., Thornicroft, G., Baingana, F., Bolton, P., … Unxtzer, J. (2018). The Lancet Commission on global mental health and sustainable development. The Lancet, 392(10157), 1553–1598.

11. https://doi.org/10.1016/S0140-6736(18)31612-X
12. Sharma, K. L. (2014). Indian society: Institutions and change (2nd ed.). New Delhi, India: Rawat Publications.
13. Singh, A. K. (2019). Cultural transition and youth behaviour in North India. Journal of Social Sciences, 48(1), 67–82.
14. Srinivas, M. N. (1962). Caste in modern India and other essays. Bombay, India: Asia Publishing House.
15. UNICEF India. (2019). Adolescents in India: A desk review of existing evidence and behaviours. New Delhi, India: UNICEF.
16. Upadhyay, R., & Pandey, S. (2020). Gender norms, sexuality and mental health among young women in Uttar Pradesh. Indian Journal of Gender Studies, 27(3), 389–408.
17. https://doi.org/10.1177/0971521520931294
18. WHO. (2014). Health for the world's adolescents: A second chance in the second decade. Geneva, Switzerland: World Health Organization.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 31-36

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

इतिहास में मिथक, लोककथा और जनस्मृति का महत्व

डॉ० शिवानन्द कुमार

एल० ई० बी० बी० उच्च विद्यालय, राँची (TGT)

शोध सार –

प्रस्तुत शोध लेख "इतिहास में मिथक, लोककथा और जनस्मृति का महत्व" इतिहास लेखन की परंपरागत दृष्टि का पुनर्मूल्यांकन करता है और यह प्रतिपादित करता है कि इतिहास केवल लिखित अभिलेखों, राजकीय दस्तावेजों और सत्ता–केंद्रित घटनाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि वह समाज की सामूहिक चेतना, सांस्कृतिक अनुभव और स्मृति का समन्वित स्वरूप है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि मिथक, लोककथा और जनस्मृति किसी भी समाज की ऐतिहासिक समझ के मूल स्रोत रहे हैं, विशेषतः उन समुदायों के लिए जिनके पास लिखित इतिहास की परंपरा नहीं थी। शोध में मिथकों को कल्पना मात्र न मानकर उन्हें सामाजिक यथार्थ के प्रतीकात्मक रूप के रूप में विश्लेषित किया गया है। यह दर्शाया गया है कि मिथकों के माध्यम से समाज अपने अतीत, नैतिक मूल्यों, सामाजिक संरचना और ऐतिहासिक संघर्षों को संरक्षित करता रहा है। इसी प्रकार लोककथाएँ जनसामान्य के जीवन, श्रम, पीड़ा, प्रतिरोध और सामाजिक न्याय की आकांक्षा को अभिव्यक्त करती हैं, जो परंपरागत इतिहास लेखन में प्रायः अनुपस्थित रहा है। अध्ययन का एक महत्वपूर्ण पक्ष जनस्मृति की भूमिका का विश्लेषण है, जो इतिहास को जीवंत बनाए रखती है। जनस्मृति गीतों, कथाओं, पर्वों और परंपराओं के माध्यम से ऐतिहासिक अनुभवों को पीढ़ी–दर–पीढ़ी संचारित करती है। आदिवासी समाज, स्त्रियाँ और हाशिए के समुदायों का इतिहास मुख्यतः इसी स्मृति पर आधारित रहा है। औपनिवेशिक इतिहास लेखन द्वारा इन परंपराओं को हाशिए पर डालने की प्रवृत्ति को भी इस शोध में आलोचनात्मक दृष्टि से देखा गया है। अंततः यह शोध प्रस्तुत करता है कि मिथक, लोककथा और जनस्मृति इतिहास के विरोधी नहीं, बल्कि उसके अनिवार्य और पूरक स्रोत हैं। इनके समावेश से इतिहास अधिक लोकतांत्रिक, समावेशी और मानवीय बनता है। यह अध्ययन इतिहास को बहुवचन दृष्टि से समझने की आवश्यकता पर बल देता है तथा यह स्थापित करता है कि किसी समाज के संपूर्ण इतिहास की रचना उसके लिखित और मौखिक – दोनों प्रकार के स्रोतों के समन्वय से ही संभव है।

बीज शब्द – मिथक, लोककथा, जनस्मृति, इतिहासलेखन, मौखिक परंपरा, सांस्कृतिक स्मृति, लोकसाहित्य, सामाजिक चेतना, लोकनायक, आदिवासी इतिहास, स्त्री इतिहास, सबाल्टर्न अध्ययन।

इतिहास केवल तिथियों, राजवंशों, युद्धों और शासकों की उपलब्धियों का क्रमबद्ध विवरण नहीं है, बल्कि वह मनुष्य की सामूहिक चेतना, अनुभवों और स्मृतियों का जीवंत दस्तावेज भी है। आधुनिक इतिहास लेखन लंबे

समय तक अभिलेखों, शिलालेखों, राजकीय दस्तावेजों और लिखित प्रमाणों तक सीमित रहा, जिसके कारण जनसाधारण का जीवन, उसकी अनुभूतियाँ, पीड़ाएँ, संघर्ष और सांस्कृतिक चेतना इतिहास के मुख्य प्रवाह से प्रायः बाहर रह गई। इसी रिक्तता को भरने का कार्य मिथक, लोककथा और जनस्मृति करती हैं। ये तीनों तत्व इतिहास को केवल सत्ता–केंद्रित न रखकर समाज–केंद्रित बनाते हैं। मिथक, लोककथा और जनस्मृति किसी समाज की सामूहिक आत्मा की अभिव्यक्ति हैं। इनमें इतिहास का वह पक्ष सुरक्षित रहता है जो राजकीय दस्तावेजों में कभी दर्ज नहीं हो पाया। इसलिए आज इतिहास को केवल तथ्यात्मक अनुशासन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक स्मृति का अध्ययन भी माना जाता है।

मिथक : कल्पना नहीं, सांस्कृतिक सत्य–सामान्यतः मिथक को असत्य या कल्पना का पर्याय मान लिया जाता है, किंतु इतिहास और मानवशास्त्र में मिथक का अर्थ इससे कहीं व्यापक है। मिथक किसी समाज की विश्वदृष्टि, मूल्यों, विश्वासों और ऐतिहासिक चेतना को अभिव्यक्त करते हैं। वे मनुष्य की प्रारंभिक ऐतिहासिक समझ का माध्यम रहे हैं। प्राचीन समाजों में जब लिखित भाषा का विकास नहीं हुआ था, तब मिथक ही इतिहास को संरक्षित करने का प्रमुख साधन थे। देवी–देवताओं, नायकों, दानवों और अलौकिक घटनाओं के माध्यम से समाज अपने अतीत को पीढ़ी–दर–पीढ़ी आगे बढ़ाता रहा। उदाहरण स्वरूप – रामायण और महाभारत केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं, बल्कि तत्कालीन सामाजिक संरचना, राजनीतिक संघर्ष, सांस्कृतिक मूल्यों और जीवन–व्यवस्था के ऐतिहासिक साक्ष्य भी हैं। मिथक किसी ऐतिहासिक घटना का प्रतीकात्मक रूप होते हैं।

लोककथा : जनता का इतिहास–जहाँ मिथक सभ्यता के आदिकालीन अनुभवों को सुरक्षित रखते हैं, वहीं लोककथाएँ जनसामान्य के जीवन–संघर्ष का इतिहास हैं। लोककथाएँ किसी एक लेखक की रचना नहीं होतीं, बल्कि सामूहिक सामाजिक अनुभव से जन्म लेती हैं। लोककथाओं में राजा नहीं, बल्कि किसान, चरवाहा, स्त्री, मजदूर, शिकारी और वनवासी नायक होते हैं। इनमें सत्ता के नहीं, बल्कि जनता के दृष्टिकोण से इतिहास अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि लोककथाएँ इतिहास के वैकल्पिक स्रोत के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। भारतीय समाज में लोककथाएँ सामाजिक अन्याय, वर्ग–संघर्ष, जातीय भेदभाव और शोषण के विरुद्ध जनभावना को अभिव्यक्त करती रही हैं। अनेक लोकनायकों जैसे बिरसा मुंडा, तिलका मांझी, गोविंद गुरु की ऐतिहासिक छवि लोककथाओं के माध्यम से ही संरक्षित रही, जबकि औपनिवेशिक अभिलेखों में उन्हें अपराधी या विद्रोही के रूप में दर्ज किया गया।

जनस्मृति : इतिहास की जीवित धरोहर–जनस्मृति इतिहास की वह परंपरा है जो स्मरण, कथा, गीत, उत्सव, अनुष्ठान और परंपराओं के माध्यम से जीवित रहती है। यह लिखित नहीं होती, परंतु समाज के मन–मस्तिष्क में गहराई से अंकित रहती है। जनस्मृति समय के साथ बदलती है, किंतु उसका मूल भाव सुरक्षित रहता है। किसी युद्ध, अकाल, आंदोलन, विस्थापन या शोषण की पीड़ा जनस्मृति में पीढ़ियों तक जीवित रहती है। यही कारण है कि अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ सरकारी इतिहास से लुप्त हो जाती हैं, पर जनस्मृति से नहीं। भारत के आदिवासी समाजों में इतिहास जनस्मृति के रूप में ही संरक्षित रहा है। गीतों, नृत्यों, पर्वों और कथाओं के माध्यम से वे अपने पूर्वजों, संघर्षों और भूमि–संबंधी स्मृतियों को जीवित रखते हैं।

औपनिवेशिक इतिहास और मिथक – लोक परंपरा का दमन–औपनिवेशिक इतिहास लेखन ने मिथक, लोककथा और जनस्मृति को "अवैज्ञानिक" और "अविश्वसनीय" कहकर हाशिए पर डाल दिया। ब्रिटिश

इतिहासकारों ने लिखित दस्तावेजों को ही प्रमाण माना और मौखिक परंपराओं को अस्वीकार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का इतिहास शासकों और प्रशासकों का इतिहास बन गया, जनता का नहीं। आदिवासी विद्रोह, किसान आंदोलन और स्त्री संघर्ष लंबे समय तक इतिहास के पन्नों से गायब रहे। औपनिवेशिक सत्ता के लिए यह आवश्यक भी था, क्योंकि जनस्मृति में निहित प्रतिरोध की चेतना उनके शासन के लिए खतरा थी।

राष्ट्रीय आंदोलन और लोक परंपरा – भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान मिथक, लोककथा और जनस्मृति ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। गांधी जी ने रामराज्य के मिथक का प्रयोग नैतिक शासन की अवधारणा के रूप में किया। लोकगीतों और कथाओं ने जनजागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। किसान आंदोलनों, आदिवासी संघर्षों और श्रमिक चेतना के प्रसार में लोकसाहित्य सबसे प्रभावशाली माध्यम बना। यह स्पष्ट करता है कि मिथक और लोककथा केवल अतीत नहीं, बल्कि इतिहास–निर्माण की सक्रिय शक्ति भी हैं।

आधुनिक इतिहासलेखन में पुनर्मूल्यांकन – बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इतिहास लेखन में बड़ा परिवर्तन आया। सबाल्टर्न अध्ययन, मौखिक इतिहास और सांस्कृतिक इतिहास के उदय ने मिथक, लोककथा और जनस्मृति को वैध ऐतिहासिक स्रोत के रूप में स्वीकार किया। इतिहासकारों ने यह समझा कि सत्य केवल अभिलेखों में नहीं, बल्कि स्मृतियों में भी होता है। लोकस्मृति तथ्यों से अधिक भावनात्मक सत्य को संजोती है, जो समाज की वास्तविक चेतना को प्रकट करता है। आज इतिहास को "बहुवचन" में देखा जाने लगा है – एक नहीं, अनेक इतिहास। इसमें राजाओं का इतिहास भी है और जनता का भीय दस्तावेजों का इतिहास भी है और लोककथाओं का भी।

मिथक, लोककथा और जनस्मृति का समकालीन महत्व – समकालीन समय में जब वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद स्थानीय संस्कृतियों को नष्ट कर रहे हैं, तब मिथक और लोकपरंपराएँ सांस्कृतिक पहचान की रक्षा करती हैं। वे समाज को उसकी जड़ों से जोड़ती हैं। इतिहास के लोकतंत्रीकरण के लिए इनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये हाशिए के समुदायों – स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों और अल्पसंख्यकों को इतिहास में स्थान दिलाती हैं। इसके साथ ही जनस्मृति सत्ता द्वारा निर्मित आधिकारिक इतिहास को चुनौती देती है और यह प्रश्न उठाती है कि इतिहास किसका लिखा जा रहा है और किसके लिए। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मिथक, लोककथा और जनस्मृति इतिहास के विरोधी नहीं, बल्कि उसके पूरक हैं। वे इतिहास को केवल सत्ता की कथा बनने से रोकते हैं और उसे मानवीय, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आयाम प्रदान करते हैं। मिथक हमें सभ्यता की आदिम चेतना से जोड़ते हैं, लोककथाएँ जनता के जीवन–संघर्ष को स्वर देती हैं और जनस्मृति इतिहास को जीवंत बनाए रखती है। इनके बिना इतिहास अधूरा, एकांगी और निष्प्राण हो जाता है। इतिहास लेखन की परंपरा लंबे समय तक सत्ता, शासन और अभिलेखों के इर्द–गिर्द घूमती रही है। इसके परिणामस्वरूप इतिहास समाज के बहुसंख्यक वर्ग की वास्तविक चेतना से कटता चला गया। राजा, युद्ध, संधियाँ और प्रशासन इतिहास का केंद्र बने रहे, जबकि समाज की आंतरिक संरचना, लोकविश्वास, सांस्कृतिक संघर्ष और सामूहिक स्मृति इतिहास के हाशिए पर धकेल दी गई। इसी रिक्तता को भरने में मिथक, लोककथा और जनस्मृति की भूमिका अत्यंत निर्णायक सिद्ध होती है। इन तीनों तत्वों के माध्यम से इतिहास एक जीवंत प्रक्रिया बनता है, न कि केवल बीते हुए तथ्यों का संग्रह।

इतिहास और स्मृति का अंतर्संबंध – इतिहास और स्मृति के बीच संबंध जटिल किंतु अविभाज्य है। इतिहास वस्तुनिष्ठ होने का दावा करता है, जबकि स्मृति व्यक्तिनिष्ठ होती है। किंतु वस्तुतः इतिहास भी पूर्णतः निष्पक्ष नहीं होता। इतिहासकार का दृष्टिकोण, सामाजिक पृष्ठभूमि और वैचारिक आग्रह उसके लेखन को प्रभावित करते हैं। जनस्मृति इस अर्थ में अधिक ईमानदार होती है कि वह अपने अनुभव को छिपाती नहीं। उसमें पीड़ा, आक्रोश, गौरव और प्रतिरोध एक साथ मौजूद रहते हैं। किसी समाज की स्मृति उसके अस्तित्व का प्रमाण होती है। यदि स्मृति नष्ट कर दी जाए, तो इतिहास भी अर्थहीन हो जाता है। इसी कारण औपनिवेशिक शासन ने सबसे पहले जनस्मृति पर प्रहार किया – स्थानीय परंपराएँ तोड़ी गईं, लोकदेवताओं को अंधविश्वास कहा गया और मौखिक परंपरा को अवैज्ञानिक घोषित किया गया।

मिथक और ऐतिहासिक चेतना का विकास – मिथक मनुष्य की प्रारंभिक ऐतिहासिक चेतना का प्रथम चरण हैं। जब मनुष्य ने पहली बार अपने अस्तित्व, प्रकृति और समाज को समझने का प्रयास किया, तब मिथकों का जन्म हुआ। प्राकृतिक आपदाएँ, ऋतु परिवर्तन, युद्ध, पलायन और सभ्यताओं का पतन – इन सबको मिथकीय आख्यानों में रूपांतरित कर स्मृति में सुरक्षित किया गया। इसलिए मिथक को "काल्पनिक कथा" कहकर नकार देना ऐतिहासिक दृष्टि से अनुचित है। मिथक सामाजिक यथार्थ का सांकेतिक इतिहास होते हैं। वे यह बताते हैं कि किसी समाज ने अपने अतीत को कैसे समझा और कैसे याद रखा। भारतीय मिथकों में सामाजिक संरचना, वर्ण–व्यवस्था, पितृसत्ता, नारी स्थिति, युद्ध नीति और नैतिक मूल्यों की स्पष्ट झलक मिलती है। यह सभी तथ्य इतिहास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

लोककथा : सत्ता के विरुद्ध लोकस्वर–लोककथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सत्ता से संचालित नहीं होतीं। वे जनमानस की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति हैं। लोककथा का नायक प्रायः वह होता है जो व्यवस्था से टकराता है – गरीब, किसान, वनवासी या स्त्री। लोककथाएँ शोषण के विरुद्ध मौन प्रतिरोध का माध्यम रही हैं। उनमें अन्याय के प्रति असहमति छिपे रूप में प्रकट होती है। यही कारण है कि लोककथाएँ पीढ़ियों तक जीवित रहती हैं। इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि कई घटनाओं की वास्तविक जानकारी लोककथाओं के माध्यम से ही मिलती है।

आदिवासी समाज और स्मृति आधारित इतिहास – आदिवासी समाजों में इतिहास लेखन नहीं, इतिहास–स्मरण की परंपरा रही है। उनके गीत, पर्व, नृत्य और अनुष्ठान ही इतिहास के अभिलेख हैं। उनकी स्मृति भूमि, जंगल और पूर्वजों से जुड़ी होती है। जल, जंगल और जमीन के संघर्ष उनकी जनस्मृति के केंद्र में हैं। यही कारण है कि औपनिवेशिक शासन और बाद में आधुनिक राज्य व्यवस्था के साथ उनका टकराव अनिवार्य हुआ। आदिवासी विद्रोहों का इतिहास यदि केवल सरकारी दस्तावेजों से लिखा जाए, तो वह अपूर्ण रहेगा। वास्तविक इतिहास उनकी लोकगाथाओं और गीतों में छिपा है।

स्त्री इतिहास और जनस्मृति – इतिहास से सबसे अधिक जिनकी अनुपस्थिति रही है, वह हैं स्त्रियाँ। स्त्री अनुभव प्रायः लोकगीतों, कथाओं, व्रत–कथाओं और परंपराओं में संरक्षित रहा है। स्त्री स्मृति घरेलू जीवन, श्रम, हिंसा, प्रेम और प्रतिरोध की कथा कहती है। यह इतिहास का वह पक्ष है जिसे शासकीय अभिलेख कभी दर्ज नहीं कर सकते। इस प्रकार जनस्मृति स्त्री इतिहास का मौलिक स्रोत बनती है।

उत्तर–आधुनिक इतिहास दृष्टि और लोकस्मृति – उत्तर–आधुनिक इतिहास दृष्टि ने "एकमात्र सत्य" की

अवधारणा को अस्वीकार कर दिया है। अब इतिहास को बहुस्तरीय और बहुवाचिक माना जाता है। इस दृष्टि में मिथक, लोककथा और जनस्मृति इतिहास के समानांतर आख्यान हैं। वे इतिहास को चुनौती भी देते हैं और समृद्ध भी करते हैं। इतिहास अब केवल यह नहीं पूछता कि "क्या हुआ था", बल्कि यह भी पूछता है कि "लोगों ने उसे कैसे याद रखा।"

समकालीन भारत में इसकी प्रासंगिकता – आज जब इतिहास राजनीतिक विमर्श का हथियार बनता जा रहा है, तब जनस्मृति की भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। वह इतिहास के केंद्रीकरण का प्रतिरोध करती है। लोकस्मृति बताती है कि इतिहास किसी एक वर्ग, जाति या विचारधारा की बपौती नहीं है। वह समाज के प्रत्येक समूह की साझी धरोहर है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मिथक, लोककथा और जनस्मृति इतिहास के बाहरी तत्व नहीं, बल्कि उसकी आत्मा हैं। वे इतिहास को मानवीय बनाते हैं। इनके बिना इतिहास सत्ता का आख्यान बन जाता है, इनके साथ इतिहास समाज का दर्पण बनता है। मिथक अतीत की चेतना हैं, लोककथा जनता की वाणी है और जनस्मृति इतिहास की जीवित आत्मा।

इतिहास में मिथक, लोककथा और जनस्मृति का महत्व – इतिहास को सामान्यतः अतीत की घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण माना जाता है, किंतु वस्तुतः इतिहास केवल तिथियों, युद्धों, राजवंशों और सत्ता परिवर्तन की कथा नहीं है। वह मनुष्य की सामूहिक चेतना, अनुभव, स्मृति और संघर्ष का समग्र दस्तावेज होता है। इतिहास का वास्तविक स्वरूप तभी पूर्ण होता है जब उसमें समाज के सभी वर्गों की भागीदारी परिलक्षित हो। लंबे समय तक इतिहास लेखन का केंद्र शासक वर्ग रहा, जिसके कारण जनसामान्य की अनुभूतियाँ, लोकविश्वास, सांस्कृतिक परंपराएँ और स्मृतियाँ इतिहास के हाशिए पर चली गईं। इसी संदर्भ में मिथक, लोककथा और जनस्मृति इतिहास की उन वैकल्पिक धाराओं के रूप में सामने आती हैं जो इतिहास को जनकेंद्रित बनाती हैं। मिथक मानव सभ्यता की प्रारंभिक ऐतिहासिक चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब मनुष्य ने प्रकृति, जीवन और मृत्यु के रहस्यों को समझने का प्रयास किया, तब मिथकों का जन्म हुआ। ये मिथक किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं थे, बल्कि सामूहिक अनुभवों की उपज थे। उनमें प्राकृतिक आपदाएँ, सामाजिक संघर्ष, युद्ध, पलायन और सभ्यताओं के उत्थान– पतन रूपक के माध्यम से अभिव्यक्त हुए। इसीलिए मिथक को काल्पनिक कहकर खारिज करना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं है। वे तथ्यात्मक इतिहास नहीं हैं, किंतु वे सामाजिक सत्य को गहराई से अभिव्यक्त करते हैं। भारत के अनेक लोकनायक, जिन्हें औपनिवेशिक इतिहास ने विद्रोही या अपराधी कहा, लोककथाओं में नायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। तिलका मांझी, बिरसा मुंडा, सिद्धो– कान्हू जैसे जननायकों का वास्तविक इतिहास लोकस्मृति में सुरक्षित रहा, जबकि सरकारी अभिलेखों ने उन्हें उपद्रवी घोषित किया। यह अंतर दर्शाता है कि इतिहास केवल तथ्य नहीं, बल्कि दृष्टिकोण का प्रश्न भी है। स्त्री इतिहास के संदर्भ में भी जनस्मृति की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। इतिहास की मुख्यधारा में स्त्रियाँ प्रायः अनुपस्थित रहीं, किंतु लोकगीतों, कथाओं, व्रत–कथाओं और परंपराओं में स्त्री जीवन के संघर्ष सुरक्षित रहे। विवाह, मातृत्व, श्रम, हिंसा और प्रतिरोध – ये सभी अनुभव लोकस्मृति में अभिव्यक्त हुए। इस प्रकार जनस्मृति स्त्री इतिहास का मौलिक स्रोत बनती है।

औपनिवेशिक इतिहास लेखन ने मिथक, लोककथा और जनस्मृति को अवैज्ञानिक मानकर अस्वीकार कर दिया। लिखित दस्तावेजों को ही इतिहास का प्रमाण माना गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का इतिहास शासकों और प्रशासकों का इतिहास बन गया। जनता की भूमिका गौण हो गई। लोकपरंपराएँ सत्ता के लिए

खतरनाक थीं, क्योंकि उनमें प्रतिरोध की चेतना निहित थी। इसलिए उन्हें दबाया गया और हाशिए पर डाल दिया गया।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इतिहासलेखन की दिशा बदली। सबाल्टर्न अध्ययन, मौखिक इतिहास और सांस्कृतिक इतिहास के उदय ने यह स्थापित किया कि इतिहास केवल अभिलेखों से नहीं बनता। स्मृति, अनुभव और लोकपरंपरा भी ऐतिहासिक स्रोत हैं। इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया कि सत्य केवल एक नहीं होता, इतिहास बहुवचन होता है।

आधुनिक इतिहास दृष्टि यह प्रश्न उठाती है कि इतिहास किसका लिखा गया और किसे चुप करा दिया गया। इस प्रश्न के उत्तर में मिथक, लोककथा और जनस्मृति नए अर्थ प्रदान करती हैं। वे इतिहास को लोकतांत्रिक बनाती हैं और हाशिए के समुदायों को उसमें स्थान दिलाती हैं।

समकालीन समय में जब इतिहास राजनीतिक विमर्श का उपकरण बनता जा रहा है, तब जनस्मृति की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। वह सत्ता द्वारा निर्मित एकांगी इतिहास को चुनौती देती है। लोकस्मृति यह स्मरण कराती है कि इतिहास केवल अतीत नहीं, बल्कि वर्तमान की चेतना भी है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मिथक, लोककथा और जनस्मृति इतिहास के पूरक नहीं, बल्कि उसके अभिन्न अंग हैं। वे इतिहास को मानवीय बनाते हैं, उसमें संवेदना जोड़ते हैं और समाज की आत्मा को सुरक्षित रखते हैं। इनके बिना इतिहास केवल सत्ता का विवरण बनकर रह जाता है। अतः इतिहास का समग्र अध्ययन तभी संभव है जब लिखित स्रोतों के साथ–साथ मिथकों, लोककथाओं और जनस्मृतियों को भी समान महत्व दिया जाए। यही दृष्टि इतिहास को जीवंत, लोकतांत्रिक और समाजोन्मुख बनाती है।

संदर्भ सूची :

1. रोमिला थापर – इतिहास और परंपरा।
2. रणजीत गुहा – सबाल्टर्न स्टडीज।
3. डी. डी. कोसांबी – एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री।
4. पी. थॉम्पसन – The Voice of the Past.
5. एरिक हॉब्सबॉम – The Invention of Tradition.
6. जान अस्मान – Cultural Memory.
7. सुमित सरकार – आधुनिक भारत का इतिहास।
8. बद्रीनाथ – भारतीय मिथक परंपरा।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 37-39

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

झारखण्ड के उराँव जनजाति की युवागृह संस्था

डॉ० प्रमीला उराँव
असिस्टेंट प्रोफेसर, कुँड़ुख़ विभाग
करमचन्द भगत महाविद्यालय, बेड़ो, राँची।
राँची विश्वविद्यालय, राँची (झारखण्ड)

उराँव समाज में युवागृह को धुमकुड़िया कहा जाता है। पुरूषों के धुमकुड़िया को 'जोंख़ एड़पा' कहते है, और महिलाओं के धुमकुड़िया को 'पेल्लो एड़पा' कहते है। पुरूषों की यह संस्था उराँव समाज के लिए धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और अन्य पहलुओं पर काम करता है। यह संगठन उराँव आदिवासियों के बीच शुरू से ही चला आ रहा है। इस संगठन के सदस्य धांगर कहलाते है। ये धांगर या धुमकुड़िया के सदस्य तीन श्रेणियों में विभाजित रहते है। पहला कार्यरत नवयुवक धांगर, दूसरा मझतुड़िया याने बीच के धांगर, जो नये धांगरों के चुनाव के पहले कार्यरत थे और तीसरे नम्बर में बूढ़े धांगर याने 'कोंहा जोंख़र' या पचगी जोंख़र। इस प्रकार छोटे–छोटे बच्चों और अति बूढ़ों को छोड़कर समाज के सभी योग्य पुरूष इस संस्था के सदस्य बन कर एक सूत्र में बंध जाते है। नवयुवक धांगर ही वर्तमान समय के सभी कार्यक्रमों में कार्यरत रहते है। समाज के सभी कार्यों का सम्पादन करते है। जरूरत पड़ने पर बीच के मझतुड़िया धांगर नवयुवक धांगरों के कार्यों में मदद करते है। पचगी धांगर और दूसरे धांगरों के बीच सलाहकार का काम करते है ये दिमागी मदद देते है।

इनके संचालन या नेता कोटवार कहलाते है। तीनों श्रेणियों के लिए अलग–अलग तीन कोटवार होते है। कोटवारों का काम संस्था के सदस्यों को अनुशासित रखना, पर्व–त्योहार के फूल लाकर नृत्य मण्डली में बाँटना और नृत्य में शामिल नहीं होने पर युवकों को घर से खोज–खोज कर निकालना, नहीं निकलने पर युवकों को बिन्दी–पुआल से बने कोर्रा (कोड़े) से मार–मारकर नृत्य अखाड़े में भेजना है। युवकों के सामाजिक और सामाजिक कार्यों के लिए मध्यस्ता करना। ये ही युवकों की ओर से काम कराने वालों के साथ लेन–देन के विषय में बात करते है।

नवयुवक धांगरों के धुमकुड़िया संस्था में शामिल होने की विधि को 'जोंख़ मंखना' कहते है। प्रत्येक तीन वर्षों में युवकों की बहाली धुमकुड़िया में नियमानुसार की जाती है। इन युवकों की आयु दस वर्ष से लेकर बीस वर्षों तक की होती है। इस अवस्था में ये समाज के कार्यों को करने के लिए सक्षम होते है। हरेक उराँव सरना परिवार के लड़के को इस संस्था का सदस्य होना अनिवार्य है। इनका कार्य काल तीन वर्षों का होता है। किन्तु जब तक नये धांगरों का चुनाव नहीं होता है ये ही समाज के कार्यों को संभालते है। जिस गाँव के युवक या लड़के छोटे–छोटे रहते हैं उस गाँव में चुनाव की अवधि पाँच, सात या दस वर्षों तक की भी हो जाती है।

माघ महीने के नये चाँद में गाँव वाले जंगलों में शिकार खेलने जाते हैं। इस शिकार में जितने भी जानवर मारे गए हो, उन्हें वे लाकर शिकर चंडी की जगह में काट कर माँस बनाते है। चुनाव के समय तीनों श्रेणियों के धांगरों को उपस्थित रहना जरूरी है। ये सभी मिलकर विचार–विमर्श करते हैं कि किस–किस उराँव परिवार में कौन–कौन लड़के धुमकुड़िया में बहाल होने योग्य है। उपस्थित सभी लोग मन ही मन में विचार करते है। इसके बाद में वे एक–एक करके अपना विचार प्रगट करते है। अंतिम निर्णय सर्वसम्मति से होती है। इन तीनों श्रेणियों के विचारों पर आधारित फैसलों के मुताबिक मारे गये शिकारों के माँसों को सखुए की पत्तियों में लपेट कर उन्हीं–उन्हीं के घरों में भेज दिए जाते है जिन–जिन घरों के लड़के धुमकुड़िया के सदस्य हो रहे है। इसकी सम्पुष्टि मूतरी चण्डी पर चढ़ायी गयी काली पठिया के माँसों को प्रसाद के रूप में खाने के बाद होती है। बकरे या काली पठिया के इस बली को 'एड़ा मोख़ना' कहा जाता है। पत्ते में लपेट कर दिये गए माँस को 'पत्ता' कहते है। नये धांगरों के चुनाव के समय इन्हें अविवाहित होना है।

इन नये धांगरों की भर्ती के बाद पुराने नवयुवक धांगर मझतुड़िया धांगरों की पचगी (बूढ़े) धांगरों में आप से आप परिणत हो जाते है। इसके बाद अपना–अपना कार्य करना शुरू कर देते है। दरअसल में नवयुवक धांगर ही कार्यों की सत्ता संभालते हैं। इन्हीं को समाज के सभी कार्यों को देखना है। पर्व–त्योहारों, धर्म–कर्म, दुःख–सुख, नाच–गान, पूजा–पाठ इत्यादि के कार्यों को नवयुवक धांगर, मझतुड़िया धांगरों की मदद और बूढ़े धांगरों की सलाह पर करते है।

नवयिुक्त धांगर धुमकुड़िया के प्रशिक्षण से आज्ञाकारी, कर्त्तव्य–परायण और अनुशासनशील बन जाते है इस प्रकार मेहमान की इज्जत करना, बड़ों का आदर–सत्कार या सम्मान करना उराँव समाज का एक सामाजिक धरोहर है, इसकी सीख धुमकुड़िया के माध्यम से ही दी जाती है। धुमकुड़िया युवकों के अपने तरीके का पाठशाला, ज्ञानोदय करने वाला संस्था है। इसमें ज्ञान की सीख दी जाती है। धुमकुड़िया अखाड़े के पास बना होता है। यह एक बड़ी कोठरी होती थी, जिसमें खिड़की नहीं होते थे दरवाजा नीचा रहता था। इससे जाड़ा और गर्मी कम लगती है। इस धुमकुड़िया घर में लड़कियों को घुसना मना था। पहले स्कूल नहीं थे, यही धुमकुड़िया पाठशाला का रोल अदा करता था। मझतुड़िया धांगर की प्रशिक्षण देते थे। ये शिक्षक या गुरू रूप में काम करते थे। धुमकुड़िया का संचालन जोंख़ कोटवार और महतो धांगर करते है।

पेल्लो धुमकुड़िया का दूसरा नाम पेल्लो एड़पा है। जोंख़ धुमकुड़िया अखाड़े से सटा रहता है किन्तु पेल्लो धुमकुड़िया किसी विधवा के घर में रहता है। इसका घर अखड़े के नजदीक होना जरूरी नहीं है। विधवा की खाली घर पर निर्भर करता है कि पेल्लो एड़पा उराँव समाज के महिलाओं की संस्था या संगठन है। यह संस्था औरतों का धार्मिक सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पहलुओं के लिए है। संस्था नवयुवक धांगरों की संस्था के समान ही हरेक बिन्दुओं पर कार्य करती है। यह समाज की महिला सेना है।

युवकों की तरह ही पेल्लो धुमकुड़िया की सदस्य का चुनाव भी नियमतः तीन वर्षों के लिए होता है। चुनाव की अवधि लड़कियों के बढ़ने या उम्र पर निर्भर करती है। अगर लड़कियाँ छोटी–छोटी हैं तो इनका भी चुनाव, तीन, पाँच, सात या दस वर्षों में होती है। संगठन तीन श्रेणियों में बाँटी जाती है किन्तु मझतुड़िया और बूढ़ी औरतों की संख्या बहुत कम रहती है, क्योंकि लड़कियाँ शादी होकर दूसरे–दूसरे गाँव में चली जाती है और अपनी सदस्यता खो देती है। दूसरे गाँवों से आयी बहू इस संस्था की सदस्य नहीं बन सकती है, किन्तु बाहर से सभी

सामाजिक कार्यों में इस संगठन को सहयोग करती है, कुछ लड़कियाँ लड़कों के प्रेम बंधन में बन्धकर गाँव में ही रह जाती है और कई लड़कियाँ अविवाहित रह कर माँ–बाप के घर में रह जाती है। इनकी सदस्यता बनी रहती है। ऐसी लड़कियाँ तीनों प्रकार की श्रेणियों के लिए सदस्य बनने का हक रखती है। प्रथम श्रेणी की सदस्यों की संख्या सबसे अधिक रहती है। क्योंकि इसमें गाँव की सभी अविवाहित लड़कियाँ रहती है। दरअसल में ये ही लड़कियाँ पेल्लो धुमकुड़िया का कार्य–भार संभालती हैं।

इस धुमकुड़िया संगठन के कारण ही उस समय औरतों में इतना संगठन, साहस, एकता और अनुशासन था। इसका कारण धुमकुड़िया का निपुण प्रशिक्षण ही था। प्रशिक्षण के बल पर ये समाज के लिए एक मजबूत स्तम्भ याने सेना बन जाती थी। अभी भी आदिवासी औरतें वीर–धीर और साहसी होती है जो अपने–आप में नमूना स्वरूप है। ये घनघोर जंगलों में बाघ–भेड़, चीता, हाथी, साँप, बिच्छू और तरह–तरह के अन्य भयानक और विषैले जीव–जन्तुओं के बीच अकेली ही निर्भयतापूर्वक घूमती–फिरती है, और समय पड़ने पर उनसे मुकाबला भी करती है।

निष्कर्ष :–

धुमकुड़िया सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक पुनर्जागरण का केन्द्र बन सकते है। आधुनिक धुमकुड़िया मात्र युवाओं तक सीमित न रहे, आदिवासी समाज में बुजुर्गों के अनुभव एवं ज्ञान का एक विशिष्ट स्थान है। यह अनमोल ज्ञान हमें किसी किताबो में नहीं मिलेगा। आज जो आदिवासी समाज से पारम्परिक ज्ञान, सामाजिक, सांस्कृतिक बोध, आदिवासी मौलिकता विलुप्त हो रही है। समृद्ध गीत–संगीत अपभ्रंश हो रहे है, ऐसे चुनौतियों को बुजुर्गों के संरक्षण में प्रभावी रूप से रोका या नियंत्रण किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. उराँव–सरना धर्म और संस्कृति, भीखू तिर्की, झारखण्ड झरोखा, रातु रोड, राँची, प्रथम संस्करण, 2011
2. झारखण्ड : भूमि और भूमि पुत्र (परिचयात्मक एवं तुलनात्मक) डॉ० बिमला चरण शर्मा, झारखण्ड झरोखा, रातु रोड, राँची, प्रथम संस्करण–2011
3. सामाजिक सांस्कृति मानवशास्त्र, विजय शंकर उपाध्याय गया पाण्डेय, क्राउन पब्लिकेशन, द्वितीय संस्करण, 2013

मो० नं० : 8434634784

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 40-43
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

नई काव्य चेतना में प्रतिष्ठित लघु मानव : एक नया व्यक्तित्व

डॉ. पूजा धमीजा, शोध निर्देशिका
सुभाष चन्द्र वर्मा, शोधार्थी
हिन्दी विभाग, टांटिया यूनिवर्सिटी, श्रीगंगानगर (राज.)

आदि काल से स्वातंत्र्योत्तर काव्य तक मानव-व्यक्तित्व की अवधारणा :

कलात्मक उपलब्धियों के केंद्र में आदि काल से ही मानव–व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा रही है। यद्यपि कलात्मक सर्जना मानवीय चेतना का प्रतिफल है, तथापि युग एवं क्षेत्र के प्रभाव से मानव–व्यक्तित्व की विशेषताओं में परिवर्तन स्वाभाविक है। ऐतिहासिक विकास क्रम तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों की भिन्नताएँ भी इस परिवर्तन को सहजता प्रदान करती हैं, जिससे विविध व्यक्तित्वों का निर्माण होता है। कलात्मक चिंतन इसी परिवर्तित व्यक्तित्व को अपनी सर्जना में व्याख्यायित एवं रूपायित करता है।

स्वातंर्त्योत्तर काव्य–चिंतन में भी व्यक्ति को नवीन दृष्टिकोण से पहचानने का प्रयास किया गया। इस अवधि में पूर्ववर्ती काव्य में प्रतिष्ठित धीरोदात्त नायक का स्वरूप संदिग्ध हो गया। महाकाव्यों का महापुरुष कालांतर में आदर्श का प्रतीक बना, तत्पश्चात् छायावादी चिंतन में वह अपनी सघनता खोकर व्यापक एवं अरूप इकाई में परिवर्तित हो गया, तथा छायावादोत्तर काल में भी वायवीय ही बना रहा। मार्क्सवादी चिंतन से प्रभावित प्रगतिवाद में, सामाजिक परिधि में विश्लेषित यह मानव, अपना स्वरूप एवं गुण विस्मृत कर समूह के निर्गुण–निराकार सागर में विलीन हो गया।[1]

स्वातंर्त्योत्तर काव्य में 'लघु मानव' की अन्वेषण :

स्वातंर्त्योत्तर काव्य में पुनः व्यष्टि मानव के अन्वेषण का सूत्रपात हुआ और उसके व्यक्तित्व को इकाई के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया। नयी कविता के विकास क्रम में जिस व्यष्टि–मानव को स्थापित किया गया, उसे 'लघु मानव' की संज्ञा प्रदान की गई। कवि–चिंतक लक्ष्मीकांत वर्मा के मतानुसार, यह लघु मानव सन् 1948 से 1956 के मध्य कुछ युवा हिंदी कवियों के चिंतन की सामूहिक उपलब्धि है।[2]

परिवर्तित मूल्य एवं दलित-उपेक्षित मानव-व्यक्तित्व :

परिवर्तित युग–संदर्भों में, जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्वीकृत पारंपरिक मूल्यों के विघटन के कारण मानव व्यक्तित्व भी विखंडित होने लगा। व्यक्ति खण्डित, लांछित, पथभ्रष्ट, पराजित और विकृतियों से खंडित अवस्था में दृष्टिगत हुआ। पूर्ववर्ती मूल्यों के प्रति उसका विश्वास क्षीण हो गया तथा यथार्थ जीवन की कटुताओं ने उसे

खोखले आदर्शों से विमुख कर दिया। परिणामस्वरूप, नवोदित काव्य–चेतना मानव जीवन के यथार्थ के निकट पहुँची और मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व को पहचानने की आवश्यकता हुई। इस दलित और उपेक्षित मानव–व्यक्तित्व में भी मूल्यों के अन्वेषण का प्रयास किया गया।[3]

इस संबंध में गिरिजा कुमार माथुर का अभिमत है कि मानवीय गरिमा की वास्तविक व्याख्या काल्पनिक आरोप अथवा गलित–गहित से आँखें मूँद लेने से संभव नहीं, अपितु वास्तविक मानव को उसकी समस्त श्रेष्ठताओं और न्यूनताओं के साथ अभिव्यक्त करना अधिक संगत एवं प्रामाणिक है। माथुर की इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि क्षुद्रता और विकृतियों से ग्रस्त मनुष्य भी अपने भीतर जीवन–मूल्यों को समाहित रखता है, अतः काव्य में उसकी उपेक्षा उचित नहीं। जीवन में सब कुछ श्रेष्ठ ही नहीं होता, अतः मात्र श्रेष्ठताओं को ग्रहण करने वाला काव्य जीवन का समग्र रूप प्रस्तुत नहीं कर सकता। विकृतियों और कुंठाओं से संघर्षरत मानव अनुकूल परिस्थिति में उन पर विजय प्राप्त कर सकता है, इसलिए उसकी प्रतिष्ठा अपरिहार्य है।[4]

लक्ष्मीकांत वर्मा के 'लघु मानव' की विशेषताएँ :

नयी काव्य–चेतना में प्रतिष्ठित लघु मानव पूर्ववर्ती काव्य में निरूपित व्यक्तित्व से अनेक अर्थों में भिन्न एवं विशिष्ट है। इसका आधार नितांत मानवीय एवं व्यावहारिक है। वह कोई विशिष्ट मानव न होकर अपने अंतस में मानवीय विशिष्टता को पोषित करता है। लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार, वह जाग्रत, स्वनियंता, आत्मशक्ति से युक्त चेतन एवं गतिशील प्राणी है। वह अपनी आचरण–मर्यादा और बौद्धिकता के बल पर विकासोन्मुख होने की क्षमता रखता है। जीवन की विसंगतियों के बावजूद वह मानवीय एवं स्वस्थ शक्तियों से परिचालित होता है, जिससे वह अपने पूर्ववर्तियों से पृथक् हो जाता है।[5]

वर्मा 'लघु मानव' और 'छोटे मानव' में भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विशिष्ट अथवा महान के विरोध में 'छोटा' शब्द प्रयुक्त हो सकता है, किंतु 'लघु' उन दोनों की सीमा से परे है, क्योंकि 'छोटा आदमी' सदैव सांप्रदायिक होता है। तथापि, यहाँ वर्माजी द्वारा 'छोटा' और 'लघु' के मध्य किया गया वर्गीकरण भ्रमात्मक प्रतीत होता है।[6]

प्रश्न लघु मानव अथवा छोटे आदमी का नहीं, अपितु मानव–वैशिष्ट्य का है, जो वर्तमान युग का एक विशिष्ट मूल्य है और जिसका संबंध मानव–विवेक से है। वर्मा जी विवेक के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मनुष्य ने धर्म, परंपरा और रूढ़ि को अंधवत् स्वीकार करने के पश्चात् आज यह अनुभव किया है कि इन सबसे अधिक विश्वसनीय उसका तर्क, उसका विवेक है। विवेक के आधार पर ही मनुष्य अपनी स्थिति का अध्ययन करता है और अनुभव से अर्जित ज्ञान की पृष्ठभूमि पर अपने वर्तमान एवं भावी व्यक्तित्व का निर्माण करता है।[7]

लघु मानव की द्वितीय विशेषता यथार्थ को भोगने की उसकी सामर्थ्य है। वह जीवन के कटुतम यथार्थ के संपर्क में कुंठा और पलायन का मार्ग न अपनाकर, उन्हें उनकी समग्रता में स्वीकार करता है। चूँकि वह कटुताओं और दुःखों को भोगने तथा उनसे जूझने में सक्षम है, इसलिए सुख को भोगने की दृष्टि भी उसी में विद्यमान होती है।[8]

लघु मानव संबंधी अन्य धारणाएँ विश्वदेव नारायण साही की प्रतीकात्मकता :

विश्वदेव नारायण साही की लघु मानव संबंधी धारणा वर्माजी से भिन्न है। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि लघु मानव की कल्पना प्रतीकवत् है। उनके मतानुसार लघु और महत् एक प्रतीकात्मक स्तर पर मिलते हैं, अतः

लघु मानव की स्थिति एक प्रकार की सापेक्षता की स्थिति है। जब महत् अपनी विशिष्टताओं में अधिक उद्ग्र होता है, तो लघुता की सीमाएँ क्रमशः अधिक स्पष्ट होती जाती हैं। साहीजी कहते हैं कि महत् उसे एक आंतरिक आलोक द्वारा बिद्ध करता है, जिससे उसकी सीमा रेखाएं और भी स्पष्ट हो जाती हैं, और लघु और महत् का उन्मीलन प्रतीकात्मक स्तर पर होता है।[9]

जगदीश गुप्त का 'नया मनुष्य' :

जगदीश गुप्त लघु मानव संबंधी व्याख्या भिन्न रीति से प्रस्तुत करते हैं। वे 'लघु मानव' के स्थान पर 'नया मनुष्य' जैसा संबोधन अधिक उपयुक्त मानते हैं। उनकी स्थापना है कि 'नया मनुष्य रूढ़िग्रस्त चेतना से मुक्त, मानव मूल्यों के रूप में स्वातंर्त्य के प्रति सजग, अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाला है...'[10] डॉ० गुप्त की मान्यतानुसार, 'नया मनुष्य अपनी अनेक वैयक्तिक विशेषताओं के कारण एक विशिष्ट व्यक्तित्व धारण करता है, जिसमें असंख्य क्षमताएं और संभावनाएं निहित हैं। उसका व्यक्तित्व स्वाभिमान संपन्न है।'[11]

अतः उसे 'लघु मानव' की संज्ञा देना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि लघुता की स्थापना में स्वाभिमान और आत्म–गौरव के लिए कोई स्थान नहीं रहता। 'लघु मानव' का संबोधन मनुष्य की स्वाभाविक अस्मिता को आघात पहुँचाने वाला हो सकता है और उसका कुपित अहम् सामाजिक अशांति एवं क्रांति को जन्म दे सकता है। इस प्रकार वर्माजी की लघु मानव संबंधी स्थापना निर्मूल सिद्ध हो जाती है।[12]

यथार्थ, विकृतियाँ और काव्य :

वस्तुतः, आज के मनुष्य को उसके सहज एवं प्राकृतिक रूप में परखने की आवश्यकता है। विसंगतियाँ और विद्रूपताएँ परिवेशजन्य होती हैं, जिनका संबंध तात्कालिक प्रतिक्रियाओं से होता है और जिनके पीछे विवेकपूर्ण चिंतन का आधार नहीं होता।

यथार्थ जीवन की विसंगतियां और विद्रूपताएँ सत्य होते हुए भी काव्य अथवा कला में प्रायः यथावत् रूप में स्वीकार नहीं की जातीं। इस संदर्भ में डा० रघुवंश का मत है कि आधुनिक यथार्थ की यह दृष्टि समसामयिक जीवन को उसकी गति में पूर्णतः ग्रहण करती है। एक समय था जब व्यक्ति टूटता या बिखरता दिखाई देता था, किंतु आज का कवि इन सबको सहन कर उनके प्रति व्यंग्यशील हुआ है। डॉ. रघुवंश यह मानते हैं कि नयी कविता में 'सिनिसिज्म' (Cynicism) विद्यमान है, परंतु विघटित मूल्यों और विस्थापित व्यक्तित्वों के इस युग में इस प्रकार की दास्यहीनता और उसका आक्रोश आवश्यक है – यह नवीन मूल्यों और नवीन व्यक्तित्व के संगठन के लिए आधारभूमि है।[13]

पश्चिमी विचारधारा का प्रभाव और व्यक्ति-स्वातंर्त्य :

व्यक्ति और व्यक्तित्व संबंधी आधुनिक चिंतन पर पश्चिमी विचारकों का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। मानव व्यक्तित्व की व्याख्या का मूल आधार अस्तित्ववादी दर्शन है। प्रायः इन सभी स्थापनाओं में व्यक्ति–स्वातंर्त्य एवं विवेकपूर्ण सहज मानव–व्यक्तित्व केंद्रीय बिंदु हैं।

टी० ई० हुल्मे का मत है कि स्वच्छंदतावादी व्यक्ति और देवत्व में ऐसा मिश्रण दिखाई देता है, जिसमें व्यक्ति अपनी पूर्णता हेतु देवत्व की ओर उन्मुख रहता है। जी० एस० फेजर इसी प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए इंगित करते हैं कि पूर्णता के लिए ईश्वर के समीप पहुँचने की कल्पना को वह मूर्खतापूर्ण मानता है। मानव का

वास्तविक विकास उसकी स्वतंत्रता में ही संभव है। विवेकपूर्ण स्वतंत्र व्यक्तित्व ही अपने चरम विकास को प्राप्त कर सकता है। स्वतंत्रता के आधार पर ही व्यक्ति स्वयं मूल्यों का निर्णायक बन जाता है।[14]

आज के काव्य–चिंतन में जिस व्यक्ति की कल्पना की जाती है, वह विशिष्ट या असाधारण न होकर आधुनिक समाज के विभिन्न दबावों के भीतर संघर्ष करता हुआ सामान्य प्राणी है। अंग्रेजी के कवि ऑडेन जिस व्यक्ति को परिभाषित करते हैं, उसकी वाणी परिचित हैय उसमें वह व्यक्ति एक व्यक्ति से संवाद करता है, समुदाय से नहीं।

इस प्रकार, पश्चिमी स्थापनाओं में व्यक्तित्व की लघुता के प्रति विशेष बल दिया गया है। लघु मानव की धारणा पश्चिमी विचारधारा से व्यापक रूप से प्रभावित है।[15]

निष्कर्ष : लघु मानव की अवधारणा :

संपूर्ण विवेचन के आलोक में यह निष्कर्ष निकलता है कि लघु मानव का आधार विघटित मूल्यों की पृष्ठभूमि है। उसके भीतर जिस विवेक को आरोपित किया गया है, वह नितांत वैयक्तिक और समाज–निरपेक्ष है। विशेष व्यक्ति के स्थान पर व्यक्ति की विशिष्टताओं को मान्यता प्रदान की गई है, जो प्रजातांत्रिक मानवतावादी आदर्श से प्रभावित है। नए व्यक्ति की व्याख्या में अंतर्विरोध स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, किंतु नए व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सभी एकमत हैं। वर्मा जी 'लघु मानव' के भीतर अभावग्रस्त यथार्थ एवं जीवन की कटुताओं से जूझने वाले व्यक्ति की कल्पना करते हैं, तो अन्य विचारक उसे अनेक विशेषताओं, क्षमताओं और मानवीय गुणों का समुच्चय मानते हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. गिरिजाकुमार माथुर – नयी कविता सीमाएँ और सम्भावनाएँ, पृ० 132 ।
2. लक्ष्मीकान्त वर्मा – नये प्रतिमान, पुराने निकष, पृ० 63 ।
3. गिरिजाकुमार माथुर – नयी कविता : सोमाये और संभावनायें, पृ० 134।
4. वही, पृ० 135 ।
5. लक्ष्मीकान्त वर्मा – नयी कविता के प्रतिमान, पृ० 161 ।
6. वही – नये प्रतिमान पुराने निकष, पृ० 105 ।
7. वही – नयी कविता के प्रतिमान, पृ० 273 ।
8. वही – नये प्रतिमान पुराने निकष पृ० 108 ।
9. विजयदेव नारायण साही – नयी कविता अंब 5–6, 50 115 ।
10. डा० जगदीश गुप्त– नयी कविता स्वरूप और समस्यायें, पृ० 36 ।
11. डा० रघुवंश साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, 10, 184–1
12. टो० ई० हुल्मे – 'स्पेक्युलेशन' सं० हर्बर्ट रीट : पृ० 10–11।
13. जी० एस० फेजर – द माडर्न राइटर एंड हिज वर्ल्ड, पृ० 8।
14. जान वाइल्ड 'द चैलेंज आव एक्जिस्टैशलिम', पृ० 236।
15. डब्ल्यू० एच० आडेन 'द डाइयर्स हैण्ड' पृ० 84

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 44-48

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

विभिन्न दर्शनों में भ्रम की व्याख्या : एक समालोचनात्मक अध्ययन

राजेंद्र प्रसाद
सहायक आचार्य, संहिता विभाग
देश भगत विश्वविद्यालय, मंडी गोबिंदगढ़, पंजाब।

सार (इिजतंबज)

भारतीय दर्शन में भ्रम (अविद्या / मिथ्याज्ञान) को बन्धन और दुःख का मूल कारण स्वीकार किया गया है। यथार्थ का विपर्यस्त ज्ञान ही मनुष्य को संसार में प्रवृत्त करता है तथा मोक्ष–मार्ग से विमुख करता है। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं 'न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त एवं बौद्ध' ने भ्रम की उत्पत्ति, स्वरूप, कारण तथा निवारण का विश्लेषण अपने–अपने तात्त्विक ढाँचों में किया है। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य इन विभिन्न दर्शनों में प्रतिपादित भ्रम–सिद्धान्तों का तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन करना है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि दार्शनिक दृष्टिकोणों में भिन्नता है, तथापि सभी दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य अविद्या का नाश तथा यथार्थज्ञान के माध्यम से मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति है। यह शोध भारतीय दर्शन में भ्रम–सिद्धान्त की केन्द्रीयता को रेखांकित करता है।

कुंजी शब्द (Keywords) : भ्रम, अविद्या, विपर्यय, अध्यास, विवेक, मोक्ष।

1. प्रस्तावना :

भारतीय दर्शन की मूल मान्यता यह है कि मानव जीवन का परम प्रयोजन दुःख–निवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति है। सभी दार्शनिक प्रणालियाँ इस तथ्य पर एकमत हैं कि दुःख का मूल कारण अज्ञान अथवा भ्रम है। भ्रम वह स्थिति है जिसमें ज्ञाता वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप में न जानकर किसी अन्य रूप में ग्रहण करता है। इस मिथ्याज्ञान के कारण राग, द्वेष, कर्म तथा पुनर्जन्म का चक्र प्रवाहित होता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में भ्रम को केवल ज्ञानात्मक त्रुटि न मानकर एक गम्भीर अस्तित्वगत समस्या के रूप में देखा गया है। रस्सी–सर्प, शुक्ति–रजत तथा मृगमरीचिका जैसे उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि भ्रम में किसी न किसी वास्तविक आधार (अधिष्ठान) पर मिथ्या आरोप होता है। अतः भ्रम–सिद्धान्त भारतीय दर्शन की 'ज्ञानमीमांसा और मोक्षमीमांसा' दोनों का केन्द्रीय विषय है।

2. न्याय दर्शन में भ्रम :

न्याय दर्शन यथार्थवादी एवं तर्कप्रधान दर्शन है, जिसका मूल उद्देश्य प्रमाओं (यथार्थ ज्ञान) के द्वारा

दुःख–निवृत्ति और मोक्ष–प्राप्ति है। इस दर्शन में भ्रम को अप्रमा या मिथ्याज्ञान कहा गया है। गौतम के अनुसार– **"यत्र यथा नास्ति तत्र तथा ज्ञानं भ्रमः।" (न्यायसूत्र 1.1)**

न्याय के अनुसार भ्रम वह ज्ञान है जिसमें ज्ञान का विषय यथार्थ में विद्यमान नहीं होता, यद्यपि ज्ञान निश्चित प्रतीत होता है। रस्सी में सर्प का ज्ञान इसका आदर्श उदाहरण है। यहाँ रस्सी का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु स्मृति और दोष के कारण सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

2.1 भ्रम के कारण :

न्यायसूत्र (1.1.16) में भ्रम के कारणों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है– **"समीप्रयोगदोषस्मृतिसंकरात् विपर्ययः।"** इसके अनुसार भ्रम के तीन मुख्य कारण हैं –

1. **समीप्रयोग** – इन्द्रिय और विषय का अपूर्ण या असामान्य संयोग (जैसे अंधकार, दूरी)
2. **दोष** – इन्द्रिय, मन या बुद्धि की विकृति (भय, रोग, राग–द्वेष)
3. स्मृति–संकर – पूर्वानुभव की स्मृति का वर्तमान प्रत्यक्ष में आरोप।

2.2 दार्शनिक मूल्यांकन :

न्याय दर्शन भ्रम को मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक दोनों स्तरों पर स्पष्ट करता है। वात्स्यायन और उद्योतकर ने भ्रम को बाह्य वस्तु और आन्तरिक मानसिक प्रक्रिया की संयुक्त क्रिया माना है। इस दृष्टि से न्याय का भ्रम–सिद्धान्त यथार्थवादी परम्परा का सशक्त उदाहरण है।

3. वैशेषिक दर्शन में भ्रम :

वैशेषिक दर्शन पदार्थ–मीमांसा पर आधारित है और यथार्थ पदार्थ–ज्ञान को मोक्ष का साधन मानता है। इसमें भ्रम को विपर्यय या असत्यार्थबुद्धि कहा गया है। प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार– **"यथा शुक्तिकायां रजतबुद्धिः।" (पदार्थधर्मसंग्रह)**

3.1 भ्रम के कारण :

प्रशस्तपाद के अनुसार भ्रम के तीन प्रमुख कारण हैं–

1. **दोष** – इन्द्रियों की विकृति।
2. **अतिदेश** – स्मृति का अत्यधिक प्रभाव।
3. **संस्कार** – पूर्वानुभवजन्य प्रवृत्तियाँ।

3.2 भ्रम के प्रकार :

वैशेषिक दर्शन में भ्रम को तीन रूपों में वर्गीकृत किया गया है –

- वस्तु–भ्रम
- गुण–भ्रम
- क्रिया–भ्रम

3.3 समालोचना :

वैशेषिक दर्शन न्याय की तुलना में भ्रम का अधिक सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है, क्योंकि यह केवल वस्तु ही नहीं, बल्कि गुण और क्रिया के स्तर पर भी भ्रम को स्वीकार करता है।

4. सांख्य दर्शन में भ्रम :

सांख्य दर्शन द्वैतवादी है और पुरुष तथा प्रकृति को दो स्वतंत्र तत्त्व मानता है। इसमें भ्रम को अविद्या या अविवेक कहा गया है। ईश्वरकृष्ण के अनुसार– **"तत्त्वाविवेकः ह्युपद्रवहेतुः।" (सांख्यकारिका 64)**

4.1 भ्रम का स्वरूप :

पुरुष जब बुद्धि, अहंकार, मन और शरीर के साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह स्वयं को कर्ता–भोक्ता मान लेता है। यही अविवेक समस्त संसारिक दुःखों का मूल है।

4.2 परिणाम :

"तत्त्वाविवेकात् संसारः।" (सांख्यकारिका 66) – अविवेक के कारण ही जन्म–मरण का चक्र चलता रहता है।

4.3 निवारण :

पुरुष–प्रकृति विवेक द्वारा कैवल्य की प्राप्ति ही सांख्य दर्शन में भ्रम–निवारण का एकमात्र उपाय है।

5. योग दर्शन में भ्रम :

पतञ्जलि योग दर्शन में भ्रम को चित्तवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। योगसूत्र (1.8) में कहा गया है– **"विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।"**

5.1 अविद्या :

योगसूत्र (2.5) के अनुसार– **"अनित्याशुचिदुःखनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।"** अविद्या ही सभी क्लेशों का मूल है।

5.2 परिणाम :

अविद्या से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश उत्पन्न होते हैं (योगसूत्र 2.3), जो मनुष्य को बन्धन में डालते हैं।

5.3 निवारण :

अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध तथा विवेकख्याति की प्राप्ति ही भ्रम–निवारण का उपाय है (योगसूत्र 2.26)।

6. वेदान्त दर्शन में भ्रम :

अद्वैत वेदान्त में भ्रम को अध्यास कहा गया है। शंकराचार्य के अनुसार– **"स्मृतिरूपोऽयं पूर्वदृष्टावभासः अध्यासः।" (ब्रह्मसूत्रभाष्य 1.1.1)**

6.1 भ्रम का कारण :

अविद्या या माया, जिसके कारण आत्मा और अनात्मा का परस्पर आरोप होता है।

6.2 उदाहरण :

रज्जु–सर्प, शुक्ति–रजत और मृगमरीचिका वेदान्त में भ्रम के मानक दृष्टान्त हैं।

6.3 निवारण :

ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्या का नाश– **"अहं ब्रह्मास्मि।" (बृहदारण्यक उपनिषद् 1.4.10)**

7. बौद्ध दर्शन में भ्रम :

बौद्ध दर्शन में भ्रम को अविद्या और विपर्यय के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद सूत्र के अनुसार– **''अविद्या पच्चया संखारा।''**

7.1 दार्शनिक दृष्टिकोण :

- ☐ योगाचार दर्शन में भ्रम को चित्तमात्र की कल्पना माना गया है।
- ☐ माध्यमिक दर्शन में समस्त धर्मों को शून्य कहा गया है–

''सर्वे धर्माः शून्यतालक्षणाः।'' (मूलमाध्यमककारिका)

7.2 निवारण :

चार आर्य सत्य, अष्टांग मार्ग और विपश्यना के अभ्यास द्वारा निर्वाण की प्राप्ति ही भ्रम–निवारण का साधन है।

8. समालोचनात्मक विवेचन :

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन की प्रत्येक परम्परा भ्रम को बन्धन का मूल कारण स्वीकार करती है, किन्तु उसकी व्याख्या अपने तात्त्विक ढाँचे के अनुरूप करती है। न्याय–वैशेषिक दर्शन भ्रम को बाह्य वस्तु और इन्द्रिय–दोष से सम्बद्ध मानते हैं, जबकि सांख्य और योग दर्शन इसे अविवेक एवं चित्तवृत्ति के रूप में देखते हैं। अद्वैत वेदान्त में भ्रम अध्यास के रूप में सर्वाधिक गहन दार्शनिक स्वरूप ग्रहण करता है, जहाँ सम्पूर्ण जगत को ही अविद्या–जन्य कहा गया है। बौद्ध दर्शन में भ्रम का विश्लेषण कारण–कार्य शृंखला (प्रतीत्यसमुत्पाद) और शून्यता के माध्यम से किया गया है।

इन सभी मतों में एक साझा सूत्र यह है कि यथार्थज्ञान के अभाव में ही संसार की अनुभूति होती है और ज्ञान की प्राप्ति से ही बन्धन का क्षय सम्भव है।

9. निष्कर्ष (Conclusion)

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भ्रम–सिद्धान्त भारतीय दर्शन का एक केन्द्रीय एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है। यद्यपि भ्रम की संकल्पना, कारण और निवारण की व्याख्या में दार्शनिक मतभेद हैं, तथापि सभी दर्शनों का लक्ष्य अविद्या का नाश और यथार्थज्ञान की प्राप्ति ही है। इस दृष्टि से भ्रम–सिद्धान्त भारतीय दर्शन की ज्ञानमीमांसा, नैतिकता तथा मोक्षमीमांसा को एक सूत्र में पिरोता है।

10. अध्ययन की पद्धति (Research Methodology)

यह शोध गुणात्मक (Qualitative) एवं ग्रन्थाधारित (Textual) पद्धति पर आधारित है। अध्ययन में प्राथमिक स्रोतों 'सूत्र, कारिका, भाष्य एवं उपनिषद्' तथा द्वितीयक स्रोतों 'आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों' का समालोचनात्मक विश्लेषण किया गया है।

11. अध्ययन के उद्देश्य (Objectives of the Study)

1. विभिन्न भारतीय दर्शनों में भ्रम की संकल्पना का विश्लेषण करना।
2. भ्रम के कारण, स्वरूप एवं निवारण का तुलनात्मक अध्ययन करना।
3. भ्रम–सिद्धान्त की दार्शनिक एवं मोक्षमीमांसात्मक प्रासंगिकता को स्पष्ट करना।

संदर्भ सूची (References)

1. गौतम, न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य सहित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
2. वात्स्यायन, न्यायभाष्य, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
3. कणाद, वैशेषिकसूत्र, प्रशस्तपाद भाष्य सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
4. प्रशस्तपादाचार्य, पदार्थधर्मसंग्रह, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
5. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, चौखम्भा ओरिएण्टल पब्लिशर्स, वाराणसी।
6. पतञ्जलि, योगसूत्र, व्यास भाष्य सहित, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
7. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर।
8. उपनिषद् संग्रह, गीता प्रेस, गोरखपुर।
9. नागार्जुन, मूलमाध्यमककारिका, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
10. दासगुप्ता, एस. एन., A History of Indian Philosophy, Vol. I–II, Cambridge University Press.
11. राधाकृष्णन, एस., Indian Philosophy, Vol. I–II, Oxford University Press.

ई मेल prajendra1977@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 49-54
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

आजाद हिंद फौज का इंदौर से संबंध

महेन्द्र, शोधार्थी
डॉ. सुनीता मालवीय, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग
प्रधानमंत्री कॉलेज ऑफ एक्सीलेंस श्री अटल बिहारी वाजपेयी गवर्नमेंट आर्ट्स एंड कॉमर्स कॉलेज, इंदौर।

शोध सारांश :

प्रस्तुत शोध–पत्र आजाद हिंद फौज और इंदौर के बीच ऐतिहासिक संबंधों का विश्लेषण करता है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में गठित आजाद हिंद फौज ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को सशस्त्र संघर्ष की एक प्रभावशाली दिशा प्रदान की। यह आंदोलन केवल अंतरराष्ट्रीय युद्धक्षेत्रों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि भारत के आंतरिक क्षेत्रों में भी गहन राष्ट्रवादी चेतना के प्रसार का माध्यम बना।

यह अध्ययन गुणात्मक ऐतिहासिक शोध–पद्धति पर आधारित है, जिसमें द्वितीयक स्रोतों 'शोध–ग्रंथों, आत्मकथाओं, समाचार पत्रों, पत्रिकाओं तथा क्षेत्रीय शोध–प्रबंधों' का विश्लेषण किया गया है। शोध में आजाद हिंद फौज की संगठनात्मक संरचना, सैन्य अभियानों तथा अस्थायी स्वतंत्र भारत सरकार की स्थापना के प्रभावों का विवेचन किया गया है, विशेष रूप से इंदौर क्षेत्र के संदर्भ में।

शोध से स्पष्ट होता है कि नेताजी सुभाषचंद्र बोस के ओजस्वी नेतृत्व, क्रांतिकारी नारों और आजाद हिंद फौज की गतिविधियों ने इंदौर में युवाओं, छात्रों और सामान्य जनता को गहराई से प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप इंदौर तथा आसपास के क्षेत्रों में आजाद हिंद फौज की प्रेरणा से स्थानीय शाखाओं, आजाद हिंद सेवा दल, बालसेना एवं सुभाष टोली का गठन हुआ। अनेक युवाओं ने ब्रिटिश सेना छोड़कर आजाद हिंद फौज में सहभागिता की तथा लाल किले में चले ऐतिहासिक मुकदमों के दौरान इंदौर में व्यापक जन–आंदोलन और विरोध प्रदर्शन हुए। अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि इंदौर आजाद हिंद फौज से प्रेरित एक सक्रिय राष्ट्रवादी केंद्र के रूप में उभरा। इस प्रकार आजाद हिंद फौज ने न केवल राष्ट्रीय स्तर पर ब्रिटिश शासन की वैधता को चुनौती दी, बल्कि क्षेत्रीय स्तर पर भी स्वतंत्रता आंदोलन को जनांदोलन का स्वरूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

मुख्य शब्द :–

आजाद हिंद फौज, सुभाषचंद्र बोस, इंदौर, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय आंदोलन, कैप्टन मोहन सिंह, रास बिहारी बोस, डॉ. चंद्रहास पालोद्रिया, सुभाष टोली, बालसेना।

प्रस्तावना :–

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान फरवरी, 1942 ईस्वी में जापान द्वारा सिंगापुर पर अधिकार कर लिया गया

जिसमें 40000 भारतीय सैनिकों ने आत्मसमर्पण किया।[2] इन सभी भारतीय सैनिकों को रासबिहारी बोस ने संगठित किया और जापान से भारतीय स्वतंत्रता हेतु आश्वासन प्राप्त किया। फलतः मार्च 1942 में जापान के टोक्यो में एक सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसमें रासबिहारी बोस, कैप्टन मोहन सिंह, आनंदमोहन सहाय तथा नरंजन सिंह गिल ने जापानी सरकार के प्रमुख जनरल तोजो से मिलकर पूरे ईस्ट एशिया में "इण्डियन इंडिपेंडेंस लीग"और एक "इंडियन नेशनल आर्मी" के गठन पर सहमति बनाई।[3] जून, 1942 में बैंकॉक में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें भारत से बाहर पूर्वी और दक्षिण पूर्वी एशिया में रह रहे भारतीयों के 100 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में रासबिहारी बोस को इण्डियन इंडिपेंडस लीग का अध्यक्ष चुना गया। तथा कैप्टन मोहन सिंह को इण्डियन नेशनल आर्मी का जनरल ऑफिसर इन कमांड बनाया गया।[4]

यह एकता अधिक समय तक नहीं टिक सकी, कैप्टन मोहन सिंह ने जापानी सरकार से इंडियन नेशनल आर्मी के अपने स्वार्थ हेतु प्रयोग करने के प्रश्न पर मतभेद हुआ और उन्होंने इंडियन नेशनल आर्मी को भंग कर दिया। तत्पश्चात रासबिहारी बोस ने इण्डियन नेशनल आर्मी की बागडोर सुभाष चंद्र बोस के हाथों सौंपने का निर्णय किया। इस हेतु उन्होंने सुभाष चंद्र बोस को जर्मनी से बुलाया। 4 जुलाई 1943 को वे अपने निजी सचिव आबिद हुसैन के साथ सिंगापुर पहुंचे जहाँ रासबिहारी बोस ने उनका भव्य स्वागत किया। सुभाषचंद्र बोस को इंडियन इंडिपेंडेंस लीग का अध्यक्ष बनाया गया। 05 जुलाई 1943 ईस्वी को सुभाष चंद्र बोस ने इण्डियन नेशनल आर्मी को आजाद हिन्द फौज नाम दिया।[5] यहाँ से उन्हें नेताजी के नाम से जाना जाने लगा। इस अवसर पर बॉस ने कहा कि आजाद हिन्द फौज ही वह सेना है,जो भारत से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का जुआ ही नहीं हटाएगी, वरन् वही बाद में स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सेना भी निर्मित करेगी।[6]

21 अक्टूबर 1943 ई को सुभाष चंद्र बोस ने आजाद हिंद फौज की सर्वोच्च सेनापति की हैसियत से सिंगापुर में स्वतंत्र भारत की अस्थाई सरकार की स्थापना की इस प्रकार विधिवत रूप से 21 अक्टूबर 1943 ईस्वी में आजाद हिंद फौज सिंगापुर में अस्तित्व में आई। यही से दिल्ली चलो,तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा तथा जय हिंद का नारा दिया गया। यहीं से रेडियो में सुभाष चंद्र बोस ने महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता संबोधित किया था। जबकि सुभाष को देश नायक की उपाधि रविंद्र नाथ टैगोर ने दी थी। आजाद हिन्द फौज की तीन ब्रिगेडों के नाम सुभाष ब्रिगेड, गांधी ब्रिगेड, तथा नेहरू ब्रिगेड रखे गए। सुभाष चंद्र बोस की स्वतंत्रता अस्थाई सरकार को 9 देशों ने मान्यता दी। जिसमें जापान, जर्मनी, बर्मा, इटली, चीन आदि सम्मिलित थे। इस सरकार ने 23 अक्टूबर 1943 को मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। जापान सरकार ने अंडमान और निकोबार दीप पर विजय प्राप्त कर इसका शासन नेताजी की सरकार को सौंप दिया। दिसंबर 1943 ई को सुभाष चंद्र बोस वहां गए तथा उन्होंने तिरंगा झंडा फहराया 4 फरवरी 1944 को आजाद हिंद फौज रंगून से अरकान की पहाड़ियों की तरफ बड़ी यहां अरकान के मोर्चे पर ब्रिटिश सेना की टुकड़ी को बुरी तरह पराजित किया। यहां विजय प्राप्त करने के पश्चात आजाद हिंद फौज भारतीय सीमा में प्रवेश कर गई, जापानियों की सहायता से उन्होंने कोहिमा पर अधिकार कर लिया और पहाड़ की चोटी पर आजाद हिंद फौज ने भारत का तिरंगा झंडा फहरा दिया। आजाद हिंद फौज का उत्साह दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था, परंतु इसी बीच युद्ध में परिस्थितियां बदल गई और पूर्वी एशिया में जापान की कई स्थानों पर हार हुई। जापान की पराजय के साथ आजाद हिंद फौज की योजना भी असफल हो गई।

आजाद हिंद फौज के गिरफ्तार सैनिकों एवं अधिकारियों पर अंग्रेज सरकार ने दिल्ली के लाल किले में नवम्बर 1945 ई. को मुकदमा चलाया। इस मुकदमे के मुख्य अभियुक्त तीन अधिकारी मेजर शाहनवाज खान, कर्नल प्रेम सहगल और कर्नल गुरुदयाल सिंह ढिल्लों पर राजद्रोह का आरोप लगाया गया। उनके समर्थन में पूरे देश में सहानुभूति की लहर चल पड़ी और यह तीनों देश के विभिन्न संप्रदायों की सांकेतिक एकता के प्रतीक बन गए। न केवल कांग्रेस बल्कि सभी राजनीतिक दलों जैसे– मुस्लिम लीग, अकाली दल, कम्युनिस्ट पार्टी इत्यादि ने भी मुकदमे की सुनवाई का विरोध किया। आजाद हिंद फौज के बचाव के लिए कांग्रेस ने भूलाभाई देसाई के नेतृत्व में आजाद हिंद फौज बचाव समिति का गठन किया, जिसमें तेज बहादुर सप्रू, कैलाश नाथ काटजू, अरुणा आसफ अली, जवाहरलाल नेहरू तथा जिन्ना प्रमुख वकील थे। फौजी अदालत द्वारा इन तीनों को फांसी की सजा सुनाई गई इस निर्णय के खिलाफ पूरे देश में "लाल किले को तोड़ दो,आजाद हिंद फौज को छोड़ दो" के नारे लगने लगे विवश होकर तत्कालीन वायसराय लॉर्ड वेवेल ने अपने विशेष अधिकार का प्रयोग कर उनकी मृत्यु दंड की सजा को माफ कर दिया।[7]

आजाद हिंद फौज की राष्ट्रवादी गतिविधियों से मध्यप्रदेश स्थित इंदौर भी अछूता नहीं रहा। आजाद हिंद फौज से प्रेरणा लेकर इंदौर में भी आजाद हिंद फौज की शाखाओं का गठन किया गया। तथा अन्य कई क्रियाविधियों के माध्यम से राष्ट्रीय आंदोलन को दृढ़ बनाने में इंदौर के वीरों ने योगदान दिया। इस प्रकार इंदौर राष्ट्रीय आंदोलन का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। यहां राष्ट्रीय आंदोलन की सभी धाराओं का प्रभाव देखने को मिलता है।

सुभाष चंद्र बोस का संक्षिप्त परिचय :–

नेताजी सुभाषचंद्र बोस का जन्म एक मध्यमवर्गीय प्रतिष्ठित कुल में 23 जनवरी, 1897 ईस्वी में कटक उड़ीसा में हुआ था। उनके पिता जानकीनाथ बोस, जो नगर पालिका के प्रधान, सरकारी वकील और फिर सरकारी अभियोक्ता रहे। सुभाष बाबू ने 1919 ईस्वी में कलकत्ता विश्व विद्यालय से दर्शनशास्त्र परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। उसके बाद उन्होंने इंग्लैंड में भारतीय जनपद सेवा की प्रतियोगिता परीक्षा में चौथा स्थान प्राप्त किया। गुजरात में संपन्न हुए हरिपुर कांग्रेस अधिवेशन, 1938 ईस्वी में उन्हें सर्व सम्मति से कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। 1939 ईस्वी में सुभाष बाबू ने त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन में गांधी समर्थक उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैया को हराया। गांधी जी ने इसे स्वयं की पराजय बताया तत्पश्चात् सुभाष बाबू ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया और 01 मई 1939 ईस्वी में "फॉरवर्ड ब्लॉक" की स्थापना की। जुलाई 1940 ईस्वी में बंगाल सरकार ने हॉलवेल विरोधी आंदोलन के संबंध में भारत सुरक्षा कानून के तहत बोस को गिरफ्तार करके खुद के एल्गिन रोड वाले घर पर नजरबंद कर दिया। 26 जनवरी 1941 ईस्वी को बोस एक मौलवी के वेश में जियाउद्दीन का नाम धारण करके कलकत्ता मेल से सीधे पेशावर पहुंचे। पेशावर से काबुल और फिर मास्को होते हुए बर्लिन पहुंचे और हिटलर से मुलाकात की।[8]

यहीं पर जर्मन विदेश मंत्रालय की सहायता से बर्लिन में उन्होंने फ्री इंडियन लीजन नामक सेना बनाई। अगस्त 1945 ईस्वी में सुभाष चंद्र बोस बैंकॉक से टोक्यो रवाना हुए, परंतु फारमोसा द्वीप के पास विमान दुर्घटना में 18 अगस्त 1945 को उनकी मृत्यु हो गई।

आजाद हिंद फौज और इंदौर :-

आजाद हिंद फौज के आदर्शों, त्याग और वीरतापूर्ण कारनामों का देशभर में व्यापक प्रचार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जनमानस और सैनिकों में नई देशभक्ति की चेतना जागृत हुई। इस आंदोलन से ब्रिटिश शासन की नींव हिलने लगी और उन्हें अपने पतन का आभास होने लगा। नेताजी सुभाष चंद्र बोस का व्यक्तित्व अत्यंत ओजस्वी और प्रेरणादायक था। मूसलाधार वर्षा में भी हजारों लोग उनके भाषण सुनने एकत्र हो जाते थे। उनके विचारों का प्रभाव स्थानीय रियासतों, विशेषकर इंदौर पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। स्वतंत्रता संग्राम सेनानी श्रीराम आगर के अनुसार, इंदौर निवासी श्रीमती सुभद्रा बाई के पति स्वर्गीय श्री केशवदास कांबले आजाद हिंद फौज में "सीक्रेट वारंट ऑफिसर" के पद पर कार्यरत थे। वे प्रारंभ में होलकर रियासत की सेवा में थे, किंतु नेताजी के आह्वान पर आजाद हिंद फौज में शामिल हो गए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उनके अमूल्य योगदान के लिए वर्ष 1972 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा उनके परिवार को ताम्रपत्र से सम्मानित किया गया।

नेताजी से प्रेरित होकर इंदौर, राऊ, तिल्लौर खुर्द और पीपल्दा ग्राम में आजाद हिंद फौज की शाखाओं का गठन हुआ। डॉक्टर चंद्रहास पालोद्रिया और अजय कुमार सैंडो के नेतृत्व में युवाओं को संगठित कर प्रभात फेरियाँ, देशभक्ति गीत, क्रांतिकारी भाषण एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए गए। इन प्रयासों से शहरों के साथ–साथ ग्रामीण क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय जागरण की अलख जगी और स्वतंत्रता आंदोलन को नई दिशा प्रदान की। डॉक्टर चंद्रहास पालोद्रीया जी ने इंदौर में आजाद हिंद फौज का गठन कर उसका संचालक रामचंद्र राहगीर को बनाया। इसके अलावा उन्होंने राऊ में भी अक्षय कुमार सैंडो के नेतृत्व में तिल्लौर खुर्द में एक फौज का गठन किया जिसका नेतृत्व अपने बड़े भाई मांगीलाल जी को सौंप दिया।

नेताजी सुभाषचंद्र बोस के व्यक्तित्व एवं इंडियन नेशनल आर्मी से प्रभावित होकर इंदौर के किशोरों ने भी बालसेना व सुभाष टोली गठित की, जिसमें करीब 200 किशोर शामिल थे। इनमें डॉक्टर चंद्रहास पालोद्रिया भी एक थे। इस समय उनकी आयु मात्र 13 वर्ष थी। ये जीवन पर्यंत सुभाष चंद्र बोस से मिले तो नहीं किंतु एकलव्य की भांति उनके आदर्शो पर चलते रहे। इन टोलियों के अंतर्गत बच्चों को हथियार चलाने, पहाड़ों पर चढ़ने, नदी पार करने, सांकेतिक भाषा का प्रयोग करने आदि का प्रशिक्षण दिया जाता था। इंदौर की इस सुभाष टोली ने आजाद हिंद फौज के कमांडरों से संपर्क किया तो ढिल्लन साहब 1943–44 ईस्वी में गांव गए। वे इतनी बड़ी बाल सेना को देखकर पुलकित हो उठे। परन्तु उम्र कम होने के कारण युद्ध पर ले जाने से इनकार कर दिया।□□

स्वतंत्रता संग्राम के दौर में इंदौर और उसके आसपास के क्षेत्र नेताजी सुभाष चंद्र बोस तथा आजाद हिंद फौज की गतिविधियों से गहराई से प्रभावित थे। इंदौर के अनेक युवा सिंगापुर और मलाया में आजाद हिंद फौज के अंतर्गत देशसेवा कर रहे थे। ये युवा पहले ब्रिटिश सेना में भर्ती होकर युद्ध के मोर्चों पर गए थे, लेकिन नेताजी सुभाषचंद्र बोस के ओजस्वी व्यक्तित्व और राष्ट्रवादी विचारों से प्रेरित होकर उन्होंने अंग्रेजों की सेना छोड़ दी और आजाद हिंद फौज में शामिल हो गए। इनमें चतुर्भुज आजाद (चाणक्यपुरी, अन्नपूर्णा, इंदौर), बलदेव सिंह राजपूत (सुदामा नगर, इंदौर) और गोविंदराम शुक्ल (मालीकुआं, खंडवा) जैसे साहसी युवा शामिल थे। इंदौर में "आजाद हिंद सेवा दल" का गठन स्वतंत्रता सेनानी श्री श्याम कुमार जी आजाद के मार्गदर्शन में हुआ। वे नेताजी के

समाजवादी और मानवीय विचारों से अत्यंत प्रभावित थे। इंदौर रियासत का स्थानीय नेतृत्व भी नेताजी के विचारों को लेकर उत्साहित था। इसी प्रेरणा से गौराकुंड क्षेत्र में आजाद हिंद सेवा दल सक्रिय हुआ, जिसने मंदसौर की बाढ़ के दौरान राहत और बचाव कार्य किए।[10]

जब आजाद हिंद फौज के अधिकारियों व सैनिकों पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमे चल रहे थे, तब इंदौर की जनता उनके समर्थन में सड़क पर उतरी। तथा बंदी अफसरों के मुकदमों के विरोध में इंदौर शहर में "मुकदमे वापस लो" और "क्षमा करो और भूल जाओ" जैसे नारों के साथ 5 नवम्बर 1945 ईस्वी को आजाद हिंद फौज दिवस मनाया गया। लक्ष्मण सिंह चौहान के नेतृत्व में कांग्रेस व प्रजामण्डल के नौजवान कार्यकर्ताओं द्वारा साइकिलों पर इंडियन नेशनल आर्मी के चित्रों और तालियों के साथ नारा लगाते हुए शहर भर में घूमे। इंदौर क्षेत्र के गाड़ी अड्डा क्षेत्र में झंडा वंदन किया गया और इंडियन नेशनल आर्मी के डिफेंस फंड के लिए जनसाधारण से सहायता राशि भी एकत्रित की गई। म्युनिसिपल काउंसिल की एक बैठक में प्रजामंडल की ओर से इंडियन नेशनल आर्मी के पक्ष में एक प्रस्ताव भी पेश किया गया। जिसमें सरकार से इंडियन नेशनल आर्मी के सैनिकों व अफसरों पर से मुकदमा वापस लेने की मांग की गई।[12]

निष्कर्ष :

यह शोध यह स्थापित करता है कि आजाद हिंद फौज का प्रभाव केवल सैन्य अभियानों या अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने भारत के आंतरिक क्षेत्रों में भी स्वतंत्रता आंदोलन को नई दिशा प्रदान की। इंदौर इसका एक महत्वपूर्ण क्षेत्रीय उदाहरण है, जहाँ नेताजी सुभाषचंद्र बोस के विचारों और आजाद हिंद फौज की गतिविधियों ने व्यापक जन–जागरूकता उत्पन्न की।

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इंदौर में गठित आजाद हिंद फौज से प्रेरित संगठनों, सेवा दलों और बालसेनाओं ने युवाओं और नागरिकों को संगठित कर राष्ट्रीय आंदोलन को स्थानीय स्तर पर सशक्त बनाया। लाल किले के मुकदमों के दौरान इंदौर में हुए जन–प्रदर्शन इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि नगर केवल वैचारिक समर्थन तक सीमित नहीं था, बल्कि सक्रिय सहभागिता निभा रहा था।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि आजाद हिंद फौज ने इंदौर को एक सक्रिय राष्ट्रवादी केंद्र के रूप में विकसित किया और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को जनांदोलन का स्वरूप प्रदान करने में सार्थक योगदान दिया।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. जैन, फूलचंद – "स्वतंत्रता संग्राम सेनानी ग्रन्थमाला–7" "आजाद हिन्द फौज" की कहानी (पृ.क्र. 118
2. कासलीवाल, डॉ. आर.एम.,"नेताजी, आजाद हिन्द फौज एंड आफ्टर" (पृ. क्र. 61–62)
3. शोध पत्र, डॉ. सुभाष कुमार, "राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में आजाद हिन्द फौज की भूमिका"।
4. नंबूदरीपाद, ई. एम. एस.– "भारत का स्वाधीनता संग्राम" (पृ. क्र. 543– 544)
5. कासलीवाल, डॉ. आर. एम. "नेताजी, आजाद हिन्द फौज एंड आफ्टर" (पृ. क्र. 10)
6. लुनिया, बी.एन., "आधुनिक भारत का इतिहास" (पृ. क्र. 284)
7. पाण्डेय, एस. के. "आधुनिक भारत", प्रयाग एकेडमी पब्लिकेशन एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (पृ. क्र. 379–382)

8. ग्रोवर, बी. एल., "आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन", 37वाँ संस्करण, एस चंद एंड कंपनी लिमिटेड (पृ. क्र. 550– 556)
9. शोध पत्र, श्रीमती भारती अग्रवाल, "सुभाषचंद्र बोस का स्थानीय रियासतों पर प्रभाव"।
10. डी. बी. स्टार सिटी, दैनिक भास्कर समाचार पत्र, इंदौर दिनांक–10/10/2008
11. सिटी भास्कर, दैनिक भास्कर, इंदौर दिनांक–23/01/2009
12. शोध प्रबंध, श्रीमती भारती अग्रवाल, "सुभाषचंद्र बोस का स्थानीय रियासतों पर प्रभाव।"
13. शोध प्रबंध, श्रीमती भारती अग्रवाल, "सुभाषचंद्र बोस का स्थानीय रियासतों पर प्रभाव।"
14. प्रजामण्डल पत्रिका का 09 नवंबर, 1945 का अंक।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 55-58
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

कबीर के काव्य में गुरु–शिष्य परंपरा : एक सर्वांगीण आध्यात्मिक एवं सामाजिक विश्लेषण

डॉ. सतीश चन्द मंगल
निर्देशक व उप–प्राचार्य श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर शिक्षा महाविद्यालय,
सीटीई, केशव विद्यापीठ, जामडोली, जयपुर, (राजस्थान)
राम खिलाड़ी गुर्जर, शोधार्थी
शिक्षा विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

शोध सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य संत कबीर की साखियों और पदों के माध्यम से गुरु–शिष्य परंपरा के स्वरूप, महत्व और इसकी प्रासंगिकता का अन्वेषण करना है। कबीर के दर्शन में 'गुरु' केवल एक व्यक्ति विशेष न होकर वह परम प्रकाश है जो अज्ञानता के तिमिर को नष्ट करता है।

मुख्य बिंदु :

- **गुरु की श्रेष्ठता :** शोध में यह स्पष्ट किया गया है कि कबीर ने 'गुरु' को 'गोविंद' (ईश्वर) से भी ऊंचा स्थान क्यों दिया है। उनके अनुसार, बिना गुरु की कृपा के ईश्वर की पहचान असंभव है।
- **प्रतीकात्मक विवेचन :** कबीर ने गुरु के लिए कुम्हार, पारस, भृंगी और दीपक जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया है। शोध में इन प्रतीकों के माध्यम से गुरु के 'निर्माणकारी' और 'परिवर्तनकारी' स्वरूप का विश्लेषण किया गया है।
- **शिष्य की पात्रता :** कबीर के अनुसार शिष्य का अर्थ केवल ज्ञान ग्रहण करना नहीं, बल्कि स्वयं को पूर्णतः गुरु के चरणों में समर्पित कर देना (अहंकार का त्याग) है। 'सीस उतारै हाथि करि' का भाव इसी समर्पण को दर्शाता है।
- **सावधानी और विवेक :** कबीर ने 'अंधे गुरु' (अज्ञानी गुरु) के प्रति सचेत किया है, जो स्वयं भी डूबते हैं और शिष्य को भी ले डूबते हैं। शोध में इस बात पर जोर दिया गया है कि सच्चा गुरु वही है जो 'शब्द' (ज्ञान) के माध्यम से आत्मा को परमात्मा से मिला दे।

निष्कर्ष :

शोध का निष्कर्ष यह है कि कबीर की गुरु–शिष्य परंपरा किसी जाति, धर्म या संप्रदाय तक सीमित नहीं है। यह एक सार्वभौमिक मानवीय प्रक्रिया है जो व्यक्ति को 'स्व' (Self) से ऊपर उठाकर 'परम' (Supreme) की

ओर ले जाती है। आज के सूचनात्मक युग में भी, जहाँ सूचनाओं का अंबार है, कबीर का 'सद्गुरु' दर्शन हमें सही मार्ग चुनने का विवेक प्रदान करता है।

मुख्य शब्द (Keywords) : कबीर दास, सद्गुरु, शिष्य, समर्पण, शब्द, आध्यात्मिक चेतना, साखी, गोविंद।

प्रस्तावना एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

भारतीय वाङ्मय में 'गुरु' शब्द दो वर्णों के योग से बना है– 'गु' अर्थात अंधकार और 'रु' अर्थात प्रकाश। कबीर दास जी ने इसी व्युत्पत्ति को अपने जीवन और काव्य का आधार बनाया। मध्यकालीन भारत में जब समाज वर्ण–व्यवस्था और बाह्य आडंबरों में जकड़ा था, तब कबीर ने 'गुरु' को एक ऐसी शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जो मनुष्य को मानसिक और आध्यात्मिक गुलामी से मुक्त कर सके। उनके काव्य में गुरु केवल व्यक्ति नहीं, बल्कि एक 'तत्व' (Principles) है।

गुरु की महिमा : अनंत विस्तार :

कबीर के लिए गुरु की महिमा का वर्णन करना असंभव है। वे कहते हैं कि यदि पूरी पृथ्वी को कागज, वनों को कलम और सातों समुद्रों को स्याही बना लिया जाए, तब भी गुरु के गुणों को पूरी तरह नहीं लिखा जा सकता।

सब धरती कागद करूँ, लेखनी सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय।।[1]

व्याख्या : यह दोहा गुरु की अनंतता को दर्शाता है। कबीर यहाँ स्पष्ट करते हैं कि गुरु का उपकार भौतिक सीमाओं से परे है।

गुरु का 'पारस' और 'भृंगी' रूप :

कबीर ने गुरु की तुलना 'पारस' पत्थर से की है। पारस लोहे को सोना बना देता है, लेकिन कबीर गुरु को पारस से भी बड़ा मानते हैं क्योंकि पारस लोहे को अपने जैसा (पारस) नहीं बना पाता, जबकि गुरु शिष्य को अपने समान ही महान बना देता है।

गुरु पारस को अन्तरो, जानत है सब कोई।
वह लोहा कंचन करे, ये करि लेय आप समान।।[2]

इसी प्रकार 'भृंगी' कीट का उदाहरण देते हुए कबीर बताते हैं कि गुरु शिष्य का ध्यान इस प्रकार केंद्रित करता है कि शिष्य गुरु–मय हो जाता है।

शिष्य की योग्यता और कठिन परीक्षा :

कबीर की परंपरा में शिष्य बनना सरल नहीं है। वे कहते हैं कि गुरु के पास जाने का अर्थ है – अपने 'अहं' की बलि देना। शिष्य को 'शून्य' होना पड़ता है ताकि गुरु का ज्ञान उसमें समा सके।

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे हाथि करि, सो पैठे घर माहिं।।[3]

विश्लेषण : यहाँ 'सीस उतारने' का अर्थ भौतिक मृत्यु नहीं, बल्कि 'अहंकार का त्याग' है। जब तक शिष्य के भीतर 'मैं' (Ego) है, तब तक गुरु का 'शब्द' वहाँ प्रवेश नहीं कर सकता।

गुरू–शिष्य संबंध और 'शब्द' की चोट :

कबीर के यहाँ गुरु का मुख्य अस्त्र 'शब्द' है। वे इसे 'शब्द–बाण' कहते हैं। जब सद्‌गुरु अपने अनुभवों का शब्द रूपी बाण चलाते हैं, तो शिष्य का हृदय विदीर्ण हो जाता है और उसके भीतर की विषय–वासनाएँ मर जाती हैं।

शब्द विंधा जे जन फिरे, शब्द बिना नहीं धीर।

सद्‌गुरू शब्द जो मारिया, सोई साचा पीर।।[4]

व्याख्या : जिस शिष्य को गुरु के शब्द ने भेद दिया है, वही वास्तव में सत्य का ज्ञाता (पीर) है। बिना उस शब्द के प्रहार के, मनुष्य का उद्धार संभव नहीं है।

गुरू का कुम्हार रूप : अनुशासन और स्नेह :

गुरु का अनुशासन ऊपर से कठोर दिख सकता है, परंतु उसका उद्देश्य शिष्य का निर्माण होता है। कबीर ने इसे कलात्मक ढंग से समझाया है :

गुरू कुम्हार शिष कुंभ है, गढ़ि–गढ़ि काढ़ै खोट।

अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट।।[5]

पद–टिप्पणी : यह दोहा गुरु की दोहरी भूमिका को स्पष्ट करता है– एक तरफ वह 'कठोर शिक्षक' है और दूसरी तरफ 'दयालु रक्षक'।

अज्ञानी गुरू और पथभ्रष्ट शिष्य :

कबीर ने सावधान किया है कि गुरु के नाम पर ठगी करने वालों से बचना चाहिए। जो गुरु स्वयं सत्य को नहीं जानता, वह शिष्य को क्या तार पाएगा?

जाका गुरू भी अंधला, चेला खरा निरंध।

अंधा अंधे ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत।।[6]

व्याख्या : यदि गुरु ज्ञानहीन (अंधा) है, तो शिष्य का पतन निश्चित है। दोनों ही संसार के अज्ञान रूपी कुएँ में गिरकर नष्ट हो जाते हैं।

गुरू कृपा से ईश्वर साक्षात्कार :

कबीर के अनुसार, ईश्वर की प्राप्ति के लिए किसी तीर्थ या मंदिर जाने की आवश्यकता नहीं है। यदि गुरु की कृपा हो जाए, तो ईश्वर घट (हृदय) के भीतर ही मिल जाते हैं।

गुरू की आज्ञा आवै, गुरू की आज्ञा जाय।

कहै कबीर सो संत है, आवागमन नशाय।।[7]

शोध निष्कर्ष :

कबीर की गुरु–शिष्य परंपरा का सार 'समर्पण' और 'विवेक' है। उनके काव्य में गुरु वह तत्व है जो जीव को उसकी सोई हुई चेतना से जगाता है। कबीर ने गुरु को ईश्वर से ऊंचा स्थान देकर यह सिद्ध किया कि बिना मार्गदर्शक के सत्य का ज्ञान संभव नहीं है। आज के युग में भी, जहाँ सूचनाओं की भरमार है पर 'ज्ञान' का अभाव है, कबीर के 'सद्‌गुरु' की अवधारणा परम आवश्यक है।

पाद-टिप्पणी (Footnotes) :

1. कबीर समग्र, सं. डॉ. विनय मोहन शर्मा, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, पृष्ठ 42।
2. कबीर ग्रंथावली, सं. श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, साखी सं. 28।
3. संत कबीर का काव्य, डॉ. सावित्री चन्द्र, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ 105।
4. कबीर : एक अध्ययन, डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2015।
5. बीजक : मूल और व्याख्या, स्वामी सुखानंद, धर्म ग्रंथ प्रकाशन, पृष्ठ 14।
6. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृष्ठ 156।
7. कबीर साखी सुधा, डॉ. मनमोहन सहगल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

संदर्भ ग्रंथ सूची (Bibliography)

1. कबीर ग्रंथावली – बाबू श्यामसुंदर दास।
2. कबीर – डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी।
3. संत काव्य परंपरा और कबीर – डॉ. शिवकुमार शर्मा।
4. कबीर दर्शन – डॉ. रामचंद्र तिवारी।
5. इंटरनेट स्रोत : ignouhelp.in (MHD-01 कबीर इकाई), Shodhganga (Digitized Thesis on Kabir).

Contact No- : 8005508625

E-Mail : satishmangal009@gmail.com

Contact No- : 7426936372

E-Mail : rkg09051986@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 59-66

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

Democratic Decentralization and the Evolution of Panchayati Raj Institutions in Rural Rajasthan (1950–1980)

ANSHUL NAGAR
Research Scholar, Department of History and Indian Culture
Banasthali Vidyapith, Newai, Rajasthan.

Abstract :

The introduction of Panchayati Raj Institutions (PRIs) in post-independence India marked a significant attempt to institutionalize democratic decentralization and promote participatory governance at the grassroots level. Rajasthan holds a pivotal position in this historical process, as it was the first state to formally inaugurate the Panchayati Raj system in 1959 following the recommendations of the Balwant Rai Mehta Committee. This paper examines the evolution, structure, and functioning of Panchayati Raj Institutions in rural Rajasthan between 1950 and 1980, situating them within the broader framework of democratic decentralization, administrative reform, and rural development. By employing a historical-institutional approach grounded in governmental reports, legislative documents, scholarly analyses, and contemporary evaluations, the study investigates the political, social, and administrative dynamics that shaped grassroots governance in the state. The paper argues that while Panchayati Raj institutions significantly expanded political participation, facilitated administrative decentralization, and strengthened rural development mechanisms, their effectiveness remained constrained by bureaucratic dominance, elite capture, fiscal dependency, and socio-political hierarchies. Through a critical examination of legislative frameworks, administrative practices, and regional political contexts, the study highlights both the achievements and limitations of democratic decentralization in rural Rajasthan, thereby contributing to broader debates on local governance, participatory democracy, and state-society relations in post-colonial India.

Keywords : *Panchayati Raj, Democratic Decentralization, Local Governance, Rural Rajasthan, Post-Independence India, Political Institutions.*

Introduction :

The attainment of independence in 1947 marked a profound transformation in India's political and administrative structures, necessitating the reorganization of governance mechanisms to align with democratic ideals and developmental objectives. Among the most ambitious institutional reforms undertaken in this context was the establishment of Panchayati Raj Institutions (PRIs), envisaged as instruments of democratic decentralization, grassroots participation, and socio-economic development. Rooted in Gandhian ideals of village self-governance and reinforced by constitutional commitments to democracy and social justice, Panchayati Raj emerged as a cornerstone of India's rural governance framework.

Rajasthan occupies a seminal position in the history of Panchayati Raj, as it became the first state to operationalize democratic decentralization in 1959 through the establishment of Panchayat Samitis and Zila Parishads. This pioneering initiative followed the recommendations of the Balwant Rai Mehta Committee (1957), which advocated the creation of a three-tier system of rural local government to facilitate participatory planning and effective development administration. The inauguration of the Panchayati Raj system in Rajasthan symbolized a bold departure from colonial administrative centralization toward grassroots democracy.

The period between 1950 and 1980 represents a formative phase in the evolution of Panchayati Raj in Rajasthan. It witnessed the enactment of foundational legislation, experimentation with decentralized planning, institutional restructuring, and periodic administrative reforms. During these decades, Rajasthan's rural governance structures were shaped by competing pressures—democratic aspirations, bureaucratic control, political centralization, and socio-economic inequalities. This era also coincided with broader national debates on decentralization, rural development, and participatory governance, culminating in the Ashok Mehta Committee Report (1978), which sought to revitalize and restructure Panchayati Raj institutions.

Despite its historical importance, the evolution of Panchayati Raj in Rajasthan during this period remains insufficiently explored in integrated academic frameworks. Existing scholarship often examines decentralization either through national-level analyses or isolated regional case studies, without sufficiently capturing the complex interplay between political institutions, administrative practices, and rural society. Moreover, while Rajasthan's pioneering role is frequently acknowledged, critical assessments of the actual functioning, limitations, and socio-political implications of PRIs remain fragmented.

This paper seeks to address this gap by offering a comprehensive historical analysis of democratic decentralization and Panchayati Raj institutions in rural Rajasthan from 1950 to 1980. It

examines the ideological foundations, legislative evolution, administrative structures, political dynamics, and socio-economic impacts of decentralized governance. By situating Rajasthan's experience within broader theoretical and comparative debates on local governance, the study contributes to a nuanced understanding of grassroots democracy in post-colonial India.

Theoretical Framework: Democratic Decentralization and Local Governance :

Democratic decentralization refers to the systematic transfer of political, administrative, and fiscal authority from central or state governments to locally elected institutions. Scholars such as Manor (1999), Rondinelli et al. (1983), and Bardhan and Mukherjee (2006) emphasize that decentralization enhances political participation, accountability, administrative efficiency, and development responsiveness. In developing societies, decentralization is often viewed as a mechanism for empowering marginalized communities, promoting local decision-making, and strengthening democratic culture.

In the Indian context, decentralization has been historically linked to Gandhian ideals of village republics and grassroots democracy. The Constitution of India, while not initially mandating Panchayati Raj, incorporated Directive Principles encouraging local self-government. Subsequent institutional reforms sought to operationalize these principles through structured governance frameworks.

However, democratic decentralization in India has remained fraught with contradictions. While PRIs expanded political participation, scholars such as Baviskar (1986) and Mathew (1993) highlight persistent challenges—elite domination, bureaucratic interference, fiscal dependency, and limited autonomy. The tension between decentralization and administrative centralization has been a defining feature of India's local governance trajectory.

In Rajasthan, these dynamics assumed distinct characteristics shaped by historical legacies, social stratification, and regional political cultures. The interplay between feudal traditions, caste hierarchies, and emerging democratic institutions produced a complex governance environment, making the study of Panchayati Raj in Rajasthan particularly instructive.

Historical Background: Rajasthan and the Foundations of Panchayati Raj :

The integration of princely states into the Indian Union after independence created significant administrative and political challenges in Rajasthan. The newly formed state inherited a fragmented governance structure characterized by feudal land relations, limited political participation, and uneven development. The imperative of democratic restructuring necessitated institutional mechanisms capable of fostering rural participation, administrative coordination, and developmental planning.

The Community Development Programme (1952) and the National Extension Service provided the initial impetus for rural development planning. However, these initiatives suffered from bureaucratic

centralization and limited community involvement. The Balwant Rai Mehta Committee (1957) critically evaluated these shortcomings and recommended the establishment of elected local bodies to ensure people's participation in development processes.

Following these recommendations, Rajasthan enacted the Rajasthan Panchayat Act (1953) and later the Rajasthan Panchayat Samitis and Zila Parishads Act (1959), thereby formalizing a three-tier structure consisting of Gram Panchayats, Panchayat Samitis, and Zila Parishads. On October 2, 1959, the Panchayati Raj system was inaugurated at Nagaur, marking a historic milestone in India's decentralization journey.

Institutional Structure and Legislative Framework :

Gram Panchayat :

The Gram Panchayat constituted the foundational tier of local governance, responsible for sanitation, public health, education, minor irrigation, and welfare activities. It served as the primary interface between the state and rural citizens, facilitating local participation in governance.

Panchayat Samiti :

At the intermediate level, the Panchayat Samiti functioned as the principal planning and administrative body. It coordinated development programs, supervised Gram Panchayats, and implemented sectoral schemes. The Samiti played a crucial role in integrating local needs with district-level planning frameworks.

Zila Parishad :

The Zila Parishad served as the apex institution at the district level, responsible for consolidating development plans, overseeing Panchayat Samitis, and coordinating with state authorities. It was envisaged as a decentralized planning body capable of aligning district development strategies with grassroots priorities.

Despite this well-conceived institutional framework, the effective functioning of PRIs remained constrained by bureaucratic dominance, limited fiscal autonomy, and administrative centralization.

Political Dynamics and Democratic Participation :

One of the most significant achievements of Panchayati Raj in Rajasthan was the expansion of political participation. The introduction of direct elections to local bodies enabled rural citizens, including marginalized groups, to engage in political processes. According to Sisson (1972), Panchayati Raj transformed Rajasthan's political landscape by institutionalizing electoral competition at the grassroots level and facilitating leadership emergence beyond traditional elites.

However, empirical studies reveal that elite capture remained pervasive. Dominant castes and

landowning groups often monopolized leadership positions, marginalizing women, Scheduled Castes, and tribal communities. While reservation policies gradually improved representation, entrenched social hierarchies continued to shape power relations within PRIs.

Political parties also exerted increasing influence over local governance, particularly after the 1960s. This politicization enhanced electoral mobilization but also introduced factionalism and clientelism, undermining consensus-based governance.

Administrative Functioning and Bureaucratic Control :

Although Panchayati Raj was designed to decentralize authority, bureaucratic dominance persisted throughout the period under study. Government officials exercised significant control over planning, budgeting, and implementation processes, limiting institutional autonomy. Annual reports of the Department of Panchayati Raj indicate that development priorities were often dictated by state-level bureaucracies rather than local needs.

Moreover, inadequate fiscal decentralization constrained the operational capacity of PRIs. Dependence on state grants, coupled with limited revenue-generating powers, curtailed local initiative and accountability. Scholars such as Mathew (1984) and Singh (1998) argue that without meaningful fiscal empowerment, democratic decentralization remains largely symbolic.

Socio-Economic Impact and Rural Development :

Despite institutional limitations, Panchayati Raj contributed significantly to rural development in Rajasthan. Local bodies facilitated the implementation of agricultural extension programs, irrigation schemes, rural roads, education initiatives, and public health services. Decentralized planning improved the contextual relevance of development interventions, enhancing their effectiveness.

Planning Commission evaluations reveal that community participation in development projects increased during this period, fostering collective responsibility and social mobilization. However, regional disparities persisted, with arid zones and tribal regions receiving inadequate infrastructural support.

Reform Initiatives and the Ashok Mehta Committee :

By the late 1970s, the declining vitality of Panchayati Raj institutions prompted comprehensive policy reviews. The Ashok Mehta Committee (1978) recommended radical restructuring, including the replacement of the three-tier system with a two-tier model, strengthening financial autonomy, and enhancing political accountability.

Although many recommendations remained unimplemented, the committee's analysis significantly influenced subsequent debates on decentralization and laid the groundwork for constitutional reforms culminating in the 73rd Constitutional Amendment (1992).

Discussion :

The Rajasthan experience illustrates the paradoxes of democratic decentralization. While PRIs expanded political participation and facilitated localized planning, their transformative potential remained constrained by bureaucratic dominance, socio-economic inequalities, and fiscal dependency. The persistence of elite capture underscores the limitations of institutional reform in the absence of broader social transformation.

Nevertheless, the symbolic and practical significance of Panchayati Raj in Rajasthan cannot be understated. It institutionalized democratic norms, nurtured grassroots leadership, and fostered a participatory political culture that reshaped rural governance dynamics.

Conclusion :

The evolution of Panchayati Raj institutions in rural Rajasthan between 1950 and 1980 represents a landmark chapter in India's democratic experiment. As the first state to operationalize decentralized governance, Rajasthan pioneered institutional frameworks that profoundly influenced national policy trajectories.

This study demonstrates that while Panchayati Raj significantly advanced democratic participation and rural development, its effectiveness remained circumscribed by structural and administrative constraints. The Rajasthan experience underscores the necessity of integrating political decentralization with fiscal empowerment, administrative reform, and social equity.

By situating grassroots governance within its broader historical and socio-political context, this research contributes to a deeper understanding of democratic decentralization in post-colonial India. Future research may extend this analysis by examining post-1992 reforms, gender participation, and the evolving role of digital governance in strengthening rural democracy.

Bibliography :

Core Books on Panchayati Raj & Decentralization

- Dey, S. K. *Panchayat-i-Raj: A Synthesis*. New Delhi: Kitab Mahal, 1960.
- Mathew, George. *Status of Panchayati Raj in the States and Union Territories of India*. New Delhi: Institute of Social Sciences, 1984.
- Mishra, S. N., ed. *Decentralised Governance in India*. New Delhi: Mittal Publications, 1998.
- Rao, M. Govinda, and Nirvikar Singh. *Political Economy of Federalism in India*. New Delhi: Oxford University Press, 2005.
- Singh, Mahendra Prasad. *Grassroots Democracy in India: Panchayati Raj and Local Governance*. New Delhi: Sage Publications, 1998.
- Thakur, Ramesh. *Panchayati Raj and Rural Development in India*. New Delhi: Deep & Deep

Publications, 1987.

Government Reports & Committee Documents :

- Government of India. *Report of the Balwant Rai Mehta Committee on Democratic Decentralisation*. New Delhi: Ministry of Community Development, 1957.
- Government of India. *Report of the Ashok Mehta Committee on Panchayati Raj Institutions*. New Delhi: Department of Rural Development, 1978.
- Government of Rajasthan. *Rajasthan Panchayat Act, 1953*. Jaipur: Government Press, 1953.
- Government of Rajasthan. *Rajasthan Panchayat Samitis and Zila Parishads Act, 1959*. Jaipur: Government Press, 1959.
- Government of Rajasthan. *Annual Reports of the Department of Panchayati Raj (1960–1980)*. Jaipur: Government of Rajasthan.
- Planning Commission of India. *Evaluation Report on Community Development Programme*. New Delhi: Government of India, 1965.

Rajasthan-Specific Political & Historical Studies :

- Sisson, Richard. *The Congress Party System in Rajasthan: Political Institutionalization in a Traditional Society*. Berkeley: University of California Press, 1972.
- Gahlot, Sukhvir Singh. *Rajasthan: Political and Administrative History*. Jaipur: Research Publishers, 1986.
- Sharma, R. K. *Local Government and Politics in Rajasthan*. Jaipur: Rawat Publications, 1993.
- Chaudhary, Vikramaditya. *Rajasthan Mein Kisan Andolan: Marwar ke Sandarbh Mein (1920–1955)*. Jodhpur: Rajasthani Sahitya Sansthan, 2005.

Journal Articles & Research Papers :

- Mathew, George. "Decentralisation and Local Governance in India." *Economic and Political Weekly* 28, no. 20 (1993): 1079–1084.
- Crook, Richard, and James Manor. "Democratic Decentralization and Institutional Performance: Four Asian and African Experiences Compared." *Journal of Commonwealth & Comparative Politics* 36, no. 3 (1998): 1–22.
- Baviskar, B. S. "Panchayati Raj: Crisis of Expectations." *Economic and Political Weekly* 21, no. 17 (1986): 736–742.
- Jha, Shikha. "Political Decentralization and Rural Development in Rajasthan." *Indian Journal of Public Administration* 32, no. 3 (1986): 435–449.
- Singh, Yogendra. "Democracy, Development and Decentralization." *Social Scientist* 22, nos. 5–6 (1994): 3–17.

Comparative & Theoretical Framework :

- Manor, James. *The Political Economy of Democratic Decentralization*. Washington, DC: World Bank, 1999.
- Rondinelli, Dennis A., John R. Nellis, and G. Shabbir Cheema. *Decentralization in Developing Countries: A Review of Recent Experience*. Washington, DC: World Bank, 1983.
- Bardhan, Pranab, and Dilip Mookherjee. *Decentralization and Local Governance in Developing Countries*. Cambridge, MA: MIT Press, 2006.

Constitutional & Policy Documents :

- Government of India. *The Constitution (Seventy-Third Amendment) Act, 1992*. New Delhi: Government of India Press.
- Ministry of Panchayati Raj. *Evolution of Panchayati Raj in India*. New Delhi: Government of India, 2004.

Historical Context & Rural Transformation :

- Bose, Sugata, and Ayesha Jalal. *Modern South Asia: History, Culture, Political Economy*. London: Routledge, 2011.
- Frankel, Francine R. *India's Political Economy, 1947–1977*. Princeton: Princeton University Press, 1978.
- Omvedt, Gail. *Reinventing Revolution: New Social Movements and the Socialist Tradition in India*. New Delhi: Oxford University Press, 1993.
- Jodhka, Surinder S. *Agrarian Change and Rural Society in India*. New Delhi: Sage Publications, 2012.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha
February 2026
ISSN : 2395-7115
Page No. : 67-72
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

भारतीय ज्ञान परम्परा और आयुर्वेदीय चिकित्सा

डॉ. बिहारी लाल द्विवेदी
प्राचार्य, मेकलसुता कॉलेज डिण्डौरी।

सारांश –

भारत विदेषी परतंत्रता के कठोर बन्धन से हजारों वर्षों बाद मुक्त हुआ है, पर पूर्ण स्वतन्त्रता हमें अभी नहीं मिली है यह स्वतंत्रता उसी समय मिलेगी, जब हमारी संस्कृति, भाषा एवं चिकित्सा पद्धति पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से मुक्त होंगी। यूं तो स्वाधीनता का एक व्यापक विषय है एवं उसमें सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भाषा, भोजन, वस्त्र और चिकित्सा सभी समाते हैं। पर इन सभी में तीन चीजें स्तम्भ की भाँति होती हैं। वह हैं संस्कृति, भाषा एवं चिकित्सा जो किसी देष समाज की मौलिकता को जीवित रख सकती हैं। सभ्यता और धर्म सांस्कारिक वस्तुएँ हैं एवं भाषा, भोजन, वस्त्र और चिकित्सा ये चारों ही आत्मनिर्भर बनने के लिये प्रेरणा देती है। इस–लिये सभ्यता और धर्मरक्षा के लिये संस्कार या संस्कृति की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता एक दूसरे के बन्धन के लिये भाषा की भी है। क्योंकि भाषा के बिना सभ्यता से चिकित्सा तक सभी बंधनहीन हैं। अब चिकित्सा के सम्बन्ध में देखते हैं तो मानव जीवन के लिये गर्भ–प्रवेश के साथ भोजन और औषधि की आवश्यकता होती है। अतः भोजन और औषधि को एक ही पर्याय में लेकर भारत के लिये कौन–सी प्रणाली श्रेष्ठ है। भोजन और औषधि को एक ही पर्याय में इसलिये लिया जा रहा है कि मानव शरीर के लिये जो भोज्य पदार्थ है, वही औषधि है और जो औषधि है, वही भोज्य है।

प्रमुख शब्द :– आयुर्वेदिक चिकित्सा, पंचमहाभूतों, आध्यात्मिक विकास, होम्योपैथी, ऐलोपैथी, साइकोपैथी, नेचरोपैथी, हाईजीजम' आदि।

भारत विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यताओं में से एक रहा है, जहाँ ज्ञान को जीवन का आधार माना गया। भारतीय ज्ञान परम्परा का विकास वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक निरंतर होता रहा है। इस परम्परा में जीवन, प्रकृति, समाज और ब्रह्माण्ड के गूढ़ रहस्यों पर गहन चिंतन किया गया है। भारतीय ऋषि–मुनियों ने अनुभव, अवलोकन और तर्क के माध्यम से ज्ञान को विकसित किया और उसे वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतियों तथा विभिन्न शास्त्रों के रूप में संकलित किया।

भारतीय ज्ञान परम्परा केवल आध्यात्मिक या धार्मिक ज्ञान तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसमें विज्ञान, गणित, खगोलशास्त्र, चिकित्सा, वास्तु, योग, दर्शन और नैतिक जीवन के सिद्धांत भी शामिल रहे हैं। इस ज्ञान परम्परा का मुख्य उद्देश्य मानव जीवन को संतुलित, स्वस्थ और सुखी बनाना रहा है। इसी ज्ञान परम्परा का एक महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक अंग आयुर्वेद है, जिसे 'आयुः. वेद' अर्थात् जीवन का ज्ञान कहा जाता है। आयुर्वेदिक

चिकित्सा पद्धति भारत की प्राचीनतम चिकित्सा प्रणाली है, जिसकी जड़ें अथर्ववेद और चरक संहिता, सुश्रुत संहिता तथा अष्टांग हृदय जैसे ग्रंथों में मिलती हैं। आयुर्वेद मानव शरीर को पंचमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से निर्मित मानता है तथा त्रिदोष सिद्धांत (वात, पित्त और कफ) के आधार पर शरीर की संरचना और रोगों की व्याख्या करता है। आयुर्वेद का उद्देश्य केवल रोगों का उपचार करना ही नहीं, बल्कि रोगों की रोकथाम, दीर्घायु और उत्तम जीवनशैली को बढ़ावा देना भी है। इसमें आहार, विहार, दिनचर्या, ऋतुचर्या, योग, ध्यान और औषधीय वनस्पतियों का विशेष महत्व बताया गया है। आयुर्वेद शरीर, मन और आत्मा के सामंजस्य को स्वास्थ्य का आधार मानता है, जो आधुनिक समग्र स्वास्थ्य अवधारणा से भी मेल खाता है।

इस प्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा और आयुर्वेदिक चिकित्सा मानव जीवन के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए एक समग्र और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, जो आज भी विश्व भर में उपयोगी और प्रासंगिक मानी जा रही हैं।

महर्षि सुश्रुत भी कहते हैं–

अन्नमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवनम्।
एश सारचिकित्साया यदमेःपरिरक्षणम्।। [1]

भोज्य पदार्थ ही बल–रक्षा या शरीर–रक्षा का मूल कारण है, और जीवन बलाधीन है।

महर्षि चरक भी कह रहे हैं–

द प्राणा हि प्राणिभूतानामन्नं लोकोऽभिधावति।
वर्णप्रसादः सौस्वर्य जीवितं प्रतिभा सुखम्।।
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्।
लौकिकं कर्म यद् वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम्।।
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्। [2]

'अन्न ही प्राणि–समूह के लिये प्राणस्वरूप है, सर्वलोक अन्न के लिये आग्रह शील है, वर्ण, सुस्वरता, जीवन, प्रतिभा, सुख, तुष्टिः पुष्टि, बल एवं मेधा सभी भोज्य बस्तु के आश्रित हैं। आजीविका के लिये लौकिक कार्य, स्वर्ग लाभ के लिये वैदिक क्रियानुष्ठान एवं मुक्ति–साधन के लिये जो पारमार्थिक क्रियाएं की जाती हैं, सभी अन्न पर प्रतिष्ठित हैं।

पृथ्वी में मनुष्यों को रोग–कातर देखकर भरद्वाज, आदि महर्षियों ने आयुर्वेद–चिकित्सा की साधना बताने की प्रार्थना देवराज इन्द्र से किया और कहा कि–'भूमण्डल में मानव रोग पीड़ित हो रहे हैं एवं उन अनगिनत रोगियों की रक्षा के लिये हम सेवा कार्य करना चाहते हैं। इस लिये आप हमें अष्टाण्ग आयुर्वेद की शिक्षा दीजिये।'

उन महर्षियों का उद्देश्य आज भी व्यवसाय करने का नहीं था। इनका उद्देष्य चरक और शुश्रुत के आयुर्वेद का प्रचार करना था न कि चतुरवर्ग की फल्याति धन संग्रह के लिये इसका उपयोग प्राचीन आचार्यों ने कभी नहीं किया, इसीलिये आयुर्वेद में कहा गया है–

धर्मार्थकान मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।। [3]

संस्कार, धर्म, भाषा, भोजन और वस्त्र आदि को इसी मूलमन्त्र में हम सभ्यता, अनुमान द्वारा प्राप्त कर लेते

हैं।

आज पृथ्वी में जो पाँच प्रकार की चिकित्सा पद्धतियाँ आई हैं— जिन्हें 'होम्योपैथी, ऐलोपैथी, साइकोपैथी, नेचरोपैथी और हाईजीजम' के नाम से पुकारते हैं— उनके मूल तत्वों को आयुर्वेद के पंच निदान में महर्षियों ने लिखा है—

हेतु—विपरीत, व्याधि—विपरीत, हेतु या व्याधि—विपरीत, हेतु सम एवं व्याधि सम औषध, अन्न और विहार का उपयोग शरीर के लिये सुखदायक या आरोग्यकारक है।

महर्षियों की गम्भीर दृष्टि चारों ओर घूमा करती थी, आज की होम्योपैथिक लाक्षणिक एवं एलोपैथी की विपरीत चिकित्सा पद्धति तथा नेचरोपैथी या प्राकृतिक चिकित्सा, साइकोपैथी या मानसिक चिकित्सा और हाईजीजम या व्यायामः चिकित्सा पर महर्षियों ने उत्तम रीति से विचार भी किया है। महर्षि चरक ने रसायन—अधिकार में दीर्घ जीवन के लिये को कुटी—प्रावेशिक, द्रोणी—प्रावेशिक, बातातपिक एवं आचार—रसायन की व्यवस्था की थी, उसमें पांचभौतिक देह के लिये चतुर्विंशति तत्त्वों को चिकित्सा कार्य में लिया है। किस स्थान के जल से रोग का नाष होता है, आयुर्वेदीय चिकित्सा—प्रणाली की विषेषता है। किस स्थान की मृत्तिका से रोग ठीक होता है, कहां— की बायु रोगोद्धारक है, सूर्य के तेज द्वारा किस ऋतु में कौन—सा रोग नष्ट होता है— इस तत्त्व पर व्यापक रूप में दृष्टि डाली थी। आयुर्वेद की दिन चर्या, रात्रि चर्या, ऋतु चर्या एवं ब्रह्मचर्य पालन विधि ही सम्भवतया विश्व में सर्वोत्कृष्ट प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली है। उत्तरायण या दक्षिणायन—भेद से सूर्य के आदान, विक्षेप और विसर्ग काल में जीव—जगत् एवं पदार्थों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है इसकी लौकिक और आध्यात्मिक ढंग से तर्कः मुक्तिः प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा महर्षि चरक ने मीमांसा की है।

प्राचीन आचार्यगण धर्म—शास्त्र के साथ चिकित्सा को भी एक धर्मशास्त्र ही मानते थे, क्योंकि भोजन द्वारा मनुष्य की बुद्धि विपरीत भाव को प्राप्त कर लेती है, इस गम्भीर तत्व को सबसे पहले एतद्देशप्रसूत अग्रजन्मा' महर्षिगण ही जान पाये थे— इसे अनुमान द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। आज वह हमारे लिये प्रत्यक्ष है। विदेशी प्रभाव में पड़कर, विदेशी भोजन से अभ्यस्त व्यक्ति भारतीय संस्कृति, भारतीय भाषा एवं भारतीय चिकित्सा से घृणा रखते हैं, नहीं तो आज भारत परम असहिष्णु और संयमहीन कैसे हो गया।

अन्न के सम्बन्ध में आयुर्वेद से 'प्रमाण दिये जा चुके हैं। अब उसी अन्नको जब पथ्य के रूप में महर्षियों ने निर्देश दिया है, तब कहते हैं—

विनापि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्यविहीनानां भेषजानां शतैरपि।। [4]

पथ्य द्वारा ही रोग आरोग्य हो सकता है, पथ्य—विहीन सैकड़ों औषधियों से भी रोग में आराम नहीं हो सकता। यानी यहाँ भी आयुर्वेद अन्न पर ही चिकित्सा को स्थापित कर रहा है।

प्राचीन आचार्य पंच भूतात्मक देह की प्राकृतिक ढंग से रक्षा के लिये, सदैव प्रयत्नशील थे। आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सक नेचरोपैथी या हाइड्रोपैथी के नाम से जो पद्धतियाँ चली आ रही हैं, उनके मूल तत्त्व में आयुर्वेद ही है।

प्रयोगः शमवेद् व्याधि यो नैवान्यमुदीरयेत्।
नासो विशुद्धः शुद्धस्तु शमवेद्र यो न कोपयेत्।। [5]

'जिस ओषधि के प्रयोग से रोग की शान्ति होती है एवं जो दूसरी किसी व्याधि को उत्पन्न नहीं करता, वही शुद्ध प्रयोग है। महर्षि चरक एवं अपरापर आचार्य भी इसी आधार पर चलते थे। स्वल्पाहारी ही दीर्घ जीवन का उपाय है। महर्षि चरक सूत्रस्थान के पाँचवें अध्याय में लिख रहे हैं–

यावद्ध यस्याशनमशितमनुपहत्व प्रकृति गवाकार्ड जरी मात्राशीस्यात्।
आहारमात्रा पुनरग्निक्लापेक्षिणी गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितवर्ष भवति।।[6]

मिताहारी होना चाहिये, मिताहार से ही प्रकृति ठीक रहती है। परिमित आहार के सम्बन्ध में जैमिनि–दर्शन में एक जनश्रुति प्रचलित है। एक बार महर्षि जैमिनि आश्रम में बैठे थे। उस समय वृक्ष शाखा में एक पक्षी बोल उठा–'कोऽरु?' यानी कौन अरोगी है? उत्तर में जैमिनि ने कहा– हितमुक !! यानी जो हितकर, पुष्टिकर और विशुद्ध आहार करता है। पक्षी फिर ब्रोला–'कोऽयकू ?' जैमिनि ने भी उत्तर दिया, 'मितमुक्!' यानी परिमित आहार करनेवाला, जिससे रोग ही न हो! इसी प्रकार पक्षी फिर जब बोल उठा– 'कोऽरुकू!' तब जैमिनि ने कहा, 'हितमुक मितमुक्।' यानी जो व्यक्ति अग्नियल एवं द्रव्यों के गुणागुण तथा इन्दु और सूर्यके आदान–विक्षेप एवं विसर्ग काल को जानंकर समयानुकूल शरीर–पोषण योग्य आहार करता है, यही व्यक्ति नीरोग रहकर दीर्घ–जीवन प्राप्त करता है।

आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त इसी नीति पर आश्रित है। मनुष्य प्रकृति को आश्रय करते हुए अन्न, पानी, एवं सदाचार द्वारा अपने जीवन एवं शरीर को सुरक्षित रखे। इसी ध्येय पर आयुर्वेद अनादि काल से चला आ रहा है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तों को जब हम भूल गये, तभी से हम 'नीरोग' शब्द को भी भूल गये हैं, एवं 'शरीरं व्याधि–मन्दिरम् तत्त्व को पाश्चात्य वैश्य जनों से ग्रहण कर लिया है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है–

भरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्।
यो विन्दु धारयेत् नित्यं स जीवति सदा सुखम्।।[7]

चरक ने रसायन में लेकर आचार–रसायन बनाया था और हम उस आचार–रसायन को पाश्चात्य भोग–भूमि के अचार–रसायन में रूपान्तरित करते हुए, पार्थिव सुख के लिये अपार्थिव अवदान पर स्वयं ही गालियाँ देते हैं। त्यागव्रती एवं महान् ऋषियों ने भारत को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष– इस चतुर वर्ग का फल एक ही साथ प्राप्त कराने के लिये वेद, उपनिषद् एवं दर्शन–शास्त्र से सम्बन्ध रखकर आयुर्वेद का प्रचार किया था।

यथा– **विद्ययामृतमश्नुते।**[8]

विद्या से ही अमृतत्व लाभ होता है। आयु के हित के लिये आयुर्विद्या–

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिदुःखभाग्भवेत्।[9]

आयुर्वेद पार्थिक एवं पारमार्थिक सुख देता था। यदि भारतीय विद्या ने उन लोगो का विश्वास न होता तो याज्ञवल्य जी की त्याग परायणा पत्नी मैत्रेयी यह नहीं कहती–

येनाहं नात्वास्यां तेन किमहं कुर्याम।'

अर्थात् जिससे अमृत तत्व लाभ नहीं होता, उसे लेकर क्या करूँगी। इसीलिये विष्णुपुराण में कहा गया है–

यतो हिं कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः।
तत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।।[10]

इस संसार में भारत ही श्रेष्ठ भूमि है, क्योंकि यह कर्मभूमि है। भारत के सिवा सारी भूमि भोगभूमि है।' इसका प्रमाण हम आज चारों ओर ही देख रहे हैं। पाश्चात्य भौतिक विज्ञान मानव को सुखी बनाने के लिये अणुबम (Atom Bomb) तक पहुँच गया है। ध्वंस के कराल मुख में मानव समाज को पहुँचाने के लिये एवं स्वयं सुखी बनने के लिये, यह सारी प्रचेष्टा है। पाश्चात्य चिकित्सा–विज्ञान पेटेन्ट औषधियों द्वारा समग्र विश्व को ग्रास करने के लिये जिस व्यावसायिक क्रम की सृष्टि शताब्दियों से करता आ रहा है, उसका परिणाम केवल जन स्वास्थ्य पर ही नहीं, बल्कि संस्कृति पर चोट पहुँचाने के साथ–साथ आर्थिक पराधीनता में भी भारत–जैसे देश को अनन्त काल तक जकड़कर रख सकता है। भारत–जैसे षड्ऋतु प्रधान देशमें सभी पाश्चात्य विदेशीय औषधियाँ निर्विचार सभी रोगों में चल सकती हैं या नहीं इस सम्बन्ध में भारतीय वैज्ञानिक ध्यान देना उचित नहीं समझते।

बारहों मास मद्य, मांस एवं अण्डे का सेवन करने वाले शीत प्रधान देश की औषधि, पथ्य एवं इंजेक्शन भारत–जैसे षड्ऋतु प्रधान– विशेषतया ग्रीष्म प्रधान देशमें सभी ऋतुओं में चल सकते हैं या नहीं इस ओर यदि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हम न सोचें तो कम–से–कम हमें स्वास्थ्य की दृष्टि से तो सोचना ही पड़ेगा। जहाँ गर्मी के कारण ग्रीष्म ऋतु में रक्त का उतार चढ़ाव बहुत ही शीघ्र होता रहता है, यहाँ शीत देशीय इंजेक्शन का प्रभाव स्नायु और धमनी पर किस ढंगसे पड़ता है इसे हम नहीं समझते पर त्रिकालदर्शी महर्षि चरक जानते थे एवं सारी पृथ्वी के लिये ही चरक ने कहा है–

यस्य देशस्य यो जन्तुस्तत्वं तस्योपहितम्।

क्या है इससे प्रमाणित नहीं होता कि आयुर्वेद ही श्रेष्ठ चिकित्सा प्रणाली है। यदि हमें संस्कृति एवं स्वात्व की रक्षा करनी है तो आयुर्वेद की राष्ट्रीयता के लिये तथा उसकी श्रेष्ठता का प्रदर्शन कर उसे विश्वसभा में आसन दिलाने के लिये आगे बढ़ना ही पड़ेगा।

अस्तु, आयुर्वेद प्रणाली की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में यदि हम ऐतिहासिक निर्णय पर जाना चाहें तो हमें जानना चाहिए कि पाश्चात्य देशों के बहुत–से मनीषी आयुर्वेद की श्रेष्ठता को मानते थे एवं आज भी मानते हैं। जब भारत से आयुर्वेद यूनान एवं अरब में गया था, एवं वहाँ से अनुपादित होकर पाश्चात्य देशों में इसका प्रभाव बढ़ा, उस समय के इतिहास से आज हमें कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। अब पुर्नभ्युदय–काल में हमें आयुर्वेद के लिये विश्व पटल पर स्थान प्राप्त करने के लिये देश के प्रमुख नेता, वैज्ञानिक और आम जनता को आयुर्वेद की ओर आकर्षित करने का भगीरथ–प्रयत्न करना चाहिये। आयुर्वेद में काष्ठौषधि एवं रसौषधि की दो पद्धतियां ही एक सीमा के अंदर कार्य करती आ रही हैं, इस लिये गरीब से गरीब जनता एवं धनी से लेकर राजा तक भारत की सभी जनता आयुर्वेद से ही लाभान्वित हो सकती है, जिसमें प्राकृतिक विधान, सदाचार–विधान आदि नैसर्गिक विधि–निषेध का भण्डार भी पूर्णतया विद्यमान है। राष्ट्रीय अभिमान प्रत्येक जाति को है, इसी दृष्टि से चिकित्सा की राष्ट्रीयता के लिये आयुर्वेद की श्रेष्ठता विश्व के सम्मुख उपस्थित करने के लिये भारतीय वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहिये। शरीर–तत्त्व में जो वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वय हुआ है, वह आधुनिक भौतिक विज्ञान के लिये एक स्वप्न ही है।

निष्कर्ष :

भारतीय ज्ञान परम्परा मानव जीवन को संतुलित, स्वस्थ और सुखी बनाने का मार्ग दिखाती है। आयुर्वेद इस परम्परा का एक महत्वपूर्ण अंग है, जो रोगों के उपचार के साथ–साथ स्वस्थ जीवनशैली पर भी जोर देता है। यह शरीर, मन और आत्मा के सामंजस्य को स्वास्थ्य का आधार मानता है। आधुनिक समय में आयुर्वेद और भारतीय ज्ञान परम्परा की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। इसलिए कहा जा सकता है कि ये मानव कल्याण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं।

संदर्भ ग्रंथ –

1. नीति श्लोक।
2. चरक संहिता, अध्याय 27
3. चरक संहिता, सूत्र 1/15
4. चरक संहिता, सूत्र अध्यााय 05
5. अष्टाण्ग हृदयम्
6. अष्टाण्ग हृदयम्
7. हठयोग प्रदीपिका 3/88
8. ईषावाष्योपनिषद' 8
9. महोपनिषद, अध्याय 6
10. विष्णुपुराण, द्वितीय अंष, अध्याय 03

मो0– 9424723147

drbiharilaldwivedi@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 73-77

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

चंबल संभाग में भारत छोड़ो आंदोलन : एक ऐतिहासिक अध्ययन

धीरज मीणा
जे.आर.एफ. देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर।

शोध सारांश –

भारत छोड़ो आंदोलन (1942 ई.) भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक निर्णायक एवं जनआधारित आंदोलन था, जिसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ों को गहराई से चुनौती दी। क्रिप्स मिशन की असफलता, युद्धजनित आर्थिक संकट तथा जापानी आक्रमण की आशंका ने भारतीय जनमानस में तीव्र असंतोष उत्पन्न किया, जिसके परिणामस्वरूप महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत छोड़ो आंदोलन का सूत्रपात हुआ। यह आंदोलन औपचारिक नेतृत्व के अभाव के बावजूद स्वस्फूर्त रूप से देश के विभिन्न भागों में फैल गया।

इस शोध का उद्देश्य भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान चंबल संभाग (मुरैना, भिंड एवं श्योपुर) की भूमिका का ऐतिहासिक विश्लेषण करना है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि चंबल क्षेत्र में इस आंदोलन को छात्रों, युवाओं एवं स्थानीय नेतृत्व ने प्रभावी रूप से संचालित किया। ब्रिटिश दमन, गिरफ्तारियों तथा प्रतिबंधों के बावजूद यहाँ भूमिगत गतिविधियाँ, जनसभाएँ, विद्यालय बहिष्कार एवं संगठनात्मक विस्तार निरंतर जारी रहा। शोभा बंसल जैसी महिला स्वतंत्रता सेनानियों की सक्रिय भूमिका ने आंदोलन को सामाजिक विस्तार प्रदान किया।

शोध यह भी दर्शाता है कि चंबल संभाग में गांधीवादी अहिंसात्मक विचारधारा के साथ–साथ क्रांतिकारी प्रवृत्तियों का भी प्रभाव था, जिसका प्रमाण आजाद हिंद फौज में क्षेत्रीय युवाओं की भागीदारी से मिलता है। निष्कर्षतः चंबल संभाग भारत छोड़ो आंदोलन की एक महत्वपूर्ण, किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से अपेक्षाकृत उपेक्षित कड़ी है, जिस पर और अधिक गहन शोध की आवश्यकता है।

परिचय –

क्रिप्स मिशन की असफलता से स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के किसी भी प्रकार के समझौते और वास्तविक संवैधानिक रियायतें देने को तैयार नहीं है। दूसरी तरह युद्धजनित आर्थिक कठिनाईयों से भारतीय जनमानस का असंतोष बढ़ने लगा और भारत पर जापान आक्रमण का भय भी सताने लगा था इन्हीं परिस्थितियों में गांधीजी ने अंग्रेजों को तुरंत भारत छोड़ने के लिए कहा इसके लिए एक आंदोलन चलाने का निर्णय लिया। जुलाई,1942 ई. में अब्दुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में कांग्रेस कार्य समिति की बैठक वर्धा (महाराष्ट्र) में बुलाई गई । इसमें गांधी जी के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए उन्हें भारत छोड़ो आंदोलन प्रारंभ करने हेतु अधिकृत

किया गया। 8 अगस्त 1942 ई. को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक ग्वालिया टैंक, बम्बई में हुए। इस बैठक में भारत छोड़ो आंदोलन का प्रस्ताव पारित किया गया तथा घोषणा की गई कि –भारत में ब्रिटिश शासन को तुरंत समाप्त किया जाए, स्वतंत्र भारत सभी प्रकार की फासीवाद एवं साम्राज्यवादी शक्तियों से स्वयं की रक्षा करेगा तथा अपनी अक्षुण्णता को बनाए रखेगा, अंग्रेजों की वापसी के पश्चात कुछ समय के लिए अस्थाई सरकार की स्थापना की जाएगी, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आंदोलन का समर्थन किया गया, गांधी जी को संघर्ष का नेता घोषित किया गया भारत छोड़ो आंदोलन प्रारंभ होने की उसी सुबह ऑपरेशन जीरो ओवर के तहत कांग्रेस के महत्वपूर्ण नेताओं को गिरफ्तार कर लिये गये तथा आंदोलन नेतृत्वहीन हो गया। ब्रिटिश सरकार ने आंदोलन के प्रति निर्मम दमन की नीति अपनाई और कांग्रेस को अवैधानिक संस्था घोषित कर दिया गया।

परिणाम स्वरूप इस आंदोलन में एक भूमिगत संगठनात्मक ढांचा भी तैयार हो गया। भूमिगत आंदोलन की बागडोर अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, सुचिता कृपलानी, राम मनोहर लोहिया के हाथों में थी। हजारीबाग सेंट्रल जेल से भागने के बाद जयप्रकाश नारायण ने भूमिगत होकर इस आंदोलन की बागडोर संभाली। आंदोलन के दौरान उषा मेहता ने रेडियो प्रसारण का कार्य प्रारंभ किया राम मनोहर लोहिया नियमित रूप से इस कार्य से जुड़े हुए थे। बम्बई शहर के विभिन्न केंद्रो से कांग्रेस रेडियो पर गुप्त रूप से संचालन किया गया था। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान देश के विभिन्न भागों में जैसे– बलिया (उत्तर प्रदेश), तामलुक (बंगाल), सतारा (महाराष्ट्र) में समानांतर सरकारों का गठन किया गया। भारत छोड़ो आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के परिपक्व चरण को दर्शाता है। इस समय भारतीय राष्ट्रवाद का प्रचार प्रसार अर्ध नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में होने लगा। इस क्रम में चम्बल संभाग भी भारत छोड़ो आंदोलन की ऐतिहासिक विरासत को समेटे हुए हैं। चंबल संभाग मध्यप्रदेश का एक प्रमुख प्रशासनिक एवं भौगोलिक क्षेत्र है। जिसका गठन 2 अक्टूबर 1981 को किया गया था। इस संभाग में मुरैना, भिंड और श्योपुर जिले सम्मिलित हैं। चंबल नदी इस क्षेत्र की जीवनरेखा है, जिसके नाम पर ही संभाग का नामकरण हुआ। चंबल संभाग ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक दृष्टि से समृद्ध है। यहाँ प्राचीन गुफाएँ, किले, स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े स्थल और वन्यजीव अभयारण्य पाए जाते हैं। कृषि यहाँ की मुख्य आजीविका है तथा यह क्षेत्र अपने बीहड़ों/उत्खात भूमि एवं अवनालिका अपरदन के लिए भी जाना जाता है। वर्तमान संदर्भ में भी चंबल संभाग का भारतीय सैन्य बलों में विशेष योगदान परलक्षित होता है।

चम्बल संभाग में भारत छोड़ो आंदोलन :

मुरैना – चम्बल संभाग का जिला मुरैना भी भारत छोड़ो आंदोलन की गतिविधियों में अत्यधिक सक्रिय रहा था। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान जब महात्मा गांधी साहित अन्य राष्ट्रीय नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और जब विदिशा में आयोजित सार्वजनिक सभा के छात्रों को गिरफ्तार किया तो मुरैना जिले में भी ब्रिटिश के खिलाफ असंतोष बढ़ने लगा फलस्वरूप मुरैना में भी ब्रिटिश दमन चक्र चलता रहा। इस दौरान देवीदयाल रुद्र, डॉ. सदानंद एवं जगन्नाथ प्रसाद आदि 23 अगस्त 1942 ई. को गिरफ्तार कर लिये गये। मुरैना में भारत छोड़ो आंदोलन की कमान मुख्यतः युवा एवं छात्रों के हाथों में रही इनमें गुलाब चंद्र वर्मा, हरिराम राठी एवं वृंदावन सिंह प्रमुख रहे। दिमनी क्षेत्र के छात्रों ने स्थानीय लोगों को भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। चंबल संभाग की एकमात्र महिला स्वतंत्रता सेनानी शोभा बंसल, जो मुरैना से सम्बन्धित है, का भारत छोड़ो

आंदोलन में उल्लेखनीय योगदान रहा है राष्ट्र प्रेम की भावना से प्रेरित शोभा बंसल ने घर–घर जाकर मुरैना की महिलाओं को आंदोलन में भाग लेने हेतु प्रेरित किया था।[3] ग्वालियर संभाग की भांति मुरैना में भी ग्वालियर राज्य सार्वजनिक सभा की शाखाओं की स्थापना की गयी जो पहले तहसील स्तर पर और उसके बाद ग्रामीण स्तर पर की गयी। मुरैना जिले की जिन कमेटियों ने राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों में सक्रिय योगदान दिया उनमें मुरैना, बमौर, जिगनी, रिथौराकलां, सरायछोला देवरी, इमलिया, बुधारे, पोरसा, धरमगढ़, नगरा, मिधान, गोंठ, कमतरी, बड़ागांव, किरयांच, राजोधा, चांदपुर, खड़ियाहार, सिहोनिया, बागचीनी, बासी दतेहरा, परसोटा, खेम मेवड़ा, मुद्रावजा, कैलारस, सुमावली, भैंसटोली, लघेल, सुजानगढ़ी, अरहेला, रामपुर, बामसौली प्रमुख है।[4] अंबाह में सार्वजनिक सभा की स्थापना एवं प्रचार में शंकर सिंह, देवीराम, श्री गोपाल एवं प्रहलाद सिंह ने अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया।[5] मुरैना एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में कांग्रेस संगठन के विस्तार का कार्य हरिदास राठी एवं उनके सहयोगियों द्वारा सफलतापूर्वक संपादित किया गया इसी कार्य को अंबाह में रामनिवास शर्मा एवं सबलगढ़ में बालमुकुंद द्वारा गति प्रदान की गयी।

भिंड – भारत छोड़ो आंदोलन के लिए आयोजित विदिशा में सार्वजनिक सभा के छात्रों को जब ब्रिटिश सरकार ने गिरफ्तार कर लिया तब भिंड क्षेत्र में तीव्र आक्रोश फैल गया।[6] परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने भिंड के प्रमुख छात्र नेता हरिकिशन दास भूता एवं यशवंत सिंह कुशवाह को भारतीय सुरक्षा अधिनियम के अंतर्गत गिरफ्तार कर लिया।[7] इससे ब्रिटिश के प्रति भिंड में जनाक्रोश बढ़ने लगा।[8] साथ ही भारत छोड़ो आंदोलन के भूमिगत चरण में श्रीनाथ गुरू एवं रघुवीर सिंह कुशवाह ने भूमिगत रहते हुए प्रभावी ढंग से आंदोलन को जारी रखा।[9] दीपचंद्र पालीवाल की भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान भिंड क्षेत्र में प्रभावी नेतृत्व किया। 12 अगस्त 1942 ई. को उन्होंने भिंड में विद्यार्थियों की बैठक आयोजित की। इसमें सरकारी विद्यालयों के बहिष्कार का निर्णय लिया गया जो बहुत सफल रहा फलस्वरूप सरकार पर दबाव बना। अंततः 1 सितंबर 1942 ई. को स्थानीय शासन ने एक आदेश के द्वारा चम्बल संभाग के सभी विद्यालय अनिश्चित काल के लिए बंद कर दिये। भिंड जिले में मेहगांव के जुगल किशोर सक्सेना भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान अत्यधिक सक्रिय रहे सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर 3 माह के कारावास की सजा दी। मेहगांव के ही बैजनाथ प्रसाद शर्मा ने भारत छोड़ो आंदोलन की गतिविधियों में भाग लिया परिणामस्वरुप इन्हें राज्य पुलिस सेवा से बर्खास्त कर दिया। प्रशासनिक प्रमाणों के आधार पर पता चलता है कि भिंड जिले की परगना गोहद के छात्र नेता विजयानंद को भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान गिरफ्तार कर लिया। सम्भवतः इन्होंने महात्मा गांधी के दर्शन एवं भारत छोड़ो आंदोलन के कार्यक्रमो का गोहद क्षेत्र में प्रचार प्रसार किया होगा।[10] बड़े लाल भी गोहद क्षेत्र के एक अन्य स्वतंत्रता सेनानी थे ब्रिटिश सरकार ने इन्हें कारावास डाल दिया।[4] भिंड जिले की लहार तहसील के ब्लॉक आलमपुर में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया दिखाई देती है।[5] रामचरण लाल करेले यहां के मुख्य सेनानी थे। 1939 ई. में इन्हीं की दुकान के सामने विदेशी वस्तुओं एवं कपड़ों की होली जलाई गई थी।[6] आंदोलन के इस चरण में आलमपुर में कई व्यक्तियों ने सक्रिय भूमिका निभाई उनमें नाथूराम अग्रवाल, शिवदयाल गुप्ता, प्रकाश चंद्र त्रिपाठी, लल्लूराम झा एवं नाथूराम सोनी मुख्य है।

लहार तहसील के दबोह में भी भारत छोड़ो आंदोलन की सक्रियता को देखा जा सकता है।[7] यहां बाबूराम सर्राफ ने महात्मा गांधी के सिद्धांतों से प्रेरित होकर आंदोलन का प्रचार प्रसार किया। सौभाग्यमल जैन यहां के

एक अन्य स्वतंत्रता सेनानी थे। भिंड जिले की अटेर तहसील के गांव कलोरा में भारत छोड़ो आंदोलन की एक वर्षगांठ मानने हेतु 8 अगस्त 1943 ई. एक शिविर का आयोजन किया गया है।[8] इस आयोजन में ऊधम सिंह एवं योगेश चंद्र चटर्जी की महत्वपूर्ण भूमिका थी। प्रशासनिक अभिलेख से पता चलता है कि अटेर के गंगाराम मुनीम को भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लेने के कारण गिरफ्तार कर 6 माह की सजा सुनाई गई। अटेर के नूर खां को इस आंदोलन में भाग लेने के कारण 1 वर्ष के कारावास की सजा भुगतनी पड़ी। भिंड जिले के ग्राम पॉण्डरी के रघुवीर सिंह कुशवाह ने जब राष्ट्रीय नेताओं को गिरफ्तार कर लिया तो उन्होंने भिंड से 15 कि.मी. दक्षिण में स्थित एक रेलवे स्टेशन को जला दिया।□□

श्योपुर – तत्कालीन समय में श्योपुर मुरैना जिले का ही हिस्सा था। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभावी संचालन के लिए श्योपुर में भी ग्वालियर राज्य सार्वजनिक सभा की शाखाओं की स्थापना की गयी इनसे जुड़े प्रमुख नेतृत्वकर्ता हरिशंकर झा, उदयभानु सिंह मित्तल, हसन मोहम्मद, बनमाली प्रसाद उपाध्याय एवं केदारनाथ मुंशी थे। बाद में खेमचंद्र बंसल ने विजयपुर में, श्रवणलाल ने वीरपुर में, ओंकारलाल एवं रामगोपाल ने मानपुर में गुलाबचंद्र सर्राफ एवं चिरोंजीलाल ने ढोढर में, बद्रीप्रसाद एवं बहादुर सिंह ने पंडोल में, बद्रीप्रसाद पंडा ने बड़ौदा में, रामसेवक पाठक ने कराहल में एवं कलुआराम ने टेंटरा में, इन संस्थानों की स्थापना करवाकर राष्ट्रीय आंदोलन की भावना को जिले के दूरस्थ क्षेत्रों में प्रसारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। श्रीराम गोपाल मेहता ने श्योपुर में कांग्रेस के सिद्धांतों का प्रचार प्रसार किया। जीवन ब्रती श्री मेहता ने श्योपुर में खादी भंडार एवं खादी उत्पादक केन्द्र की स्थापना की। विजयपुर, वीरपुर, ढोढर, पंडोला, बड़ोदा एवं मानपुर में कांग्रेस कमेटियों एवं शाखाओं की स्थापना की गई।[3] जब भारत छोड़ो आंदोलन के नेताओं को को गिरफ्तार कर लिया तब आंदोलन स्वस्पूर्तः हो गया उस समय श्योपुर में एक छात्र आंदोलन प्रारम्भ हो गया था इसके प्रमुख नेता रघुवर दयाल रसोईया, नवल किशोर शर्मा एवं उदयभान सिंह चौहान थे। इस छात्र नेताओं की त्रयी ने भारत छोड़ो आंदोलन को जिले में संचालित कर राष्ट्रीय आंदोलन में योगदान दिया।[4]

निष्कर्ष –

चंबल संभाग स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक समृद्ध विरासत को अभिव्यक्त करता है। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान यहां राष्ट्रवाद का परिपक्व चरण दिखाई देता है। इस दौरान ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों में ब्रिटिश के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया नजर आती है। इसमें छात्र संगठनों का विशेष योगदान रहा है। यहां गांधीवादी विचाराधारा के साथ–साथ क्रांतिकारी विचारधारा का भी प्रभाव देखा जा सकता है। जब सुभाषचंद्र बोस ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सशस्त्र के लिए आजाद हिंद फौज की कमान संभाली तब चंबल संभाग के अनेक वीर इसमें शामिल हुए। इनमें मुख्य थे अब्दुल हमीद, उगारसिंह भदौरिया, उल्फत, नूर खां, भंवर सिंह भदौरिया, गणपति सिंह, राम भरोसे लाल शर्मा, शिवदयाल मिश्रा, मानसिंह कुशवाह आदि। इस तरफ चम्बल की भूमि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के साथ महत्वपूर्ण रूप से जुड़ी रही। हालांकि चंबल संभाग के ग्रामीण अंचल की राष्ट्रवादी गतिविधियां तात्कालिक ऐतिहासिक साक्ष्यों के अभाव में इतिहास की मुख्य धारा में अपना स्थान नहीं बना पायी है। वस्तुतः इस मुद्दे पर पृथक रूप से विस्तृत शोध कार्य अपेक्षित है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार, पृ. क. 260

2. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार, पृ. क 275
3. ग्वालियर राज्य की आजादी का संघर्ष, पृ. क्र. 37
4. कुशवाह श्री यशवंत सिंह – ग्वालियर राज्य की आजादी का संघर्ष भाग तृतीय, पृ. क्र. 28
5. कुशवाह श्री यशवंत सिंह – ग्वालियर राज्य की आजादी का संघर्ष भाग तृतीय, पृ. क्र. 28
6. स्वतंत्रता सेनानी दीपचंद्र पालीवाल के योगदान विषय पर स्थानीय समाचार पत्र दैनिक उदगार में दिनांक 26 सितंबर 1996 को प्रकाशित जीवन परिचय।
7. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 234
8. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 232
9. स्वतंत्रता सेनानी दीपचंद्र पालीवाल के योगदान विषय पर स्थानीय समाचार पत्र दैनिक उदगार में दिनांक 26 सितंबर 1996 को प्रकाशित जीवन परिचय।
10. स्वतंत्रता सेनानी दीपचंद्र पालीवाल के योगदान विषय पर स्थानीय समाचार पत्र दैनिक उदगार में दिनांक 26 सितंबर 1996 को प्रकाशित जीवन परिचय।
11. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 278
12. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 280
13. भदौरिया, श्री अर्जुन सिंह, नींव के पत्थर, पृ. क्र. 121
14. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 277
15. अग्रवाल श्री नाथूराम, स्वतंत्रता संग्राम की कहानी।
16. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 279
17. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 81– 82
18. भदौरिया, श्री अर्जुन सिंह, नींव के पत्थर, पृ. क्र. 141
19. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 277
20. शोध प्रबंध, गिर्राज सिंह तोमर, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में ग्वालियर – चंबल संभाग का योगदान।
21. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 279
22. भदौरिया, श्री अर्जुन सिंह, नींव के पत्थर, पृ. क्र. 141
23. कुशवाह श्री यशवंत सिंह – ग्वालियर राज्य की आजादी का संघर्ष भाग तृतीय, पृ. क्र. 28
24. कुशवाह श्री यशवंत सिंह – ग्वालियर राज्य की आजादी का संघर्ष भाग तृतीय, पृ. क्र. 28
25. मध्यप्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक खण्ड – चार पृ. क्र. 226

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 78-85
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

मध्य प्रांत के प्रमुख जंगल सत्याग्रह

डॉ. रामानुज प्रताप सिंह धुर्वे
सहायक प्राध्यापक इतिहास
शास. बा. सा. दे महा. कुनकुरी जिला जशपुर (छ.ग.)

सारांश :

आदिवासी जीवन शैली में जंगल जल जमीन का विशेष महत्व है। आदिवासियों की मूल पहचान ही जंगलों से है। मध्य प्रांत ब्रिटिश राज के महत्वपूर्ण प्रांतों में से एक था। मध्य प्रांत का कुल क्षेत्रफल 1,13,281 वर्ग मील था, जिसमें 82,093 वर्ग मील ब्रिटिश क्षेत्र थे तथा शेष 31,188 वर्ग मील क्षेत्र देशी रियासतों का था। तत्कालिन मध्य प्रांत एक प्रमुख आदिवासी बहुल राज्य था। इसके 22 जिलों में इसके अधिकांश जिलों में आदिवासी बहुसंख्यक आबादी रहती थी। मध्य प्रांत में गोंड, कोरकु, हल्बा, कंवर, कोल, बैगा प्रमुख आदिवासी समुदाय थे। इन आदिवासी समुदायों का जंगल से रिश्ता बहुत पुराना है। यह आदिवासी समुदाय अपने जीविकोपर्जन के लिए जंगलों पर ही निर्भर थे। अपनी जरूरत की हर वस्तु जंगलों से ही प्राप्त करते थे। आदिवासी अंग्रेजों के आने से पूर्व से ही इन जंगलों में रचे बसे हुए थे। ब्रिटिश शासन की स्थापना के उपरांत इन आदिवासी समुदायों के वन अधिकार धीरे–धीरे करके ब्रिटिश सरकार ने खत्म कर दिये। इन पर कड़ा नियंत्रण लागू कर दिया इन आदिवासी समुदायों ने अपने स्तर पर ब्रिटिश नियंत्रण का कड़ा प्रतिरोध किया परंतु असफल रहे। गांधीजी के स्वतंत्रता संग्राम में आने के पश्चात इन आदिवासी समुदायों को बाहरी दुनिया या कहे गैर आदिवासी नेताओं का सहयोग मिला और ये अपने वन अधिकारों की पूनः मांग करने लगे। मध्य प्रांत में यह आंदोलन जंगल सत्याग्रह के नाम से लोकप्रिय हुआ। जंगल सत्याग्रह का जो रुप हमें मध्य प्रांत में देखने को मिलता है वैसा अन्य किसी भी ब्रिटिश प्रांत में नजर नहीं आता। मध्य प्रांत के आदिवासी समुदायों ने इन जंगल सत्याग्रह को अपने ब्रिटिश विरोध का प्रमुख हथियार बना लिया था।

प्रस्तावना :

महात्मा गांधी जी ने जब 1930 में नमक कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत की और ब्रिटिश कानून की अवज्ञा को अपना प्रमुख हथियार बनाया तो संपूर्ण भारत में ब्रिटिश सरकार के दमनकारी कानूनों का विरोध प्रारंभ हो गया। गांधी जी के नमक सत्याग्रह का मूल आधार स्वदेशी संसाधन पर विदेशी अधिपत्य का विरोध था। इसी प्रकार मध्य प्रांत वन संपदा से परिपूर्ण राज्य था जहां वनों की अधिकता थी और यहां के आदिवासी समुदायों को इन वनों व इनके उत्पादों पर नाम मात्र का भी अधिकार नहीं था। जंगल

सत्याग्रह का मूल आधार नमक सत्याग्रह ही था। मध्य प्रांत में समुद्र का ना होना व जंगल की अधिकता व ब्रिटिश सरकार की कठोर वन नीति ने यहां के आदिवासी समुदायों को जंगल सत्याग्रह करने को विवश कर दिया। जंगल सत्याग्रह ने गांधीजी के सविनय अवज्ञा आंदोलन को दूरस्थ क्षेत्रों में पहुंचा दिया। शीघ्र ही जंगल सत्याग्रह मध्य प्रांत में सविनय अवज्ञा आंदोलन की पहचान बन गया। यह सत्य है कि मध्य प्रांत में सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय ज्यादा जंगल सत्याग्रह हुये लेकिन मध्य प्रांत में जंगल सत्याग्रह का प्रांरभ सविनय अवज्ञा आंदोलन के पूर्व ही 1922 में सिहावा नगरी जंगल सत्याग्रह से हो चुका था।

जंगल सत्याग्रह का प्रारंभ :

मध्य प्रांत ही नही वरन् भारत का पहला जंगल सत्याग्रह 1922 में सिहावा नगरी में हुआ जंगल सत्याग्रह था, लेकिन जंगल सत्याग्रह की वास्तविक शुरुवात गांधीजी के सविनय अवज्ञा आंदोलन के बाद हुयी। मध्य प्रांत में समुद्र का ना होना व जंगल की अधिकता व उससे उत्पन्न कठिनाइयों ने जंगल सत्याग्रह की नींव डाली। मध्य प्रांत में सविनय अवज्ञा आंदोलन का प्रारंभ सेठ गोविंद दास व डी. पी. मिश्र ने जबलपुर से महान आदिवासी वीरांगना गोंड शासिका रानी दुर्गावती की ऐतिहासिक समाधि से प्रारंभ करने का निर्णय लिया था।[1] जंगल सत्याग्रह के पहले सत्याग्रही डी. पी. मिश्र चुने गये थे परंतु उन्हे बंदी बनाये जाने के फलस्वरुप कांग्रेसी नेताओं ने बापूजी आणे के नेतृत्व में पूसौड़ जिला यवतमाल में 10 जुलाई को जंगल सत्याग्रह को आरंभ किया।[2]

जंगल सत्याग्रह का उद्देश्य व कार्यविधि :

मध्य प्रांत के आदिवासी घने जंगलो में निवास करते है यह प्रकृति के उपासक होते है। प्रकृति ही उनका सब कुछ है प्रकृति पर निर्भरता उनके जीवन का आधार है और अपने जीवन की गुलामी की बेड़ियो को तोडना साथ ही अपने जीवन की रक्षा करना जंगल सत्याग्रह का प्रमुख उद्देश्य था। जंगल सत्याग्रह का एक प्रमुख उद्देश्य जंगलों से प्राप्त होने वाले उत्पादों का कुशलतापूर्वक वह स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग का अधिकार प्राप्त करना था। यह अधिकार तभी प्राप्त किया जा सकता था जब जंगल पर ब्रिटिश नियंत्रण को ना मानते हुए जंगली उत्पादों को एकत्र किया जाए। मध्य प्रांत में जंगल सत्याग्रह के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाए गए विभिन्न कानूनों को जो वन व उससे उत्पन्न उत्पादों पर नियंत्रण लगाती थी उसका उल्लंघन करना था। इसके लिए सत्याग्रहियों ने कई तरीके आजमायें इसका सबसे आजमाया हुआ तरीका था जंगल में प्रवेश करना व जंगल से लकड़ी, टहनी, घास, पत्तियां एंव अन्य उत्पादों को एकत्र करना। जंगल सत्यागहियों ने अपने मवेशियों को जंगल में छोड़ देने का भी तरीका अपनाया। कई जगहों पर हमें वन व राजस्व कर्मचारियों के सामाजिक बहिष्कार के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं।

भारत की सत्ता प्राप्त करने के बाद अंग्रेजों ने विभिन्न कानूनों के माध्यम से जंगल को अपने संपूर्ण अधिकार क्षेत्र में ले लिया। आदिवासी समुदाय जो पीढ़ियो से अपनी जरुरतों के लिए जंगल पर निर्भर था एक झटके में ही वह वनों से दूर हो गया। जंगल सत्याग्रह का एक प्रमुख उद्देश्य इन वन कानूनों को सरल बनाना भी था। वनो से लगती जमीन या किसानों की जमीनों से लगती बंजर जमीनों में चारे उगाने तक की मनाही थी। जंगल के किनारे रहने वाले आदिवासियों को चारे तक के लिए संघर्ष करना पड़ता था। अपनी झोपड़ी के छतों की

मरम्मत करने के लिए आवश्यक सूखी घास भी बिना वनों के प्राप्त नहीं होती थी। आदिवासियों के लिए वन जीवन का आधार था और जंगल कानून का उल्लंघन इनके लिए जीवन को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय था।[3]

सिहावा नगरी जंगल सत्याग्रह :

मध्य प्रांत में जंगल सत्याग्रह की नींव सिहावा नगरी के आदिवासियों द्वारा डाली गई थी। वर्तमान में छत्तीसगढ़ के धमतरी जिले में स्थित सिहवा नगरी के भोले–भाले आदिवासियों को ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा जंगलों से बलपूर्वक बेदखल कर दिया गया था। वन अधिकारियों द्वारा जंगलों में बलपूर्वक उनसे कार्य़ करवाया जाता था इसके बावजूद उन्हें अपने उपयोग के लिए छोटी सी टहनी भी लाने की अनुमति नहीं थी। अगर उनके पालतू जानवर भी जंगलों में प्रवेश कर जाते थे तो सरकार आदिवासियों पर जुर्माना लगाती व उनके जानवरों को पकड़ लिया जाता था। सिहावा नगरी जंगल सत्याग्रह की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह आंदोलन आदिवासियों द्वारा प्रारंभ किया गया और इसके नेतृत्वकर्ता भी आदिवासी समुदाय से थे। सिहावा नगरी जंगल सत्याग्रह की कमान श्यामलाल सोम के हाथों में थी। श्यामलाल सोम के नेतृत्व में ही आदिवासियों ने जनवरी 1922 में जंगल से लकड़ी काटकर इस सत्याग्रह को प्रारंभ किया था।[4] श्यामलाल सोम व पंचम सिह व विशंभर पटेल आदि के प्रयासो से सत्याग्रह शीघ्र ही आदिवासियों के मध्य लोकप्रिय हो गया। इस सत्याग्रह में सिहावा, नगरी, सांकरा, बीरगुडी, दुगली, सिरसिदा, लखनपुर, बेलरबहरा, कसपुर, नवागॉव, उमरगॉव, गटटा सिल्ली आदि एक दर्जन से अधिक गॉवो के अदिवासीयों ने भाग लिया था। सिहावा नगरी के आदिवासियों शांतिपूर्ण प्रतिरोध को भी अंग्रेजी सरकार सहन नहीं कर पायी। सिहवा के जंगल सत्याग्रह की जानकारी जब अधिकारियों को मिली तब सत्याग्रह के तीसरे दिन धमतरी से एक अंग्रेज आई. सी. एस. अधिकारी बेली रायपुर के पुलिस कप्तान, धमतरी के सर्किल इंस्पेक्टर के नेतृत्व में शस्त्रों से सुसज्जित कई दर्जन कांस्टेबल भोले–भाले निःशस्त्र आदिवासियों के दमन के लिए भेजे गए।[5] सिहावा पहुंचकर अंग्रेजों ने आदिवासियों पर भयानक जुल्म ढाये। संपूर्ण गॉव की तलाशी ली गई और निजि लकड़ियों को भी जप्त कर लिया गया। सिहावा नगरी जंगल सत्याग्रह के आदिवासी किसी भी कीमत पर झुकने को तैयार नहीं थे और ब्रिटिश दंड को उन्होंने स्वीकार कर लिया। सिहावा नगरी जंगल सत्याग्रह में 33 आदिवासी व 6 कांग्रेस नेताओं को बंदी बनाया गया था। 33 लोगों को तीन माह व 6 सत्याग्रहियों को 6 माह की सजा सुनाई गयी।[6]

रायपुर जिले के प्रमुख कांग्रेसी नेता इस आंदोलन के समय अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन में गए हुए थें। वहां से वापस आने के उपरांत जब उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ तब पंडित सुंदरलाल शर्मा, पंडित नारायण राव, नत्थु जी जगताप आदि कांग्रेसी नेताओं ने नगरी पहुंचकर सत्याग्रह में सहयोग दिया। सिहावा नगरी जंगल सत्याग्रह में श्याम लाल जी सोम, अनंतराम गोंड, हरखराम गोंड, श्रीराम गोंड, बुधराम गोंड, बुलतुले गोंड, शोभाराम गोंड, झिटकु राम गोंड प्रमुख आदिवासी स्वयंसेवक थे[7] जिन्होंने पुलिस के अत्याचारों का सामना करते हुये भारत को जंगल सत्याग्रह का मार्ग बतलाया।

बैतूल जंगल सत्याग्रह :

सविनय अवज्ञा आंदोलन के शुरुवात के बाद पहला जंगल सत्याग्रह बैतूल जिले में हुआ। बापूजी आणे

के नेतृत्व में मध्य प्रांत में विधिवत प्रारंभ होने के उपरांत जंगल सत्याग्रह पूरे प्रांत में फैल गया। बैतूल जिला मध्य प्रांत के राजधानी नागपुर के नजदीक होने के कारण राजनीतिक रूप से काफी जागरूक था। बैतूल जिले के कांग्रेसी नेताओं द्वारा जिले भर में भ्रमण कर आम जनता को स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए प्रेरित किया जा रहा था। बैतूल जिले में जंगल सत्याग्रह की जिम्मेदारी कांग्रेसी नेताओं घनश्याम सिंह गुप्त व दीपचंद गोठी को सौंपी गई थी लेकिन अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। घनश्याम सिंह गुप्त व दीपचंद गोटी के नेतृत्व में 5000 गोंड व कोरकू आदिवासियों ने 1 अगस्त 1930 को चिखहर नामक स्थान पर जंगल सत्याग्रह किया था।[7]

बैतूल जिले में 1930 का सबसे प्रसिद्ध जंगल सत्याग्रह घोड़ाडोंगरी तहसील के बंजारी ढाल नामक गांव में हुआ था। घनश्याम सिंह गुप्त व दीप चंद की गिरफ्तारी के बाद बैतूल जिले में जंगल सत्याग्रह की कमान आदिवासियों ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया था। इन आदिवासियों का नेता गंजन सिंह कोरकू था। गंजन सिंह कोरकू ने 22 अगस्त 1930 को बंजारी ढाल नामक गांव में 500 पुरुष व महिलाओं की भीड़ को संबोधित किया। शाहपुर पुलिस ने उसे गिरफ्तार करने की कोशिश की तो पुलिस व आदिवासियों के मध्य झड़प हुई जिसमें कुछ पुलिसकर्मी घायल हो गए इनमें से एक की बाद में मृत्यु हो गयी। अगले दिन बैतूल पुलिस अधीक्षक अतिरिक्त पुलिस बल लेकर बंजारीढाल पहुंचा। यहां अब 800 आदिवासियों की भीड़ एकत्र थी और गंजन सिंह कोरकू उनका नेता था। पुलिस गंजन सिंह कोरकू को गिरफ्तार करना चाह रही थी परंतु आदिवासियों के विरोध के कारण पुलिस सफल नहीं हो सकी और जंगल सत्याग्रह का नायक गंजन सिंह कोरकू वहां से फरार हो गया। आदिवासियों और पुलिस मुठभेड़ में एक गोंड आदिवासी कोवा गोंड की मृत्यु हो गई। पुलिस ने गंजन सिंह कोरकू पर रू. 500 का इनाम घोषित किया। गंजन सिंह कोरकू लगभग 1 माह तक पुलिस से बचने में सफल रहा अंततः उसे पंचमढ़ी पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। गंजन सिंह कोरकू को 5 वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया गया।[8] इस मामले में 23 अन्य आदिवासी भी गिरफ्तार किए गए थे।

गंजन सिंह कोरकू की गिरफ्तारी भी आदिवासियों का मनोबल तोड़ ना सकी। बैतूल जिले में भैंसदेही, नीलगढ, चिखलार, बरनगूडी, जमदेही, बरखेड़ी खार में जंगल सत्याग्रह प्रारंभ हो गया। 19 सितंबर 1930 में चिखलार में स्थिति गंभीर हो गई जंगल सत्याग्रह और पुलिस बल में तनाव के कारण पुलिस फायरिंग में 2 आदिवासियों की मृत्यु हुई और लगभग 40 लोग घायल हुए। दोनों शहीद सत्याग्रही गोंड आदिवासी थे उनके नाम रामू गोंड व मकडू गोंड था।[9] इसी प्रकार जबाड़ा ग्राम में भी गोलीबारी हुई जिसमें जर्रा गोंड नामक जंगल सत्याग्रही की मृत्यु हो गई जबाडा में जंगल सत्याग्रह का नेतृत्व करने के लिए गोंड आदिवासी सरदार विष्णु सिंह को गिरफ्तार किया गया और उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई लेकिन बाद में फांसी के दंड को आजीवन कारावास में बदल दिया गया। विष्णु सिंह की धर्मपत्नी को सात वर्ष के कारावास का दंड दिया गया जो यह दर्शाता है कि जंगल सत्याग्रह में आदिवासियों महिलाओं ने भी सक्रिय भूमिका निभायी थी।[10]

रूद्री नवागांव जंगल सत्याग्रह :

सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान छत्तीसगढ़ का रायपुर जिला जंगल सत्याग्रह का प्रमुख केंद्र बन कर उभरा। मध्य प्रांत में जंगल सत्याग्रह कि शुरुवात रायपुर जिले के सिहावा नगरी जंगल सत्याग्रह से ही हुई थी।

रुद्री नवागांव जंगल सत्याग्रह मध्य प्रांत का सबसे मुखर जंगल सत्याग्रह था। सर्वप्रथम सत्याग्रह आश्रम के स्वयंसेवकों ने 22 अगस्त 1930 को रुद्री नवागांव में जंगल सत्याग्रह करने का निर्णय लिया। जंगल सत्याग्रह का प्रथम सत्याग्रही नत्थूजी जगताप को बनाया गया। मध्यप्रांत में जंगल सत्याग्रह कांग्रेस का प्रमुख शस्त्र बन गया था। मध्य प्रांत में जंगल सत्याग्रह में वृद्धि होते देखा सरकार इस सत्याग्रह को किसी भी कीमत पर सफल नहीं होने देना चाहती थी। अतः सत्याग्रह प्रारंभ होने के पहले ही नत्थू जी जगताप को बंदी बना लिया गया। सरकार ने रुद्री नवागांव के आसपास धारा 144 लागू कर दी और गांव जाने के सारे रास्ते में नाकेबंदी कर दी। पुलिस के कड़े पहरे के बावजूद लगभग 5000 सत्याग्रही जिनमें अधिकतर आदिवासी थे उन्होंने जंगलों में प्रवेश किया जंगल कानून का उल्लंघन कर जंगल सत्याग्रह की शुरुआत किया। पुलिस ने सत्याग्रह को रोकने के लिए दमन का सहारा लिया उसने सत्याग्रहियों पर लाठीचार्ज की व गोलियां चलाई, 500 से अधिक लोग गिरफ्तार किये गये व दो लोग घायल हुए। जंगल सत्याग्रह की विषम परिस्थिति को देखते हुए जिला प्रशासन ने 16 सितंबर को धमतरी, महासमुंद, आरंग व गरियाबंद में दंड देने वाली 122 पुलिस की तैनाती कर दी। जिला प्रशासन ने विभिन्न दंड के रूप में रू. 27484 की वसूली स्थानीय जनता से की थी।[11]

रुद्री नवागांव जंगल सत्याग्रह में बड़े पैमाने पर आदिवासियों ने भाग लिया था रुद्री नवागांव के प्रमुख आदिवासी जंगल सत्याग्रहियों में अवधराम गोंड, धुकेल गोंड, रामचरण गोंड, प्रमुख थे जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने 6 माह कारावास का दंड दिया गया था। इसके अतिरिक्त अर्जुन गोंड, केजूराम गोंड, जरहू गोंड, पकलू गोंड, धनवार गोंड, जग्गू गोंड, धुकेल गोंड, पंचम सिंह गोंड, पंचम सिंह हल्बा, बहोरन गोंड, बुढ जी गोंड, बुहराम गोंड, बिहारी गोंड, रामचरण गोंड, रामजी गोंड, लतेल गोंड, लच्छू गोंड, विश्वनाथ गोंड, शोभाराम गोंड और सिहावा नगरी सत्याग्रह के प्रमुख सत्याग्रही श्यामलाल सोम भी थे जिन्हें 3 माह कारावास का दंड दिया गया था।[12]

टुरिया जंगल सत्याग्रह :

बैतूल व रायपुर जिले के बाद जंगल सत्याग्रह की सर्वाधिक तीव्रता सिवनी जिले में देखी गई थी। सिवनी जिले में जंगल सत्याग्रह की शुरुआत शासकीय चंदन बगीचे में घास काटकर की गई थी यहां प्रतिदिन चार –चार सत्याग्रही ब्रिटिश प्रशासन को पुर्व सूचना दे कर जाते और घास काट कर सत्याग्रह करते थे। इन आदिवासीयों पर दफा 379/114 ता. हि. एवं 26 फारेस्ट एक्ट के अंतर्गत मुकद्दमा चलाकर सजा एवं जुर्माना किया जाता था। ब्रिटिश सरकार ने आदिवासियों की जमीन, जायदाद, मवेशी, बर्तन व अन्य घरेलू समान की कुर्की कर नीलाम करके जुर्माना वसूल किया जाता था। सिवनी जिले में सत्याग्रह का प्रमुख केंद्र टुरिया ग्राम था। टुरिया ग्राम सिवनी जिले के खवासा नामक ग्राम के निकट है यहां 9 अगस्त 1930 को हजारों गोंड आदिवासियों ने मूका लुहार व श्री राम प्रसाद के नेतृत्व में जंगल सत्याग्रह किया था।

सत्याग्रह की सूचना पाकर इंस्पेक्टर, रेंजर दल बल के साथ टूरिया पहुंचे उनके साथ एक दर्जन सशस्त्र सिपाही भी थे टूरिया पहुंचकर उन्होंने जंगल सत्याग्रह के नायक मूका लुहार को गिरफ्तार कर लिया गया। मुका लुहार की गिरफ्तारी की खबर सुनकर समस्त सत्याग्रही जिनमें भोले भाले आदिवासियों की संख्या अधिक थी उन्होंने पुलिस कैंप जहां मूका लुहार को रखा गया था उसे घेर लिया। पुलिस कप्तान ने जब स्वयं को

आदिवासियों से घिरा पाया तो वह आग बबूला हो गया और उसने बिना चेतावनी दिए गोली चलाने का आदेश दे दिया। इस गोलीकांड में 4 लोग मारे गए वह 30 व्यक्ति घायल हुए। मृतकों में तीन महिलाएं एक पुरुष शामिल थे मृतकों के नाम गुड्डे बाई, रैनो बाई, देभो बाई व बिरजू भोई था। टुरिया जंगल सत्याग्रह के चारों शहीद आदिवासी समुदाय से संबंधित थे इसके अतिरिक्त 18 व्यक्तियों पर प्रशासन द्वारा मुकदमा चलाया गया। सिवनी जिले के कांग्रेस के नेताओं ने टुरिया में हुए पुलिस बर्बरता को प्रमुखता से उठाया और कांग्रेस के दबाव के कारण तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर का स्थानांतरण जिले से बाहर कर दिया गया।[13]

तमोरा जंगल सत्याग्रह :

वर्तमान में छत्तीसगढ़ के महासमुंद जिले में स्थित तमोरा में भी सत्याग्रहियों ने 9 अगस्त 1930 को सरकार के दमन पूर्वक कानून का विरोध किया था। तमोरा जंगल सत्याग्रह का नेतृत्व शंकरराव गनोदवाले, यती यतनलाल, भगवती प्रसाद मिश्र ने किया था। इस सत्याग्रह में आदिवासी समुदायों की वृहद भागीदारी थी। पुलिस के द्वारा धारा 144 लागू होने के बावजूद यहां 5000 से अधिक श्रद्धालुओं ने भाग लिया यहां महिला सदस्यों ने सर्वप्रथम ब्रिटिश कानून को तोड़ा जनरल प्रवेश के समय हुई। इस आंदोलन के दौरान बालिका दयावती कंवर ने ब्रिटिश अधिकारी को तमाचा मार दिया था। इस हाथापाई ने ब्रिटिश पुलिस प्रशासन को दमन का मौका दे दिया पुलिस लाठी चार्ज में अनेक सत्याग्रही घायल हुए यहां बंधन गोड़, नेहरू गोड़, रामचरण गोड़ आदि प्रमुख सत्याग्रही थे।[14]

अन्य जंगल सत्याग्रह :

सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौर में आदिवासियों का जंगल सत्याग्रह पूरे जोर पर था यह आंदोलन निरंतर चलता ही जा रहा था। जबलपुर में कटनी और सिहोरा में पुलिस ने आदिवासियों पर हमला किया। उनमें से अनेक व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया गया। इसी प्रकार खंडवा जिले के डोंगरगांव में आदिवासियों ने मालगुजार के विरुद्ध जंगल सत्याग्रह किया। डोंगरगांव के सुरक्षित जंगल के पास जब आदिवासी जंगल सत्याग्रह करने के लिए एकत्र हुए तो पुलिस ने लगभग 37 आदिवासियों को गिरफ्तार किया। जिनमें 15 को बिना शर्त रिहाई दे दी गई। अन्य आदिवासी जंगल सत्याग्रहियों को जेल भेज दिया गया। होशंगाबाद जिले में हरसूद पंधाना आदि स्थानों आदिवासियों ने जंगल सत्याग्रह किया। इसके अतिरिक्त छिंदवाड़ा के रामकोना, मंडला जिले में मंडला, दुर्ग जिले में भी जंगल सत्याग्रह में हजारों आदिवासियों ने बढ़चढ़ कर भाग लिया।

निष्कर्ष :

मध्य प्रांत में जंगल सत्याग्रह की शुरुवात सिहावा नगरी सत्याग्रह से हुई थी लेकिन जंगल सत्याग्रह का सर्वाधिक विस्तार 1930 में सविनय अवज्ञा आंदोलन के उपरांत हुआ। 1930 का जंगल सत्याग्रह बहुत ही व्यापक था यह सत्याग्रह मध्य प्रांत के सभी जिलों में फैला हुआ था परंतु कुछ जिले जैसे बैतूल, सिवनी, रायपुर, जबलपुर व मंडला में यह व्यापक प्रभाव लिए हुऐ था। इन जगहों पर आदिवासियों द्वारा किए गए जंगल सत्याग्रह के कारण कई जंगलों पर ब्रिटिश सरकार ने नियंत्रण खो दिया था। रिपोर्ट के अनुसार अगस्त 1930 से अक्टूबर 1930 के बीच मध्य प्रांत में 100 से अधिक जंगल सत्याग्रह हुए थे। मध्य प्रांत में हुए जंगल सत्याग्रह ने सरकारी

जंगलों को व्यापक नुकसान पहुंचाया था। 1930 के जंगल सत्याग्रह के समय जंगल अपराधों में उल्लेखनीय बढ़ोतरी देखने को मिलती है। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार पिछले वर्ष जंगल अपराध की घटना मात्र 298 दर्ज की गई थी जो जंगल सत्याग्रह के समय बढ़कर 1231 हो गई थी। इसी प्रकार बिना इजाजत जानवर को जंगलों में चराने की घटनाओं में 49 प्रतिशत की बढ़ोतरी व लकड़ी काटने की घटनाओं में 45 प्रतिशत की बढ़ोतरी दर्ज की गई थी। मध्य प्रांत कि ब्रिटिश सरकार का मानना था कि अधिकांश जंगल अपराध सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रभाव के कारण या कहे जंगल सत्याग्रह की निरंतरता के कारण हो रहे थे। 1930 में जंगल सत्याग्रहियों से 735 हसिया 1039 कुल्हाड़ी जप्त किए गए थे। 1930 प्रांत के विभिन्न जिलों में जंगल सत्याग्रह जिसमें आदिवासियों ने बढ़ चढ़कर भाग लिया था जिसके कारण सरकार को बहुत अधिक राजस्व हानि भी हुई थी। इस वर्ष लकड़ियों की चोरी और सरकारी भवनों को नुकसान के कारण ब्रिटिश सरकार को 34240 रुपए का नुकसान उठाना पड़ा था। इसी प्रकार सरकारी वनों से आय में व्यापक कमी देखी गई थी इसका कारण बिना अनुमति के जानवरों को चराने व जंगल सत्याग्रह के कारण वनों की नीलामी ना हो पाना था इससे ब्रिटिश सरकार को मध्य प्रांत में रू. 300000 का नुकसान हुआ था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार द्वारा विभिन्न थानों का निरीक्षण जेल निर्माण कानून व्यवस्था उचित संचालन के लिए विभिन्न विभागों की अपनी पूंजी खर्च करना पड़ा। पुलिस विभाग द्वारा मध्य प्रांत में कानून व्यवस्था के लिय रु. 100000 खर्च किये गये। इसके अतिरिक्त विभिन्न गांव में जहां—जहां जंगल सत्याग्रह किया जा रहा था वहां अस्थाई निर्माण के लिए ब्रिटिश सरकार ने रू. 33000 खर्च किए थे। इस जंगल सत्याग्रह में भाग लेने वाले भोले—भाले आदिवासियों को भयभीत करने के लिए मध्य प्रांत की सरकार ने कोड़े लगाने का दंड प्रारंभ किया था, साथ—साथ आदिवासियों पर बड़े पैमाने पर अर्थदंड लगाया गया और आदिवासियों को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। मध्य प्रांत के शासकीय रिपोर्ट में इस बात का उल्लेख है कि जंगलों से जुड़े होने के कारण आदिवासियों में जंगल सत्याग्रह तेजी से लोकप्रिय हुआ जंगलों में रहने वाले आदिवासियों से धनराशि वसूल करना असंभव कार्य था। कठिन से कठिन परिस्थितियों में रहने को आदि इन आदिवासियों को जेल का कोई भय नहीं था। इस कारण ब्रिटिश सरकार ने कोड़े मारने की सजा दी थी जंगल सत्याग्रह का सबसे उल्लेखनीय पक्ष है कि इस आंदोलन में मध्य प्रांत के आदिवासियों ने बढ़ चढ़कर भाग लिया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इन आदिवासियों का सहयोग किया था। सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय हुए इस जंगल सत्याग्रह ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को मध्य प्रांत के सुदूर जंगलों में पहुंचा दिया था। जंगल सत्याग्रह में आदिवासियों की व्यापक भागीदारी यह सुनिश्चित करती है कि भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलनों में आदिवासी समुदायों ने भी बढ़—चढ़कर भाग लिया और भारत के स्वतंत्रता में आदिवासियों के इस अमूल्य योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. ढेबर यू.एन. व अन्य, दि हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मुवमेंन्ट इन मध्य प्रदेश, गर्वमेन्ट प्रिंटिग प्रेस मध्य प्रदेश, नागपुर 1956 पृ. 385

2. मिश्रा जे. पी. व मेहरा प्रमोद, मध्य प्रदेश का इतिहास खण्ड 3 आधुनिक काल, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल पृ. 175
3. गुरु शम्भू दयाल, मध्य प्रदेश में स्वाधीनता आंदोलन 1857–1950, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल पृ. 181
4. मिश्र रामेन्द्र नाथ, छत्तीसगढ़ का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास प्रारंभिक युग से 1947 ई. तक, 1998, पृ. 140
5. शुक्ल हीरालाल एंव अन्य, समग्र छत्तीसगढ़, छत्तीसगढ़ हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2017, पृ. 168
6. शर्मा अरविन्द, छत्तीसगढ़ का राजनीतिक इतिहास, अरपा पॉकेट बुक्स, 2005–06, पृ. 168
7. सक्सेना घनश्याम, जंगल सत्य और सत्याग्रह, स्वराज संस्थान संचालनाल, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन, पृ. 122–123
8. बैतूल जिला गजेटियर, पृ. 66
9. गुरु शम्भू दयाल पूर्वोक्त, पृ. 242
10. सक्सेना घनश्याम, पूर्वोक्त, पृ. 131
11. रायपुर जिला गजेटियर, पृ. 82
12. शुक्ला सुरेश चन्द्र एंव शुक्ला अर्चना, छत्तीसगढ़ का समग्र इतिहास, मातूश्री पब्लिकेशन, रायपुर, पृ. 117–120
13. गुरु शम्भू दयाल, पूर्वोक्त, पृ. 200–201
14. बेहार रामकुमार, छत्तीसगढ़ का समग्र इतिहास, छत्तीसगढ़ हिन्दी ग्रंथ अकादमी, रायपुर, पृ. 234

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha
February 2026
ISSN : 2395-7115
Page No. : 86-91
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

Mercantile Prosperity and Architectural Flourishing in Shekhawati during British India

PRADEEP SOLET
Research Scholar,
Department of history and Indian culture, Banasthali Vidyapith, Newai Rajasthan

Abstract :

The Shekhawati region of north-eastern Rajasthan occupies a distinctive position in the economic and architectural history of colonial India. Situated along important inland trade routes, Shekhawati emerged as a prosperous mercantile zone during the eighteenth and nineteenth centuries. The extraordinary wealth accumulated by Marwari merchant communities was translated into a remarkable architectural and artistic legacy, most visibly expressed through elaborately painted havelis, temples, stepwells, and civic structures. This paper examines the interrelationship between mercantile prosperity and architectural development in Shekhawati during British India. By integrating economic history, architectural analysis, and cultural interpretation, it explores how indigenous commercial enterprise shaped urban morphology, artistic patronage, and social identity. The study argues that Shekhawati represents a unique model of indigenous capitalist urbanism, where economic success, cultural ambition, and architectural creativity converged. The paper contributes to broader debates on colonial modernity, regional identity, and the agency of Indian merchant communities in shaping material culture.

Keywords : *Shekhawati, Marwari merchants, colonial economy, painted havelis, architectural patronage, mercantile capitalism, cultural hybridity.*

Introduction :

The Shekhawati region, comprising the present-day districts of Sikar, Jhunjhunu, and Churu in north-eastern Rajasthan, constitutes one of the most remarkable mercantile and architectural landscapes of colonial India. Traditionally located along key caravan routes linking Delhi, Jaipur, Bikaner, and the western ports, Shekhawati functioned as a critical commercial corridor connecting northern India

with western and central Asian markets. This strategic location facilitated the rise of a powerful merchant class, predominantly Marwaris, whose commercial networks expanded dramatically during the late eighteenth and nineteenth centuries.

With the consolidation of British political authority and the reorientation of trade networks, indigenous merchant communities demonstrated remarkable adaptability. Marwari traders migrated extensively to commercial centres such as Calcutta, Bombay, Rangoon, and Madras, where they established banking houses, trading firms, and financial institutions. The profits generated from long-distance commerce, money-lending, opium trade, cotton export, and speculative ventures were repatriated to their ancestral homeland, transforming Shekhawati's semi-arid settlements into vibrant centres of architectural and artistic patronage.

The most striking material expression of this prosperity was the construction of monumental havelis adorned with elaborate mural paintings. These structures, characterized by sophisticated spatial planning, intricate fresco programs, and hybrid stylistic influences, transformed the urban fabric of towns such as Mandawa, Nawalgarh, Fatehpur, Ramgarh, and Jhunjhunu. The painted havelis of Shekhawati constitute one of the largest surviving ensembles of mural art in India, reflecting a unique synthesis of indigenous, Mughal, Rajput, and European visual traditions.

Despite the aesthetic magnificence of Shekhawati's architecture, its deeper socio-economic foundations remain insufficiently explored. Existing scholarship has often privileged stylistic description and iconographic analysis, while economic historians have examined mercantile capitalism largely independent of architectural production. This paper seeks to bridge this disciplinary divide by examining how mercantile prosperity shaped architectural patronage, urban morphology, and cultural identity in Shekhawati during British India.

Historical Background : Shekhawati and the Rise of Mercantile Capital

Trade Routes and Regional Economy :

Shekhawati's economic development was closely linked to its geographical position along important inland trade routes connecting Delhi with the ports of Gujarat and the Gangetic commercial centres. From the Mughal period onward, merchant caravans transported textiles, spices, opium, metals, and luxury commodities through this region. The fragmentation of Mughal authority and the emergence of regional polities allowed merchant groups to negotiate favourable fiscal arrangements with local rulers, further strengthening their commercial base.

During British rule, the reorganization of transport infrastructure, particularly the expansion of railways and the stabilization of administrative frameworks, enabled merchant communities to integrate into colonial trade circuits. The establishment of commercial hubs in Calcutta and Bombay

opened new avenues for trade, finance, and investment. Marwari merchants rapidly emerged as dominant players in banking, bill discounting, commodity brokerage, and speculative finance, accumulating unprecedented wealth.

Marwari Mercantile Networks :

The commercial success of Shekhawati was underpinned by the highly mobile and adaptive nature of Marwari trading networks. Kinship ties, caste-based solidarity, and trust-based financial instruments allowed merchants to operate across vast geographical spaces. These networks facilitated capital transfer, risk-sharing, and market intelligence, enabling sustained economic expansion.

As Claude Markovits has demonstrated, Marwari merchant houses maintained commercial outposts across the Indian subcontinent and beyond, extending into Burma, Afghanistan, and Central Asia. This transregional mobility transformed Shekhawati into a capital-generating homeland, where overseas profits were invested in architectural construction, religious endowments, and civic infrastructure.

Architectural Transformation and Urban Morphology

Emergence of Painted Havelis :

The architectural landscape of Shekhawati underwent dramatic transformation during the nineteenth century. Merchant families commissioned massive havelis that served as residential complexes, commercial spaces, and symbolic markers of status. These structures were characterized by :

- Multi-courtyard layouts
- Elaborate gateways (Torana's)
- Carved wooden balconies
- Painted ceilings and walls
- Integration of shops, warehouses, and banking spaces

The haveli functioned as both a domestic and economic institution, embodying the convergence of commerce, family life, and ritual practice.

Mural Traditions and Iconography :

The most distinctive feature of Shekhawati havelis is their extensive mural decoration. Walls and ceilings were covered with frescoes depicting :

- Mythological narratives from the Ramayana, Mahabharata, and Puranas
- Episodes from Krishna and Rama legends
- Portraits of patrons and their families
- Colonial technologies such as trains, telegraphs, gramophones, and automobiles

- European soldiers, British officials, and Victorian imagery

This eclectic iconography reflects a dynamic cultural dialogue between indigenous traditions and colonial modernity. The incorporation of Western imagery symbolized engagement with global progress, technological advancement, and modern identity, while religious narratives reaffirmed cultural continuity and spiritual legitimacy.

Urban Transformation :

The cumulative impact of architectural patronage reshaped Shekhawati towns into dense urban agglomerations. Streets were lined with monumental facades, markets expanded, and civic institutions such as temples, stepwells, schools, and caravanserais proliferated. This architectural investment fostered social cohesion, religious piety, and public philanthropy, reinforcing merchant dominance within local society.

Architectural Patronage, Identity, and Social Aspiration

Architecture as Social Capital :

For Shekhawati's merchants, architectural patronage functioned as a critical form of social capital. Lavish construction signalled wealth, status, and legitimacy, enabling families to negotiate caste hierarchies, marital alliances, and political influence. The haveli became a performative space where economic success was translated into cultural authority.

Cultural Negotiation and Colonial Modernity :

The incorporation of European motifs alongside Hindu religious imagery illustrates processes of cultural negotiation rather than cultural imitation. Merchants selectively appropriated colonial visual symbols to express cosmopolitan identity while preserving traditional values. This hybrid aesthetic underscores the complex ways in which indigenous elites engaged with colonial modernity.

Philanthropy and Civic Identity :

Beyond private residences, merchants invested heavily in public architecture, funding schools, hospitals, temples, water tanks, and dharmashalas. These philanthropic activities reinforced communal bonds and projected moral authority, aligning material success with ethical responsibility.

Economic Foundations of Architectural Patronage

Trade, Finance, and Capital Accumulation :

The financial basis of Shekhawati's architectural boom lay in diversified commercial ventures:

- Banking and bill discounting
- Commodity brokerage
- Cotton and opium trade
- Speculative finance

- Shipping investments

Merchant capital flowed through colonial urban centres before being reinvested in homeland architecture, creating a cyclical relationship between global trade and local material culture.

Colonial Policies and Indigenous Enterprise :

Contrary to narratives that depict colonial economic structures as purely extractive, Shekhawati demonstrates how indigenous enterprise exploited new opportunities created by colonial stability, transport infrastructure, and market expansion. Merchants emerged as intermediaries between colonial institutions and indigenous society, shaping economic modernization from below.

Cultural Hybridity and Visual Modernity :

The painted surfaces of Shekhawati havelis reveal an extraordinary visual archive of cultural hybridity. Traditional mythological themes coexist with colonial imagery, producing a distinctive aesthetic vocabulary. Trains, steamships, clocks, and Western soldiers appear alongside deities, saints, and epic heroes, symbolizing the merging of spiritual continuity and technological modernity.

This visual hybridity suggests that colonial modernity was not passively absorbed but creatively reinterpreted within local cultural frameworks. Architecture thus became a medium for articulating new identities that were simultaneously indigenous and global.

Discussion : Shekhawati as Indigenous Capitalist Urbanism :

Shekhawati offers a compelling model of indigenous capitalist urbanism, where mercantile wealth, cultural ambition, and architectural creativity converged. Unlike colonial port cities shaped primarily by imperial agendas, Shekhawati's transformation was driven largely by indigenous agency. Merchant communities shaped urban form, artistic production, and social institutions, embedding economic success within cultural and religious life.

This case challenges simplistic dichotomies between tradition and modernity, demonstrating instead how local traditions adapted creatively to global forces. Shekhawati thus emerges as a microcosm of broader processes of economic globalization, cultural hybridity, and urban transformation in colonial India.

Conclusion :

The architectural splendour of Shekhawati stands as a monumental testament to the mercantile prosperity of its merchant communities during British India. The painted havelis, temples, and civic structures of the region were not merely artistic achievements but embodied expressions of economic power, social aspiration, and cultural negotiation.

By integrating economic history with architectural and art-historical analysis, this study demonstrates that Shekhawati represents a unique regional response to colonial modernity. Merchant

patronage shaped urban morphology, visual culture, and social identity, generating a distinctive architectural landscape that continues to define the cultural heritage of Rajasthan.

The study contributes to broader debates on indigenous capitalism, colonial urbanism, and cultural hybridity, highlighting the agency of Indian merchant communities in shaping their own material and cultural worlds. Future research may extend comparative analysis to other mercantile regions such as Chettinad, Banaras, and Surat, further enriching our understanding of regional diversity within India's colonial economic transformation.

Bibliography :

- Bayly, C. A. *Rulers, Townsmen and Bazaars: North Indian Society in the Age of British Expansion, 1770–1870*. Cambridge: Cambridge University Press, 1983.
- Brown, Percy. *Indian Architecture: Buddhist and Hindu Periods*. Bombay: D. B. Taraporevala Sons, 1965.
- Cooper, Ilay. *The Painted Towns of Shekhawati*. New Delhi: Prakash Books, 2009.
- Cooper, Ilay. *Rajasthan: Exploring Painted Shekhawati*. New Delhi: Niyogi Books, 2014.
- Jain, Jyotindra. *Picture Urbanism: Visual Culture of Indian Cities*. New Delhi: National Museum, 2007.
- Lambah, Abha Narain, ed. *Shekhawati: Havelis of the Merchant Princes*. Mumbai: Marg Publications, 2013.
- Malville, John McKim. "Architecture as Ritual Technology in Early India." *Artibus Asiae* 57, nos. 3–4 (1997): 217–245.
- Markovits, Claude. *The Global World of Indian Merchants, 1750–1947: Traders of Sind from Bukhara to Panama*. Cambridge: Cambridge University Press, 2000.
- Patel, Kireet, Reena Shah, and Reenal Agarwal. *Arayish: Wall Paintings of Shekhawati*. Ahmedabad: CEPT University Press, 2006.
- Riyajuddin, Md. "Trade, Merchants and Thikanedars: Revisiting the Economy of Eighteenth Century Shekhawati." *International Journal of Innovative Social Science & Humanities Research* 4, no. 2 (2016): 45–60.
- Spink, Walter M. *Ajanta: History and Development*, Vol. 1. Leiden: Brill, 2005.
- Warmington, E. H. *The Commerce between the Roman Empire and India*. 2nd ed. Cambridge: Cambridge University Press, 1974.
- Mehta, Kaiwan. "Picture Urbanity: Towns in Shekhawati and Colonial Cities." In *Shekhawati: Havelis of the Merchant Princes*, edited by Abha Narain Lambah, 55–78. Mumbai: Marg Publications, 2013.
- Agarwal, Garima. "Fading Grandeur: Painted Havelis of Shekhawati." *Sahapedia*, 2018. https://www.sahapedia.org/fading-grandeur-the-havelis-of-shekhawati.
- Kumar, Abhishek, and Ritu B. Rai. "Nawabi Kothies and Shekhawati Havelis: Comparative Study of Deserted Architectural Marvels." *Journal of Basic and Applied Engineering Research* 2, no. 3 (2015): 198–205.
- Asian Art Newspaper. "Shekhawati Haveli: Preserving Tradition in India." Accessed 2024.https://asianartnewspaper.com/painted-havelis-of-shekhawati-india.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 92-97

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

Narratives of Time and the Past in Early Historical South Asia

Srishti Agrahari
Research Scholar, Department of History
Dr. B. R. Ambedkar University, Delhi.

Abstract :

Conceptions of time and ways of remembering the past have profoundly shaped historical thought across societies. In early historical South Asia, history was not understood as a purely linear or objective record of events in the modern Western sense. Instead, the past was narrated through diverse traditions in which cosmology, ethics, ritual, genealogy, and social memory played central roles. Time could be conceived as cyclical, moral, genealogical, or empirical, depending on narrative purpose and genre. This article highlights the plurality of temporal frameworks in early South Asian traditions and challenges colonial assumptions that denied the presence of historical consciousness in the subcontinent.

Keywords :

Early historical South Asia; conceptions of time; historical consciousness; memory and historiography; narrative traditions

Introduction -

Early historical South Asia was home to a wide range of literary, religious, and political traditions, each offering distinct ways of engaging with the past. The Vedas and Pura?as, the Itihasa epics (Mahabharata and Ramayana), Buddhist and Jain texts, royal inscriptions, and Indo-Persian chronicles all serve as windows into different modes of historical thought. These genres differ not only in the way they measure time — cosmic cycles, dynastic eras, regnal years, or moral epochs — but also in how they frame human experience in relation to the divine, the ethical, and the political. In each case, the past is not simply a neutral record; it is an active, living component of social and moral life, intended to guide behavior, shape worldviews, and affirm communal identities.

Moreover, these traditions suggest that "history" in early historical South Asia was not a single

discipline but an integrated part of religious, literary, and political practices. The past was a medium through which communities reflected on human impermanence, the rhythms of rise and decline, and the ethical foundations of social order. Kings, poets, monks, and scholars all participated in this cultural work of remembering, preserving, and interpreting the past — often for purposes that ranged from spiritual instruction and political legitimacy to moral reflection and cultural continuity. In this essay, we will explore how time was conceptualized and the past was recounted across different genres in early historical South Asia.

Vedic tradition :

When examining the Vedic perception of time (kala), it is clear that time was conceived both cosmologically and ritually, playing a foundational role in shaping the understanding of creation and order. Time was not regarded as a passive or neutral measure, but rather as a dynamic and generative force. In several hymns, time is depicted as the progenitor of the cosmos — responsible for the emergence of day and night, the annual cycle, and the movement of celestial bodies such as the sun and the moon.

While the fully developed theory of cyclical yugas — vast cosmic ages — emerges in later Hindu literature, early Vedic texts already use the term yuga, though in a more limited sense. In the Vedic context, yuga referred to a unit of five years, which was closely tied to the ritual calendar rather than to expansive cosmic cycles. Vedic society employed a luni-solar calendar, combining lunar months with solar observations to organize both daily life and ritual practice. Rituals were intricately aligned with lunar phases (new and full moons), fortnights (pak?a), months (masa), and seasonal divisions, such as the caturmasa, which divided the year into three four-month periods.

Thus, the Vedic understanding of time integrated both linear progression — past, present, and future — and cyclical rhythms shaped by nature and ritual observance. This dual conception of time not only structured the religious and social life of Vedic society but also laid the intellectual groundwork for the later, more elaborate cosmological models and ritual systems that would define Indian thought Itihas and Puranic traditions

The Mahabharata, in particular, shows a more detailed engagement with the concept of time compared to the earlier Vedic corpus. On one level, time in the epic is reckoned in simple, observable terms — using the seasonal calendar, where the movement of the sun and the moon determines the division of days, months, and seasons, much like in Vedic society. Beyond this, however, the Mahabharata introduces a deeper cosmological conception of time, which is further elaborated in texts like the Manu Dharmasastra.

The epic describes the notion of mahayuga — the "great age"— which represents a full cosmic

cycle. Each mahayuga consists of four yugas (ages) that run sequentially and decrease in both length and moral integrity: Satya Yuga (K?ta Yuga), Treta Yuga, Dvapara Yuga, and Kali Yuga. Each yuga marks a decline in dharma compared to the one that came before. The Kali Yuga, the age believed to be the current era, is portrayed as a time of moral and social decay, destined to end with the arrival of Kalki, Visnu's final avatar, who will restore order and usher in the rebirth of the Satya Yuga. This structure presents a clearly cyclical and eschatological vision of time, where the destruction and rebirth of the universe are recurring processes.

Alongside this grand cosmic cycle, the Mahabharata also incorporates elements of linear time, particularly visible in its detailed genealogies (vamsa). These genealogical lists trace dynasties and family lineages, suggesting a historical sequence of rulers and heroes. However, this linear conception of time is always embedded within the larger cyclical framework of the yugas, emphasizing that human history is only a segment of an eternal cosmic loop, rather than an isolated or purely progressive timeline.

Additionally, the epic portrays time as an almost personified force— a symbol of destiny that governs death, change, and the inevitable unfolding of events. In this way, the Mahabharata blends cyclical cosmological time with linear genealogical time to represent and interpret the transformation of both human society and the universe.

The Puranas mark a significant phase in the evolution of historical consciousness in early Indian literature. The word Pura?a itself means "that which is ancient,"and these texts claim a direct link to the past. While the Puranas include mythic and cosmological accounts, they also display historical concerns through their succession lists and genealogies, which trace lineages of sages, kings, and divine avatars from the dawn of creation to roughly the middle of the first millennium CE.

The Puranic texts describe both the cyclical yuga framework — inherited from earlier traditions — and a more sequential, human-centered historical narrative. The yugas provide the cosmic backdrop, while the genealogies of dynasties and rulers suggest a linear unfolding of human and divine events within this cyclical pattern. This dual structure allowed the Puranas to blend myth and history, using cyclical time to describe cosmic patterns and linear time to anchor human experiences in recognizable historical sequences.

Buddhist and Jain traditions :

Both Buddhism and Jainism, emerging around the 6th century BCE, offer sophisticated and distinctive perspectives on time and the past, blending cyclical cosmology with ethical and philosophical concerns. In Buddhism, conceptions of time incorporate both cyclical and linear elements depending on context. On a cosmological level, Buddhist texts describe time as consisting of vast,

almost unfathomable cycles called kalpas (Pali: kappas). These kalpas represent the rise and fall of universes, encompassing the appearance and disappearance of countless Buddhas and sentient beings. This cyclic vision reflects patterns of decline and renewal similar to Pura?ic models, but in Buddhism, the emphasis is placed more on impermanence (anicca) and dependent origination (pratityasamutpada) rather than divine intervention or fixed yugas.

At the same time, Buddhist philosophy introduces the notion of momentariness (k?a?ikatva), especially in the Abhidharma tradition. Reality is viewed as a constantly changing flow of

discrete, momentary events, with no permanent self or essence (in contrast to the Brahmanical belief in an eternal atman). This view of time as momentary underscores the transitory nature of life and reinforces the need for mindfulness, ethical living, and detachment.

On the historical level, linear time was more practically employed, especially in relation to the life of the Buddha. The Mahaparinirva?a— the passing away of Gautama Buddha — served as a fixed reference point for dating events in Buddhist communities, providing a secular anchor in time for monastic histories, councils, and the spread of the doctrine. Texts such as the Digha Nikaya, Mahvastu, and Divyavadana recount stories of past Buddhas, kings, and significant events using both mythic and chronological frameworks.

Additionally, genealogies of elders (theras) and patrons were maintained, especially in inscriptions and monastic records, often linked to the establishment of monasteries, land donations, and royal patronage. These genealogies reflect a linear model of historical memory, used both for religious continuity and administrative clarity.

In Jainism, time was conceptualized primarily through a grand cyclical framework, with a focus on the moral and spiritual state of the world. Jain cosmology divides time into two endless cycles: Utsarpini (ascending) and Avasarpini (descending). Each cycle is subdivided into six distinct ages (aras), which represent phases of moral and physical decline or improvement, depending on the direction of the cycle.

A central feature of Jain historical thought is the recounting of the lives of the 24 Tirtha?karas, the enlightened teachers who appear in each time cycle to re-establish the Jain doctrine (Dharma) for a declining world. These narratives are preserved in texts like the Kalpa Sutra, which not only describe the lives of the Tirtha?karas but also construct a cosmic historical framework for understanding the moral trajectory of the world.

Jain texts such as the Tiloya Pannatti, Trilokasara, and Avasyaka Niryukti detail Jain cosmology and measurements of cosmic time in precise terms, offering elaborate calculations for the duration of cycles, lifespans of Tirthankaras, and even the size of the universe. These works reinforce the Jain

emphasis on ethical time — where the passage of time is linked to the deterioration or revival of truth, nonviolence, and self-discipline, rather than simply the movement of celestial bodies.

Inscriptions and Other Literary traditions :

In addition to epic and Puranic traditions, inscriptions offer another important way in which time and the past were recorded in pre-modern South Asia. Stone and copper-plate inscriptions often documented specific events such as donations, military victories, royal decrees, or religious endowments. These were usually dated using regnal years — for example, "in the fifth year of King Asoka's reign" — anchoring historical events to the tenure of a specific ruler. Time was thus recorded in a linear fashion, directly linked to royal authority and political continuity. Occasionally, inscriptions were also dated using references to astronomical events or religious festivals, which further integrated cosmic and ritual rhythms into historical memory.

The use of standardized eras, such as the Saka Era or Gupta Era, allowed for the coordination of chronological records across different regions and dynasties, promoting a shared temporal framework for administration, trade, and diplomacy.

Similarly, biographical works such as Harsacarita, composed by Banabhatta, reflect another form of historical imagination. The text narrates the life of King Har?avardhana, structuring time through the king's personal experiences, public achievements, and divine encounters. The narrative is shaped not only by linear progression — from birth to kingship — but also by omens, miracles, and moral lessons, reinforcing the idea that human life unfolds within both historical and cosmic orders. Classical Sanskrit plays like Abhijnnasakuntalamby Kalidasa also offer a distinctive perspective on time. Set in a mythic or semi-historical world, the play intertwines everyday human experiences with divine interventions, prophecies, and the workings of fate and karma. Its structure is marked by layered conceptions of time — with flashbacks, cyclical themes such as love lost and regained, and the repetition of symbolic events — all of which highlight the deeper moral and spiritual dimensions of human life. Rather than presenting a single, linear plot, the play uses time as a narrative tool to emphasize both personal transformation and cosmic balance.

Conclusion :

The diverse temporal frameworks embedded in pre-modern South Asian writings challenge the modern assumption that history must always be strictly empirical, linear, and secular. These traditions demonstrate that history is not merely a neutral record of past events but rather a narrative deeply shaped by values, beliefs, ethical concerns, and collective memory. Far from being outdated, these historical modes remain highly relevant today, offering alternative ways of engaging with the past — ways that are more inclusive, reflective, and mindful of both human and cosmic dimensions.

References :

1. Basham, A. L. The Wonder That Was India. London: Sidgwick & Jackson, 1954.
2. Kaul, Shonaleeka, ed. Retelling Time: Alternative Temporalities from Premodern South Asia. New Delhi: Routledge India, 2022.
3. Murphy, Anne, ed. Time, History and the Religious Imaginary in South Asia. London: Routledge, 2011.
4. Thapar, Romila. The Past Before Us: Historical Traditions of Early North India. Cambridge, MA: Harvard University Press, 2013.
5. Thapar, Romila. Time as a Metaphor of History: Early India. Oxford: Oxford University Press, 1996.

Email- agraharin26@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 98-103
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

उत्तराखण्ड ताम्र हस्तशिल्प कला : चुनौतियां और पुनरूद्धार रणनीतियां

शिवानी
शोध छात्रा, इतिहास विभाग,
एम0 बी0 पी0 जी0 कॉलेज, हल्द्वानी (उत्तराखण्ड)

शोध सार :

हिमालय की गोद में वसा उत्तराखण्ड अपनी अलौकिक प्राकृतिक सौन्दर्यता से समस्त प्राणियों को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। यह अपनी सांस्कृतिक धरोहरों के संरक्षण संवर्धन एवं पारम्परिक कला कृतियों के निर्माण लिए प्रसिद्ध रहा है। यहां विविध हस्तशिल्प कलाएं प्रचलित है। जिसमें वस्त्र कौशल कला, आभूषण निर्माण कला, काष्ठ कला, ऐपण, धातु/ताम्र शिल्प कला, पिरुल व जूट से बनी विभिन्न प्रकार के उत्पाद आदि प्रमुख है। इन विभिन्न हस्तशिल्प कलाओं में ताम्र हस्तशिल्प कला का महत्वपूर्ण स्थान है। यहां के स्थानीय शिल्पकार ताम्र धातु से न केवल सामाजिक उपयोग की वस्तु का निर्माण करते हैं, अपितु वें ताम्र धातु से घरेलू दैनिक जीवन में उपयोग की जाने वाली वस्तुओं के साथ–साथ सांस्कृतिक महत्व की वस्तुओं का भी निर्माण करते हैं। परन्तु वर्तमान समय में इस ताम्र शिल्प कला को विभिन्न चुनौतियों का सामना करना पढ़ रहा है। जिसके परिणामस्वरुप यह ताम्र शिल्प कला अब धूमिल होते जा रही है और इस कला की संरक्षित करने के लिए इसे प्रभावित करने वाली प्रमुख कारको व चुनौतियों के समाधान हेतु रणनीतियां बनाना अति आवश्यक है।

कुंजी शब्द – उत्तराखण्ड, ताम्र, पुनरुद्धार, चुनौतियां, शिल्पकार।

प्रस्तावना –

उत्तराखण्ड के इतिहास में ताम्र शिल्प का इतिहास अति प्राचीन है। ताम्र शिल्प कला न केवल राज्य की सांस्कृतिक धरोहर का हिस्सा है अपितु यह स्थानीय अर्थव्यवस्था शिल्पकारों की आजीविका व रोजगार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस शिल्प की प्राचीनता के साक्ष्य स्थानीय लोगों के घरों में प्रयोग होने वाली वस्तुओं जैसे–कलश, थाली, गिलास, तश्तरी, आभूषण, धार्मिक प्रतिमाएं आदि दर्शाती है। जो परम्परागत रुप से इस सभ्यता व संस्कृति का अभिन्न अंग है। यह कला मुख्य रुप से उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, बागेश्वर, चम्पावत आदि में प्रारम्भ हुई। अल्मोड़ा में ताम्र धातु से निर्मित वस्तुओं का अधिक मात्रा में उत्पादन होने के कारण इसे 'ताम्र नगरी' के नाम से भी जाना जाता है। कलान्तर में ताम्र शिल्प स्थानीय कस्बों ग्रामों में हस्तशिल्प कला के रुप में प्रचलित हुई। ताम्र वस्तुएं न केवल अपनी कलात्मक सौन्दर्य एवं अंलकरण के लिए बल्कि अपने

धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व के लिए भी जानी जाती है। ताम्र वस्तुओं के उत्पादन में संलग्न टम्टा समूदाय कुशल कारीगरी में दक्ष थें व उन्हें शासकों का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। जिस के प्रभाव स्वरुप उनकी आर्थिक स्थिति उत्तम अवस्था में पहुंच गयी थी। ताम्र शिल्प के विकास में यहां के राजवंशों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

ताम्र शिल्प कला का इतिहास :

भारत में ताम्र शिल्प कला के साक्ष्य हमें सिन्धू घाटी सभ्यता के प्रमुख स्थलों से प्राप्त होते हैं। मोहनजोदड़ों व हड़प्पा से विभिन्न ताम्र वस्तुएं प्राप्त हुई जैसे तांबे के मनके, तांबे की एक्कागाड़ी, चौकोर गौटिया आदि अनेकों साक्ष्य उपलब्ध हुए है जो ताम्र शिल्प की प्राचीनता को दर्शाता है। वही भारतीय राज्य उत्तराखण्ड में भी ताम्र शिल्प की उत्पत्ति द्वितीय सहशाताब्दी से मानी जाती है। यह राज्य प्राचीन काल से ही प्राकृतिक संसाधनों से बहुत समृद्ध रहा है। इसकी प्रचुरता के साक्ष्य यह के समस्त प्राचीन अभिलेखों व साहित्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत के वन पर्व में यह उद्धरण प्राप्त होता है कि ''गन्धमादन पर्वत व पृथ्वी की सतह पर सोने चांदी रत्नों और अयस्कों के बिखरे हुए टुकड़े देखना आम सादृश्य था''। उत्तराखण्ड में ताम्र की उपलब्धता प्रागैतिहासिक काल से ही दृष्टिगोचर होने लगती है। इसके कुछ समय पश्चात् यहां के प्रमुख पुरावशेष में ताम्र मानवाकृतियां की प्राप्ति हुई जो कुमाऊँ मण्डल के हल्द्वानी से मिले थे, तत्पश्चात् बनकोट से आठ, पिथौरागढ़ के नैनीपातल क्षेत्र से पांच मानवाकृतियां प्रकाश में आयी है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि ताम्र युग में उत्तराखण्ड में मानव सभ्यता एवं संस्कृति फलफूल रही थी। और इस समय निर्मित चित्रित मृदभाण्डों का सर्वप्रथम प्रयोग ताम्र युगीन व्यक्तियों ने भोजन पकाने, खाने–पीने सामान रखने के उद्‌देश्य से किया होगा व दैनिक जीवन में धार्मिक उपयोग की वस्तुओं का उपयोग धार्मिक अनुष्ठानों में प्रचलित था।

उत्तराखण्ड में ताम्र हस्तशिल्प कला का इतिहास कई दशक पुराना है। उत्तराखण्ड के चन्द राजवंश के शासकों ने टम्टा समुदाय के कुशल कारीगरों को चम्पावत से अल्मोड़ा लाकर बसाया था। चन्दों की राजधानी स्थानान्तरण के समय वे इन शिल्पियों को यहां लाए थे। कुमाऊं मण्डल में ताम्र शिल्प को प्रफुल्लित करने का श्रेय चन्द शासकों को प्राप्त है, उन्होंने ताम्र शिल्प के विकास में अहम भूमिका का निर्वाहा कर इसे गति प्रदान की। प्रारम्भ में इन्होनें टम्टा समुदाय के शिल्पियों को टकसालों में मुद्रा निर्माण में संलग्न किया व इन्हें दरबार में उच्च पद प्रदान किए जिससे टम्टा शिल्पियों की स्थिति उत्तम अवस्था में पहुंच गई। चन्द व पवार शासकों के समय टम्टाओं को दीवान का पद, टकसाल अधिकारी का पद और राजा के मुख्य अधिकारियों में स्थान दिया गया। कालान्तर में टम्टा शिल्पकर्मियों ने ताम्र धातु से अन्य उपयोगी वस्तुओं का निर्माण भी प्रारम्भ कर दिया। जो लोगों के घरेलू सामाजिक धार्मिक जीवन से संबंधित थी। इन वस्तुओं में ताम्र निर्मित फौला, घड़ा, पराद, फिल्टर, लोटा, थाली, जग, तश्तरी, गंगा जमुनी कलश, फूलदान, दिया, त्रिशूल, तांबे की तौली, आचमन, पंचमुखी दिया, ताम्र स्वास्तिक, ताम्र का, ताम्र नाग, देवता, हवन कुण्ड, दमाऊ, नगाड़ा, छोटा दर्मो, हुडकी, आदि अनेकों वस्तुओं का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। इन समस्त वस्तुओं के निर्माण के लिए ताम्र शिल्पकार ताम्र धातू की प्राप्ति पिथौरागढ़ के देवलथल, खराही, गंगोलीहाट, राम आगर, बाना आगर, काला आगर आदि खानों से करते थे। ऐसा माना जाता है कि इस समय अल्मोड़ा व बागेश्वर की खरेही की ताम्र शिल्प कला अधिक प्रचलन में थी। ताम्र शिल्पियों की कुशल नक्काशी के कारण ताम्र निर्मित वस्तुओं का व्यापार नेपाल व तिब्बत तक होने लगा।

कालान्तर में यह ताम्र हस्तशिल्प एक कुटीर उद्योग के रुप में स्थापित हुआ और शिल्पियों की आजीविका

का साधन बन गया। जिससे स्थानीय लोगों रोजगार मिला परन्तु कुछ वर्षो बाद बागेश्वर, डोबरी, खरेही, गढ़वाल व गंगोली आदि खाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिसमें से कुछ खाने गोरखा शासन के समय एवं अन्य खानों को अंग्रेजी शासन के काल में पूर्ण रुप से बन्द कर दिया गया। इन समस्त कार्यो के बावजूद भी ताम्र शिल्पियों ने अपना परम्परागत ताम्र उद्योग जारी रखा जो आज भी मंद गति से जारी है।

ताम्र शिल्प व शिल्पियों की वर्तमान स्थिति :

वर्तमान युग नवीन तकनीकियों का युग है। मशीनीकरण के कारण अब प्रत्येक वस्तु एक नवीन आकार प्रकार से निर्मित की जा रही है। जिसके प्रभावस्वरुप पुरातन हस्तशिल्प कला की चमक पूर्ण की अपेक्षा कम होती जा रही है। आधुनिक युग में ताम्र निर्मित वस्तुओं का स्थान अब शीशा, प्लास्टिक व अन्य धातुओं से बने आकर्षित वस्तुओं ने ग्रहण कर लिया है। जिस कारण वर्तमान समय में ताम्र धातु से बने वस्तुओं की मांग पूर्व की अपेक्षा क्षीण हो गई है। जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव शिल्प एवं ताम्र शिल्पकारों के जीवन पर नकारात्मक रुप से पड़ रहा है। जिस ताम्र उद्योग से सैकड़ों टम्टा शिल्पकार अपने परिवार का भरण पोषण करते थे। वे अब मजबूरन नवीन रोजगार की ओर उन्मूख है व रोजगार की खोज में शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। ताम्र शिल्प अपने गौरवशाली इतिहास के पश्चात् भी आधुनिक मशीनीकरण के कारण अनेकों चुनौतियों का सामना कर रही है। अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए निरंतर संघर्ष कर रही है। शिल्पकारों की आर्थिक स्थिति पूर्ण की अपेक्षा अब दयनीय होती जा रही है परन्तु अभी भी कुछ कुशल कारीगरों ने अपने पुस्तैनी शिल्प कला को जारी रखा है हांलाकि ताम्र शिल्प में संलग्न शिल्पकारों की संख्या में कमी आयी है। व ताम्र उद्योग भी मंद गति से चल रहा है। आधुनिक तकनीकों के प्रशिक्षण के अभाव के कारण शिल्पकार अपनी प्राचीन परम्पराओं व शैली का अनुसरण कर ताम्र वस्तुओं का उत्पादन कर रहे है। जिस कारण यह शिल्प कला अनेकों समस्याओं से घिरी पड़ी है।

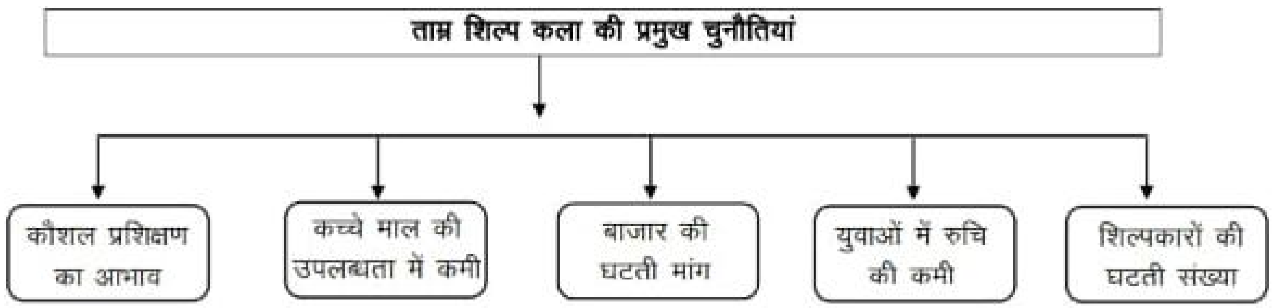

1. **बाजारों की घटती मांग :**

वर्तमान समय में मशीनीकरण के परिणामस्वरुप ताम्र निर्मित वस्तुओं की मांग में कमी आ रही है। आधुनिक समय में कम लागत में अधिक टिकाऊ सामाग्रियों का निर्माण किया जा रहा है। जिसका नकारात्मक प्रभाव ताम्र शिल्प पर पड़ रहा है व ताम्र शिल्प के व्यापार में दिन–प्रतिदिन गिरावट दर्ज की जा रही है।

2. **शिल्पकारों की घटती संख्या :**

ताम्र शिल्प में लिप्त टम्टा समुदाय के कुशल कारीगरों की संख्या में पूर्व की अपेक्षा कमी आयी है। ताम्र शिल्प के मन्द गति से चलने के कारण अधिकांश शिल्पकारों ने अपना परम्परागत ताम्र उद्योग को छोड़कर अन्य क्षेत्र में रोजगार की खोज में पलायन कर रहे हैं। यह निरन्तर पलायन ताम्र शिल्प के लिए बड़ी चुनौती हैं।

3. कच्चे माल की कमी :

ताम्र नगरी के नाम से विख्यात नगरी अल्मोड़ा अब परिवर्तित समय के साथ अपनी पहचान खोते जा रही है। ताम्र धातु के अनुचित उत्खनन के कारण और पर्यावरणीय नीतियों के कारण कच्चे माल की कीमतों में वृद्धि हुई है। जिसके परिणामस्वरुप ताम्र शिल्पियों को अधिक लागत में कच्चा माल प्राप्त करना एक गंभीर चुनौती है। पूर्व समय में ताम्र शिल्प कला के लिए धातु की प्राप्ति स्थानीय खानों से किया जाता था। गोरखा व अंग्रेजी शासन के समय इन खानों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिससे ताम्र वस्तुओं के निर्माण के लिए टम्टा शिल्पियों को ताम्र की प्लेट्स मुरादाबाद, मुम्बई आदि बाहरी व्यापारियों से मजबुरन प्राप्त करते थे।

4. प्रशिक्षण का आभाव :

वर्तमान समय मे युवा पीढ़ी अपने पुस्तैनी हस्तशिल्प से अंभिज्ञ होती जा रही है। उनमें ताम्र शिल्प के प्रति रुझान होता जा रहा है। वर्तमान समय में ताम्र शिल्पियों की संख्या कम होने के कारण ताम्र शिल्प भी अपने पतन की ओर उन्मुख है। नव युवाओं को शिल्पकला के प्रशिक्षण की आवश्यकता है। जिसके लिए उन्हें स्थानीय प्रशिक्षण केन्द्रों में ताम्र शिल्प कार्य सिखाया जाए। जिससे इस कला को पुनःजीवित किया जा सकें। परन्तु वर्तमान समय में ताम्र शिल्प प्रशिक्षण केन्द्रों की संख्या बहुत नागाढ़य है।

5. शहरीकरण का प्रभाव :

ताम्र शिल्प की विलुप्तता में शहरीकरण भी एक मुख्य कारण है। उत्तराखण्ड में तेजी से हो रहे शहरीकरण ने यहां के ग्रामीण समुदायों को प्रभावित किया है। जिससे ताम्र शिल्प के प्राचीन तरीको में भी परिवर्तन हुआ। अब ताम्र वस्तुओं के निर्माण में आधुनिक तकनीकी के परिणामस्वरुप परम्परिक हस्तशिल्प कला का महत्व घटता जा रहा है व लोग अपनी सांस्कृतिक धरोहर ताम्र शिल्प को भुलते जा रहे है। जिस कारण स्थानीय लोग इस ताम्र हस्तशिल्प के प्रशिक्षण से वंचित है जो वर्तमान समय में इस समस्या से जूझ रहे हैं।

यह समस्त चुनौतियां वर्तमान में ताम्र शिल्पियों के सम्मुख एक गंभीर समस्या बन कर खड़ी है। और ताम्र शिल्प की चमक अब धूमिल होती जा रही है परन्तु इसे कुछ प्रयासों के तहत रोका जा सकता है। व इसे पुनः जीवान्त अवस्था प्रदान की जा सकती है। यदि यह कदम उठाए जाए व इन पर सकारात्मक कार्य किए जाए तो इस कला का पुनरुद्धार संभव है।

6. ताम्र हस्तशिल्प कला के पुनरुद्धार के प्रयास :

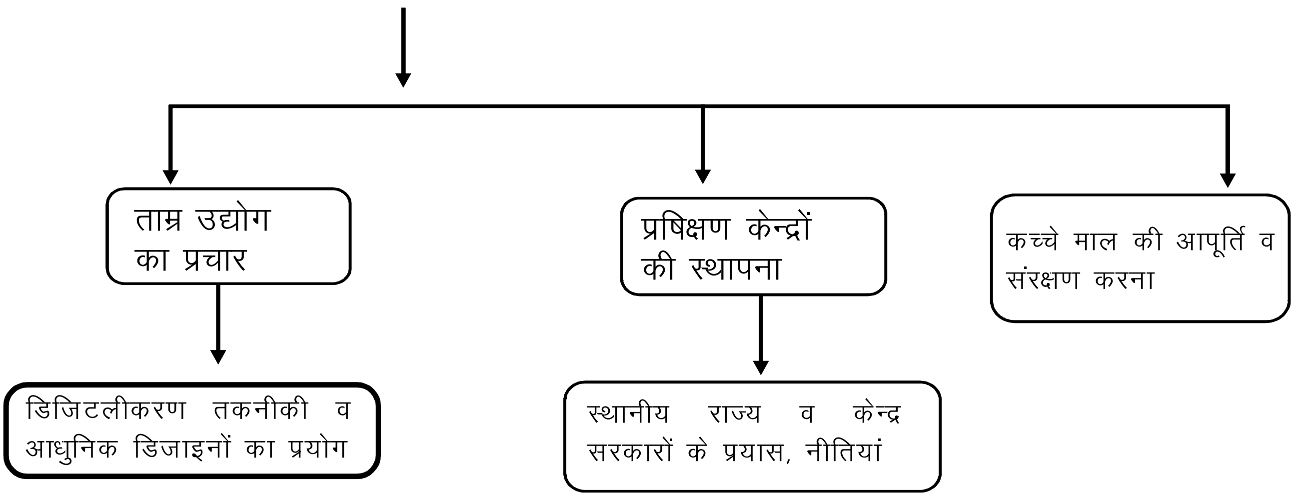

यदि इन समस्त बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाए तो संभवता ताम्र शिल्प का पुनरुद्धार संभव है। ताम्र शिल्प के संरक्षण के लिए व बाजारों में ताम्र वस्तुओं के मांग बढ़ाने के लिए बड़े पैमाने पर इसका प्रचार–प्रसार करना चाहिए। जिससे अधिक से अधिक लोग इससे लाभान्वित हो व अपने पारम्परिक शिल्प के प्रति रुचि उत्पन्न हो। आधुनिक युग मशीनीकरण का युग है। इन नवीन तकनीकियों का प्रयोग ताम्र शिल्प के उत्पादन में करना चाहिए। जिससे ताम्र वस्तुओं को नवीन आकार प्रकार व शैलियों से निर्मित किया जाए। व ताम्र कलाकारों की नवीन तकनीकि शैली का ज्ञान प्रदान कर प्रशिक्षण दिया जाए। जो भविष्य में इस उद्योग को उच्च स्तर पर पंहुचाने में सहायक सिद्ध हो। वर्तमान समय में ताम्र शिल्प कला के कार्य में टम्टा समुदाय के अलावा अन्य समुदाय भी इस कार्य को कर रहे हैं।

राज्य में ग्राम स्तर पर ब्लॉक व जनपदों में सरकारी व गैर सरकारी शिल्प प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए जाने चाहिए। जहां आधुनिक तकनीकि के साथ–साथ पुरातन ताम्र शिल्प कला का भी प्रशिक्षण दिया जा सके। राज्य सरकार को ताम्र शिल्पियों के लिए कच्चे धातु को उपलब्ध कराने के लिए विशेष नीतियों को लागू करने पर विशेष बल देना चाहिए व खनिज संसाधनों के संरक्षण व उचित उत्खन्न की दिशा में ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। साथ ही ताम्र शिल्पकारों को प्रोत्साहन देने के लिए उन्हें सब्सिडी प्रदान की जानी चाहिए।

ताम्र शिल्प के पुनरुद्धार में वर्तमान डिजिटलीकरण एक अहम भूमिका का निर्वाह कर सकता है। जैसे DDH चैनलो पर विभिन्न विषयों से संबंधित जानकारी को एक बड़े नेटवर्क के जरिए लोगों तक पंहुचाया व सिखाया जा रहा है। ठीक उसी प्रकार इन चैनल्स के माध्यम से ताम्र शिल्प कला का प्रशिक्षण आम जन को प्रदान की जा सकती है। समस्त ताम्र शिल्प प्रशिक्षण कार्यक्रमों को ऑनलाइन विपणन के माध्यम से दिखाया जाए जिससे यह कला पीढ़ी दर पीढ़ी एक दूसरे को हस्तान्तरित होते रहेगी व नई पीढ़ी को शिक्षित करते रहेगी। और उनमें हस्तशिल्प के प्रति रुझान उत्पन्न करेगी।

निष्कर्ष :

उत्तराखण्ड की ताम्र शिल्प कला लगभग द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से जारी है। यहां की ताम्र धातु की खाने लम्बे समय से ताम्र शिल्पियों को धातु उपलब्ध कर उन्हें पोषित करती रही है। परन्तु वर्तमान समय में उत्तराखण्ड की ताम्र शिल्प कला जो प्राचीन काल से ही इस राज्य की सांस्कृतिक धरोहर का अभिन्न हिस्सा रही है। वह आज अपने गौरवशाली इतिहास होने के बावजूद अनेकों समस्याओं व चुनौतियों से जूझ रही है। यहां के सैकड़ों शिल्पकार ताम्र हस्तशिल्प कार्य में संलग्न है व कलात्मक सौन्दर्यता से युक्त वस्तुओं का निर्माण कर रहे है। यदि राज्य सरकार इन शिल्पकारों के लिए लघु उद्योग केन्द्रों एवं प्रशिक्षण केन्द्रों को स्थापित कर दे तो यह शिल्पकार आधुनिक तकनीकी और डिजाइनों का प्रयोग कर इन ताम्र वस्तुओं को अत्यधिक कलात्मक रुप प्रदान कर सकते है। जिससे लाभान्वित होकर वे अपने उत्पादों को देश के कोने–कोने में और विदेशों में इसका व्यापार कर सकेगे। साथ ही नवीन कुटीर उद्योग स्थापित होगें। ताम्र शिल्प कला आधुनिक मशीनीकरण और पश्चात् सभ्यता से अधिक प्रभावित हुई है। इस सभ्यता की चकाचौध में आकर आम जनमानस में इस सभ्यता के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। और वे धीरे–धीरे अपने परम्परागत ताम्र हस्तशिल्प से विमुख होते चले गए। जिसने ताम्र शिल्प को पतन के गर्त में ढकेल दिया। साथ ही साथ प्रशासन के निष्क्रिय प्रयासों व उचित मार्ग दर्शन के आभाव के कारण यहां के टम्टा शिल्पियों की स्थिति दिन–प्रतिदिन खराब होती गयी।

वर्तमान समय में ताम्र शिल्प के पतन के विभिन्न कारण जिम्मेदार है जिसमें टम्टा शिल्पकारों की खराब आर्थिक स्थिति के कारण निवेश के लिए पूंजी का आभाव, नवीन तकनीकी के प्रशिक्षण का आभाव, उत्पाद के विक्रय के लिए उचित बाजार की कमी, आधुनिक मशीनों, डिजाइनों के प्रशिक्षण का आभाव, युवा पीढ़ी में पुस्तैनी कार्य के प्रति रुचि का आभाव, ताम्र धातु के कच्चे माल का आभाव, स्थानीय व राज्य स्तर पर ठोस प्रयासों व नीतियों का आभाव, प्रशिक्षण केन्द्रों की न्यूनतम होना आदि अनेकानेक कारण जिम्मेदार है जो ताम्र हस्तशिल्प कला के सम्मुख चुनौनियां बन कर खड़ी है।

उत्तराखण्ड की ताम्र शिल्प को पुनः जीवन्त रुप प्रदान करने के लिए व प्रोत्साहन देने के लिए इन समस्त आभावों को दूर करने की आवश्यकता है। स्थानीय शिल्पकारों, समाज राज्य सरकार के बीच आपसी सहयोग से ही इस विलुप्त होती कला की वर्तमान स्थिति में सुधार लाया जा सकता है। और बाजारों की मांग के अनुरुप वस्तुओं का उत्पादन नवीन तकनीक व डिजाइन, शैली से कर इस कला को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सकता है। जिससे न केवल ताम्र शिल्पियों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा बल्कि राज्य की अर्थव्यवस्था में भी सहयोग मिलेगा।

सन्दर्भ –

1. नेगी, बी. डी. एस. (2011) कुमाऊँ का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, 12वीं से 18वीं शताब्दी मल्लिका बुक, दिल्ली, 110084
2. जोशी आशा (1994) पिथौरागढ़ जनपद का इतिहास।
3. शर्मा डी. डी. (2009) उत्तराखण्ड की लोक कथाएं एवं शिल्प कौशल, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।
4. टम्टा संजय– कुमाऊँ में ताम्र धातु, परम्परागत ताम्र शिल्प एक सांस्कृतिक धरोहर।
5. सक्सेना कौशल किशोर (1994) कुमाऊँ कला, शिल्प और संस्कृति, प्रकाशन अल्मोड़ा बुक डिपो अल्मोड़ा।
6. टम्टा सुरेश (2007) वर्तमान अतीत मध्य हिमालय का शिल्प, शिल्पकार एवं नृ–पुरातत्व, अल्मोड़ा बुक डिपो अल्मोड़ा।
7. टम्टा रचना– समय आगम मेरठ जनरल।
8. चौबे सौरब, प्राचीन भारत का इतिहास।
9. अग्रवाल डी. पी. (1982) द आर्कियोलोजी ऑफ इण्डिया लन्दन।
10. डी. पी. एवं जोशी एम. पी. (1978) रांक पेटिग्स इन कुमाऊँ, मैन एण्ड इनवाय रमैन्ट, खण्ड–2, अहमदाबाद।
11. मठपाल यशोधर समवेत (1994) प्रकाशक अल्मोड़ा बुक डिपो।
12. शर्मा डी डी, उत्तराखण की लोक कलाऐ एंव शिल्पकौशल, अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी, 2009
13. टम्टा गीता, कुमाऊॅ में परम्परागत ताम्र शिल्प एक ऐतिहासिक अध्ययन, कुमाऊॅ विश्वविद्यालय मे अप्रकशित, शोध प्रबन्ध, 2011
14. नीरप्रभा, कुमाऊॅ मध्य हिमालय समाज एंव संस्कृति, प्रकाशन मल्लिका बुक्स दिल्ली, 2008
15. सक्सेना कौशल किशोर, कुमाँऊ कला, शिल्प और संस्कृति प्रकाशक अल्मोडा बुक डिपो, 2011,

Email: shivani.vire@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 104-109

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

Impact of Social Media and Online Games on Early Growing School Children

NITISH KUMAR SINGH

ASST. PROF, ST.PAUL TEACHERS' TRAINING COLLEGE, PIN - 848102

Abstract :

In today's digital era, social media and online games have a profound influence on children's lives. This impact extends beyond their academic performance and cognitive development, affecting social behavior, emotional stability, and physical health as well. Early school-age children are particularly sensitive to exposure to technological devices and digital platforms. This research paper aims to explore how social media and online games influence the mental, physical, and social development of school children. The study reveals that excessive screen time can lead to antisocial behavior, reduced academic performance, and mental stress, among other challenges. Recommendations for parents, teachers, and policymakers are also discussed to mitigate these negative effects while promoting healthy digital habits.

Keywords :

Social Media, Online Games, School Children, Mental Health, Social Behavior, Digital Era

Introduction :

In the modern digital world, children are increasingly exposed to smartphones, tablets, and computers at an early age. Access to the internet has made social media platforms such as Facebook, Instagram, TikTok, and online games like Fortnite, Minecraft, and PUBG an integral part of children's daily routines. While these platforms provide opportunities for learning, creativity, and social interaction, they also carry potential risks that can affect children's overall development.

Early school-age children are particularly impressionable, and the content they consume can significantly shape their cognitive, emotional, and social skills. According to recent studies, children aged 6–12 spend an average of 2–4 hours daily on digital devices, primarily on social media and gaming. Excessive screen time can interfere with their academic learning, reduce physical activity, and affect their ability to engage meaningfully with peers and family members.

This paper seeks to investigate the multidimensional impact of social media and online gaming on school children, highlighting both the potential benefits and negative consequences. The study emphasizes the importance of awareness among parents, teachers, and policymakers to foster balanced digital engagement for young learners.

The Rise of Social Media and Online Gaming Among Children :

Over the past decade, there has been a rapid increase in the use of social media and online games among children. Digital platforms are designed to be engaging and interactive, capturing children's attention for extended periods. Social media applications allow children to connect with peers, share content, and receive instant feedback in the form of likes and comments. Online games provide entertainment, challenges, and rewards, which create a sense of achievement and excitement.

However, the addictive design of these platforms can lead to excessive use. Studies indicate that children often prefer online interactions over face-to-face communication, which can affect their social skills. The immersive nature of online games also increases the risk of prolonged sedentary behavior, contributing to physical health issues such as obesity and poor posture.

In addition, social media exposes children to a wide range of content, not all of which is age-appropriate. Violent, suggestive, or misleading material can affect a child's psychological development and shape inappropriate perceptions of reality. Therefore, understanding the scale and patterns of usage is critical for assessing the overall impact of these digital tools on school children.

Psychological Impact

Cognitive Development :

Some online games and educational apps can enhance problem-solving skills, logical thinking, and memory. However, excessive screen time often impairs concentration and learning abilities. Children who spend prolonged hours on social media may develop shorter attention spans, struggle with task completion, and face difficulties in retaining academic knowledge.

Emotional Effects :

Social media exposes children to peer pressure, unrealistic expectations, and cyberbullying. Negative experiences, such as online teasing or exclusion, can increase anxiety, depression, and low self-esteem. Similarly, online games, especially competitive or violent ones, can trigger frustration, aggression, or even addictive behaviors when children fail to achieve goals or win challenges.

Behavioral Changes :

Exposure to aggressive gaming content may lead to irritability, impatience, and, in some cases, aggressive tendencies. Social media can also influence behavior through trends, viral challenges, or peer comparisons, sometimes encouraging risky or inappropriate actions. These behavioral changes

can affect relationships with parents, teachers, and peers, creating social difficulties in both school and home environments.

Social Impact

Peer Relationships :

Children spending more time online may prefer virtual communication over face-to-face interaction. This can limit the development of empathy, conflict-resolution skills, and meaningful friendships. Excessive online engagement may also lead to social withdrawal, making it difficult for children to form strong bonds with classmates or neighbors.

Family Dynamics :

High engagement with social media and online games can impact family relationships. Children may isolate themselves in their rooms, reducing opportunities for conversations, shared meals, or collaborative activities with parents and siblings. This can weaken familial bonds and reduce the sense of emotional support at home.

Community Engagement :

Children overly focused on digital entertainment often participate less in community or school events. Their reduced involvement in group activities and sports can hinder the development of teamwork, leadership, and cooperative skills, which are essential for holistic social growth.

Physical Health Impact

Sedentary Behavior :

Children who spend long hours on screens tend to engage less in physical activities such as outdoor play, sports, or exercise. This reduction in movement can contribute to obesity, poor muscle development, and weaker cardiovascular fitness.

Vision and Posture Problems :

Prolonged screen exposure can cause digital eye strain, headaches, and blurred vision. Continuous sitting in front of devices also affects posture, leading to back and neck problems.

Sleep Disturbances :

Blue light emitted by screens interferes with melatonin production, making it harder for children to fall asleep. Poor sleep quality can impact growth, memory consolidation, mood regulation, and overall cognitive development.

Motor Skill Development :

Reduced outdoor play and physical activities limit opportunities for fine and gross motor skill development. Activities like running, climbing, or team sports are essential for coordination, balance, and overall physical growth.

Academic Implications

Distraction and Reduced Focus :

Children who spend excessive time on social media or gaming often face difficulty concentrating on schoolwork. Constant notifications, messages, and game alerts can disrupt study routines, reducing the quality of learning and the ability to complete homework on time.

Decreased Academic Performance :

Excessive screen time can lead to procrastination, incomplete assignments, and reduced engagement in class activities. Studies indicate that children with higher daily screen time often score lower in reading, mathematics, and other core subjects compared to peers with limited screen exposure.

Positive Academic Use :

When used appropriately, digital tools can support learning. Educational apps, online tutorials, and gamified learning platforms can make complex topics more engaging. For example, interactive quizzes, educational videos, and collaborative online projects enhance understanding, creativity, and problem-solving skills.

Time Management Skills :

Unmonitored digital usage can prevent children from developing essential time management skills. Balancing study, play, and digital entertainment is necessary to maintain academic discipline and prevent long-term learning gaps.

Parental and Educational Strategies

Time Management :

Setting clear limits on daily screen time is essential. The American Academy of Pediatrics recommends no more than 1–2 hours of recreational screen time for children aged 6–12. Scheduling specific times for online activities ensures that children also spend time on homework, physical activities, and hobbies.

Content Monitoring :

Parents should ensure that children access age-appropriate content. Installing parental controls, monitoring apps, and regularly discussing online experiences can prevent exposure to violent, inappropriate, or misleading material.

Encouraging Outdoor and Physical Activities :

Parents and schools should promote outdoor games, sports, and creative activities. Physical engagement not only supports health but also develops social and teamwork skills. Activities like cycling, team sports, or art projects reduce dependency on digital entertainment.

Digital Literacy Education :

Children should be taught responsible online behavior, including cyber safety, privacy protection, and identifying misinformation. Schools can organize workshops on digital literacy to help children navigate online platforms safely and ethically.

Parental Involvement :

Active participation in children's digital life can strengthen guidance. Co-playing educational games, discussing online content, and modeling responsible technology use encourage balanced habits.

School Programs and Policies :

Schools can implement policies to regulate screen use during school hours. Incorporating technology in learning purposefully, rather than for entertainment, helps children benefit academically while minimizing distractions.

Recommendations and Conclusion

Recommendations :

Based on the analysis of the impact of social media and online games on early growing school children, the following recommendations are suggested :

1. **Balanced Screen Time :**

   Children should follow a balanced daily routine that includes limited screen time, adequate sleep, physical activity, and study hours. Screen time should never replace essential activities like reading, outdoor play, or family interaction.

2. **Active Parental Supervision :**

   Parents should regularly monitor children's digital activities without being overly restrictive. Open communication about online experiences helps children feel supported and reduces the risk of harmful exposure.

3. **Age-Appropriate Digital Access :**

   Social media platforms and online games should be accessed according to age guidelines. Schools and parents must ensure children are not exposed to violent or psychologically harmful content.

4. **Integration of Educational Technology :**

   Schools should promote the use of educational apps and learning-based games that enhance creativity, problem-solving skills, and academic understanding.

5. **Mental Health Awareness :**

   Teachers and parents should remain attentive to emotional or behavioral changes in children, such as anxiety, aggression, or withdrawal, and seek timely counseling support when needed.

Conclusion :

Social media and online games have become an inseparable part of children's lives in the digital age. While these platforms offer opportunities for learning, creativity, and global connectivity, excessive and unregulated usage can negatively affect children's mental health, physical well-being, academic performance, and social relationships.

Early school-age children are particularly vulnerable, as their cognitive and emotional development is still in progress. Therefore, it is essential to create a balanced digital environment where technology is used as a tool for growth rather than a source of distraction or harm.

With proper guidance, supervision, and collaboration between parents, teachers, and schools, children can enjoy the benefits of digital media while avoiding its negative consequences. Responsible use of social media and online games is the key to ensuring healthy and holistic development of early growing school children.

References :

1. Anderson, C. A., & Dill, K. E. (2000). Video games and aggressive thoughts, feelings, and behavior in the laboratory and in life. Journal of Personality and Social Psychology, 78(4), 772–790.
2. Twenge, J. M., & Campbell, W. K. (2018). Associations between screen time and lower psychological well-being among children and adolescents: Evidence from a population-based study. Preventive Medicine Reports, 12, 271–283.
3. Livingstone, S., & Smith, P. K. (2014). Annual research review: Harms experienced by child users of online and mobile technologies. Journal of Child Psychology and Psychiatry, 55(6), 635–654.
4. Griffiths, M. D. (2010). The role of context in online gaming excess and addiction: A case study evidence. International Journal of Mental Health and Addiction, 8(1), 119–125.
5. Rideout, V., Foehr, U., & Roberts, D. (2010). Generation M²: Media in the Lives of 8–18-Year-Olds. Kaiser Family Foundation.
6. Kuss, D. J., & Griffiths, M. D. (2012). Internet gaming addiction: A systematic review of empirical research. International Journal of Mental Health and Addiction, 10(2), 278–296.
7. American Academy of Pediatrics. (2016). Media and young minds. Pediatrics, 138(5), e20162591.
8. UNICEF. (2017). Children in a Digital World. United Nations Children's Fund.
9. Przybylski, A. K., & Weinstein, N. (2017). A large-scale test of the Goldilocks hypothesis: Quantifying the relations between digital-screen use and mental well-being. Psychological Science, 28(2), 204–215.
10. Gentile, D. A. (2009). Pathological video-game use among youth ages 8 to 18. Psychological Science, 20(5), 594–602.

MOB - 8292487535, EMAIL-nitishkumarsingh69@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 110-114

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

सहयोगात्मक अधिगम और अकादमिक सफलता

Dr. Vaishali Singh
Assistant Professor, Education Department
Smt. Anar Devi T.T. College Bakharana (Kotputli) Behror, Rajasthan-303108

सारांश :

इक्कीसवीं सदी में शिक्षा का स्वरूप तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा है। ज्ञान के विस्तार, तकनीकी प्रगति तथा सामाजिक–आर्थिक आवश्यकताओं ने पारंपरिक शिक्षा प्रणाली को चुनौती दी है। आज शिक्षा का उद्देश्य केवल पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान प्रदान करना नहीं रह गया है, बल्कि विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चिंतन, समस्या–समाधान, सहयोग, संवाद तथा सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे कौशलों का विकास करना भी अनिवार्य हो गया है। इस संदर्भ में सहयोगात्मक अधिगम एक प्रभावी शिक्षण–अधिगम रणनीति के रूप में उभरा है।

सहयोगात्मक अधिगम वह प्रक्रिया है जिसमें विद्यार्थी समूहों में मिलकर सीखते हैं, विचारों का आदान–प्रदान करते हैं और सामूहिक रूप से ज्ञान का निर्माण करते हैं। यह शोध पत्र सहयोगात्मक अधिगम की अवधारणा, उसके सैद्धांतिक आधार, प्रमुख तत्वों, प्रकारों तथा अकादमिक सफलता पर उसके प्रभाव का विस्तृत और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सहयोगात्मक अधिगम न केवल शैक्षणिक उपलब्धि को बढ़ाता है, बल्कि विद्यार्थियों के सामाजिक, भावनात्मक और बौद्धिक विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान देता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यदि सहयोगात्मक अधिगम को योजनाबद्ध, संतुलित और उद्देश्यपूर्ण ढंग से लागू किया जाए, तो यह शिक्षा की गुणवत्ता को सुदृढ़ करने के साथ–साथ अकादमिक सफलता की दिशा में एक सशक्त माध्यम सिद्ध हो सकता है।

कुंजी शब्द :

सहयोगात्मक अधिगम, अकादमिक सफलता, समूह अधिगम, सक्रिय अधिगम, शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया।

भूमिका :

शिक्षा मानव समाज के विकास का मूल आधार रही है। किसी भी राष्ट्र की प्रगति उसकी शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। परंपरागत शिक्षा प्रणाली में शिक्षक–केन्द्रित दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गई, जहाँ शिक्षक ज्ञान का स्रोत और विद्यार्थी ज्ञान का ग्रहणकर्ता माना जाता था। इस व्यवस्था में विद्यार्थियों की भूमिका अपेक्षाकृत निष्क्रिय थी तथा उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे शिक्षक द्वारा दिए गए ज्ञान को स्मरण कर परीक्षा में प्रस्तुत करें।

समय के साथ यह अनुभव किया गया कि ऐसी शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थियों के समग्र विकास में बाधक है।

आधुनिक समाज में केवल स्मरण–आधारित ज्ञान पर्याप्त नहीं है। आज के युग में विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे ज्ञान का विश्लेषण करें, उसे व्यावहारिक जीवन में लागू करें, दूसरों के साथ मिलकर कार्य करें और जटिल समस्याओं का समाधान खोजें। इस परिवर्तनशील सामाजिक–आर्थिक परिदृश्य ने शिक्षण–अधिगम की विधियों में भी परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित किया है।

इसी संदर्भ में सहयोगात्मक अधिगम की अवधारणा सामने आती है। यह अधिगम की एक ऐसी पद्धति है जिसमें विद्यार्थी समूहों में मिलकर सीखते हैं और सीखने की जिम्मेदारी साझा करते हैं। सहयोगात्मक अधिगम विद्यार्थियों को सक्रिय सहभागिता के लिए प्रेरित करता है तथा सीखने को एक सामाजिक और अनुभवात्मक प्रक्रिया के रूप में स्थापित करता है।

अकादमिक सफलता की अवधारणा भी समय के साथ व्यापक हुई है। पहले इसे केवल परीक्षा परिणामों और अंकों तक सीमित माना जाता था, परंतु आधुनिक दृष्टिकोण में अकादमिक सफलता में ज्ञान की गहराई, आलोचनात्मक चिंतन, समस्या–समाधान क्षमता, आत्म–अनुशासन, सामाजिक कौशल और आजीवन सीखने की प्रवृत्ति को भी शामिल किया जाता है। इस व्यापक संदर्भ में सहयोगात्मक अधिगम की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है।

सहयोगात्मक अधिगम की अवधारणा :

सहयोगात्मक अधिगम वह शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया है जिसमें दो या अधिक विद्यार्थी मिलकर साझा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया में सीखना संवाद, विचार–विमर्श और परस्पर सहयोग के माध्यम से होता है। सहयोगात्मक अधिगम का मूल सिद्धांत यह है कि ज्ञान का निर्माण सामाजिक अंतःक्रिया के माध्यम से होता है।

इस पद्धति में प्रत्येक विद्यार्थी न केवल अपने सीखने के लिए उत्तरदायी होता है, बल्कि समूह के अन्य सदस्यों के सीखने में भी योगदान देता है। सहयोगात्मक अधिगम प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग को प्राथमिकता देता है, जिससे सीखने का वातावरण अधिक सकारात्मक, लोकतांत्रिक और सहायक बनता है।

सहयोगात्मक अधिगम के माध्यम से विद्यार्थी विविध दृष्टिकोणों से परिचित होते हैं। यह विविधता उनके चिंतन को व्यापक बनाती है और उन्हें अधिक संतुलित निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायता करती है। इस प्रकार सहयोगात्मक अधिगम सीखने की प्रक्रिया को अधिक अर्थपूर्ण और स्थायी बनाता है।

सहयोगात्मक अधिगम का सैद्धांतिक आधार

वायगोत्स्की का सामाजिक-सांस्कृतिक सिद्धांत :

वायगोत्स्की के अनुसार अधिगम एक सामाजिक प्रक्रिया है। उन्होंने 'निकटस्थ विकास क्षेत्र' की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसके अनुसार विद्यार्थी सहपाठियों और शिक्षकों के सहयोग से अधिक प्रभावी ढंग से सीख सकते हैं। सहयोगात्मक अधिगम इस सिद्धांत को व्यवहार में लाता है।

पियाजे का संज्ञानात्मक विकास सिद्धांत :

पियाजे ने यह माना कि ज्ञान का निर्माण सक्रिय सहभागिता के माध्यम से होता है। जब विद्यार्थी समूह में चर्चा करते हैं, तो उनके संज्ञानात्मक ढाँचे का विकास होता है।

जॉन ड्यूई का अनुभवात्मक अधिगम सिद्धांत :

ड्यूई के अनुसार शिक्षा अनुभव आधारित होनी चाहिए। सहयोगात्मक अधिगम विद्यार्थियों को अनुभवों के माध्यम से सीखने का अवसर प्रदान करता है।

इन सिद्धांतों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सहयोगात्मक अधिगम वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक सुदृढ़ शिक्षण पद्धति है।

सहयोगात्मक अधिगम के प्रकार :

1. **छोटे समूहों में अधिगम :** 3:6 विद्यार्थियों के समूह में कार्य।
2. **सहपाठी शिक्षण :** विद्यार्थी एक–दूसरे को पढ़ाते हैं।
3. **समस्या-आधारित अधिगम :** वास्तविक जीवन की समस्याओं का समूह में समाधान।
4. **परियोजना-आधारित अधिगम :** दीर्घकालिक समूह परियोजनाएँ।
5. **वाद–विवाद और विचार–विमर्श :** संवाद आधारित सहयोग।

सहयोगात्मक अधिगम के प्रमुख तत्व :

- ☐ **सकारात्मक परस्पर निर्भरता :** समूह के सदस्य एक–दूसरे पर निर्भर होते हैं।
- ☐ **व्यक्तिगत उत्तरदायित्व :** प्रत्येक विद्यार्थी अपने योगदान के लिए जिम्मेदार होता है।
- ☐ **प्रत्यक्ष अंतःक्रिया :** संवाद और चर्चा के माध्यम से सीखना।
- ☐ **सामाजिक कौशल :** सहयोग, सहिष्णुता, नेतृत्व और सम्मान।
- ☐ **समूह आत्म–मूल्यांकन :** अपने कार्य का विश्लेषण और सुधार।

अकादमिक सफलता की अवधारणा :

अकादमिक सफलता को पारंपरिक रूप से परीक्षा परिणामों से मापा जाता रहा है, परंतु आधुनिक शिक्षा में इसे एक व्यापक अवधारणा के रूप में देखा जाता है। इसमें विषयगत ज्ञान के साथ–साथ विश्लेषण क्षमता, समस्या–समाधान कौशल, आत्म–अनुशासन, समय प्रबंधन और आजीवन सीखने की प्रवृत्ति को भी शामिल किया जाता है।

एक अकादमिक रूप से सफल विद्यार्थी वह होता है जो न केवल परीक्षाओं में अच्छा प्रदर्शन करता है, बल्कि अपने ज्ञान का प्रयोग व्यावहारिक जीवन में भी कर सकता है। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो सहयोगात्मक अधिगम अकादमिक सफलता को बहुआयामी बनाता है।

सहयोगात्मक अधिगम और अकादमिक सफलता का संबंध :

सहयोगात्मक अधिगम और अकादमिक सफलता के बीच घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। समूह में सीखने से विद्यार्थी विषय को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझते हैं, जिससे उनकी अवधारणात्मक स्पष्टता बढ़ती है। संवाद और चर्चा के माध्यम से ज्ञान अधिक समय तक स्मरण रहता है।

अनेक अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि सहयोगात्मक अधिगम से विद्यार्थियों के परीक्षा परिणामों में सुधार होता है। इसके अतिरिक्त, यह सीखने के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करता है, जो अकादमिक सफलता का एक महत्वपूर्ण आधार है।

सहयोगात्मक अधिगम के शैक्षणिक लाभ :

- सीखने की गहराई और गुणवत्ता में वृद्धि।
- आलोचनात्मक एवं रचनात्मक चिंतन का विकास।
- भाषा और संप्रेषण कौशल में सुधार।
- आत्मविश्वास और नेतृत्व क्षमता का विकास।
- कमजोर विद्यार्थियों को समूह सहयोग से सहायता।

ये सभी लाभ अकादमिक सफलता को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभाव :

सहयोगात्मक अधिगम विद्यार्थियों के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास में भी सहायक है। इससे सहयोग, सहानुभूति, सहिष्णुता और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है। समूह में कार्य करने से भय और तनाव में कमी आती है तथा आत्मसम्मान में वृद्धि होती है।

सहयोगात्मक अधिगम की चुनौतियाँ :

- कुछ विद्यार्थियों की निष्क्रियता।
- समूह में असमान योगदान।
- समय प्रबंधन की कठिनाई।
- शिक्षक की अपर्याप्त तैयारी।

इन चुनौतियों को उचित योजना और सतत मार्गदर्शन से कम किया जा सकता है।

शिक्षक की भूमिका :

सहयोगात्मक अधिगम में शिक्षक की भूमिका मार्गदर्शक और सुविधा प्रदाता की होती है। शिक्षक को समूह गठन, कार्य विभाजन, संवाद को प्रोत्साहित करने और निष्पक्ष मूल्यांकन की जिम्मेदारी निभानी होती है। शिक्षक का सकारात्मक दृष्टिकोण सहयोगात्मक अधिगम की सफलता के लिए अत्यंत आवश्यक है।

भारतीय शिक्षा प्रणाली में सहयोगात्मक अधिगम :

भारतीय शिक्षा प्रणाली में विविधता अत्यधिक है। विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और भाषायी पृष्ठभूमि से आने वाले विद्यार्थियों के लिए सहयोगात्मक अधिगम समावेशी शिक्षा को बढ़ावा देता है। यह कमजोर और पिछड़े वर्ग के विद्यार्थियों को भी मुख्यधारा से जोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

प्रभावी क्रियान्वयन हेतु सुझाव :

- स्पष्ट उद्देश्य निर्धारण।
- संतुलित और विविध समूह निर्माण।
- समयबद्ध गतिविधियाँ।
- सतत और बहुआयामी मूल्यांकन।
- सकारात्मक अधिगम वातावरण का निर्माण।

निष्कर्ष :

सहयोगात्मक अधिगम आधुनिक शिक्षा प्रणाली की एक प्रभावशाली और प्रासंगिक शिक्षण–अधिगम रणनीति

है। यह न केवल अकादमिक सफलता को बढ़ावा देता है, बल्कि विद्यार्थियों के सामाजिक, भावनात्मक और बौद्धिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि इसे योजनाबद्ध, संतुलित और उद्देश्यपूर्ण ढंग से लागू किया जाए, तो यह शिक्षा की गुणवत्ता में उल्लेखनीय सुधार ला सकता है और भविष्य की शिक्षा के लिए एक सशक्त आधार प्रदान कर सकता है।

संदर्भ सूची :

1. अग्रवाल, जे. सी. (2010). शिक्षा मनोविज्ञान के सिद्धांत. नई दिल्ली : विकास पब्लिशिंग हाउस।
2. कोठारी, सी. आर. (2004). शोध पद्धतिरू विधियाँ एवं तकनीकें. नई दिल्ली : न्यू एज इंटरनेशनल।
3. शर्मा, आर. ए. (2014). शिक्षा मनोविज्ञान. आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर।
4. अवस्थी, डी. एन. (2012). आधुनिक शिक्षण विधियाँ. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
5. स्लाविन, आर. ई. (2011). सहयोगात्मक अधिगम एवं अकादमिक उपलब्धि. शिक्षा अनुसंधान जर्नल, 45(2), 112–128।
6. राष्ट्रीय शिक्षा नीति. (2020). शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार. नई दिल्ली।
7. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी). (2005). राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा. नई दिल्ली : एनसीईआरटी।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 115-122

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

Comparative Awareness of Yoga and Physical Education Careers among Urban and Rural College going girl's

Dr. Anurag Singh, Aso. Professor (YOGA),
Amar Singh, Research Scholar,
Dep. Of Physical Education, Post Graduate College, Ghazipur, U.P.

Abstract

This comparative cross-sectional study examines differences in **awareness**, **perceptions**, **perceived barriers**, and **willingness** to pursue careers in **yoga** and **physical education (PE)** among urban and rural College going girl'sin Gorakhpur District, India. Grounded in **Social Cognitive Career Theory** and the **Theory of Planned Behavior**, the survey (N = 800; 400 urban, 400 rural; ages 17–25) employed an adapted S-VYASA questionnaire to measure domain-specific familiarity, attitudes, and intent. Psychometric checks indicated acceptable reliability (ás ? .79). Urban students reported significantly higher awareness for both yoga (urban M = 3.45, SD = .86; rural M = 2.67, SD = .92) and PE (urban M = 3.02, SD = .90; rural M = 2.11, SD = .87); paired tests confirmed yoga > PE awareness within locales (ps < .001). Urban respondents also indicated more favorable perceptions and lower barrier scores. Hierarchical regression showed awareness (â = .39, p < .001), perception (â = .31, p < .001), and barriers (â = ?.28, p < .001) jointly predicted willingness, accounting for 52% of variance (R^2 = .52). Interaction effects indicated the awareness ? willingness relationship is stronger in urban contexts. Findings suggest targeted rural interventions—awareness campaigns, family-inclusive counseling, accessible accredited training, and financial supports—are needed to close the urban–rural gap. Limitations and recommendations for longitudinal and intervention research are discussed.

Keywords : yoga careers, physical education, awareness, women, urban–rural, India, SCCT, TPB

Introduction :

India's expanding wellness and sports sectors have increased attention to career pathways

in **yoga** and **physical education (PE)** (Ministry of AYUSH, 2020; University Grants Commission [UGC], 2018). While yoga has achieved wide visibility through institutionalization and national promotion (S-VYASA, 2020), PE remains less visible as a professional option despite formal curricular support (National Institute of Sports, 2019). For young women, especially in nonmetropolitan areas, career decisions are embedded in familial expectations, socio-cultural norms, and access to training and employment (Gupta, 2017; Chandra & Singh, 2019). Understanding how **awareness** and **perceptions** vary across urban and rural contexts is essential to design interventions that enable equitable access to these occupations.

Framed by **Social Cognitive Career Theory (SCCT)** (Lent, Brown, & Hackett, 1994) and the **Theory of Planned Behavior (TPB)** (Ajzen, 1991), this study investigates whether exposure (awareness) and attitudes translate into **willingness** to pursue careers in yoga and PE and how **perceived barriers** temper that translation, with a focus on urban–rural differences.

Literature Review

Professionalization of Yoga and Physical Education :

Over the past two decades, yoga in India has undergone a significant process of institutionalization and professionalization, transforming from a primarily spiritual and therapeutic practice into a structured academic and vocational field. The expansion of yoga through universities, research institutions, certification frameworks, and government-supported programs has contributed to its growing legitimacy as a professional career option. Initiatives led by the Ministry of AYUSH have played a crucial role in mainstreaming yoga by integrating it into public health systems, higher education curricula, and national wellness campaigns, thereby enhancing both public awareness and employment opportunities (Iyer, 2018; Ministry of AYUSH, 2020). This institutional support has enabled yoga to be perceived not merely as a cultural or lifestyle practice but as a viable profession with defined qualifications and career pathways.

In contrast, Physical Education (PE) has followed a more conventional academic trajectory, with established degree programs, teacher training courses, and regulatory oversight by bodies such as the University Grants Commission (UGC, 2018). While PE enjoys formal recognition within the education system, perceptions of its professional prestige and employment prospects remain uneven across regions. Reports suggest that public understanding of career opportunities in PE is often limited, and job availability is perceived as closely tied to government recruitment cycles and institutional expansion (National Institute of Sports, 2019). Consequently, despite its academic maturity, PE may be viewed as offering narrower or less flexible career pathways compared to yoga, particularly in contexts where private-sector opportunities are limited.

Gender, Culture, and Career Choice :

Women's career choices in India are deeply embedded within socio-cultural structures shaped by family expectations, community norms, and gendered role prescriptions. Existing literature highlights that parental attitudes and familial approval frequently determine which careers are considered acceptable or attainable for women, especially in conservative or traditional settings (Devi, 2016; Gupta, 2017). Professions perceived as aligning with caregiving roles, cultural values, or domestic compatibility tend to receive greater support, whereas careers involving physical mobility, public engagement, or nontraditional work environments may encounter resistance.

Urbanization has been identified as a key factor moderating these constraints. Urban contexts typically provide greater exposure to diverse career options, institutional resources, and female role models, which can broaden women's aspirations and challenge conventional norms (Chandra & Singh, 2019). Access to higher education institutions, professional networks, and digital information platforms in urban areas enables women to make more informed career decisions and to negotiate familial expectations with greater agency.

Conversely, rural and semi-rural environments often reinforce traditional gender norms and present structural limitations that restrict women's career choices. Limited availability of training institutions, lack of professional mentorship, and concerns regarding safety and social reputation can discourage women from pursuing careers outside conventional domains (Mishra & Singh, 2021). In these contexts, even when awareness of alternative career options exists, normative pressures and infrastructural barriers may significantly constrain actual participation. Thus, gendered career decision-making emerges from the interaction between cultural expectations and the material availability of opportunities.

Theoretical Integration :

The present study draws upon Social Cognitive Career Theory (SCCT) and the Theory of Planned Behavior (TPB) to provide a comprehensive framework for understanding career intentions in the context of yoga and physical education. SCCT emphasizes the role of self-efficacy beliefs and outcome expectations in shaping career interests and choices, arguing that individuals are more likely to pursue careers in which they feel competent and anticipate positive outcomes (Lent et al., 1994).

The Theory of Planned Behavior complements this perspective by focusing on how attitudes toward a behavior, perceived social norms, and perceived behavioral control jointly influence intention formation (Ajzen, 1991). In career contexts, favorable attitudes toward a

profession, supportive subjective norms, and confidence in overcoming barriers increase the likelihood of career pursuit.

Within this integrated framework, awareness of professional opportunities in yoga and physical education is theorized to strengthen self-efficacy and favorable attitudes toward these careers. At the same time, gender norms, family expectations, and perceived barriers influence subjective norms and perceived behavioral control, thereby affecting career intentions.

Research Questions and Hypotheses :

RQ1: Do urban and rural female students differ in awareness of yoga and PE careers?

RQ2: How do perceptions, barriers, and willingness differ by locale?

RQ3: Do awareness, perceptions, and barriers predict willingness, and is this relationship moderated by locale?

H1: Awareness of yoga exceeds that of PE in both locales.

H2: Urban students display higher awareness, more positive perceptions, and greater willingness than rural students.

H3: Awareness and perception positively predict willingness; barriers negatively predict willingness; the awareness–willingness effect is stronger in urban contexts.

Method

Participants and Sampling :

A total of **800** College going girl's (ages 17–25) in Gorakhpur District participated: **400 urban** (city colleges) and **400 rural** (colleges in rural blocks). Stratified random sampling ensured representation across academic streams (Arts, Science, Commerce) and study level (UG/PG).

Instrument :

An adapted questionnaire—based on the validated **S-VYASA** instrument (Saini, 2020)—included sections for :

- **Awareness**: 8 items (4 yoga, 4 PE; Likert 1–5), plus career-role recognition items.
- **Perceptions/Attitudes**: 6 items (respectability, job prospects, social value; Likert 1–5).
- **Perceived Barriers**: checklist of 10 common barriers (social, structural, informational).
- **Willingness**: 4 items assessing likelihood to enroll in professional training within 1–3 years (Likert 1–5).

Pilot testing (n = 60) refined items. Cronbach's alpha: Yoga awareness á = .81; PE awareness á = .79; Perceptions á = .84; Willingness á = .80.

Procedure :

Data were collected in 2024 via in-person administration after institutional ethical

approval and informed consent. Surveys ensured anonymity.

Data Analysis :

SPSS v25 was used for analyses. Descriptive statistics summarized variables. Paired t-tests compared yoga vs PE awareness within locales; independent t-tests compared urban vs rural means. Pearson correlations examined bivariate associations. Hierarchical multiple regression predicted willingness (controls in Step 1; awareness & perceptions in Step 2; barriers in Step 3). Interaction terms tested locale moderation.

Results

Sample Characteristics :

Mean age = 19.6 years ($SD = 1.8$). Urban sample: 62% UG, 38% PG; rural: 73% UG, 27% PG. Fields of study were roughly balanced.

Awareness

Table 1 summarizes awareness means.

Table 1. Awareness Means by Locale (1–5 scale)

Domain	Urban M (SD)	Rural M (SD)
Yoga	3.45 (.86)	2.67 (.92)
PE	3.02 (.90)	2.11 (.87)

Paired-samples t-tests within locales: yoga > PE (urban $t(399) = 9.72$, $p < .001$; rural $t(399) = 10.85$, $p < .001$). Independent t-tests: urban > rural for yoga ($t(798) = 10.05$, $p < .001$, $d = .88$) and PE ($t(798) = 13.20$, $p < .001$, $d = 1.17$).

Perceptions and Barriers :

Urban students had higher perception scores ($M = 19.2/30$) than rural students ($M = 15.6/30$), $t(798) = 11.5$, $p < .001$. Rural students reported more barriers ($M = 5.1/10$) than urban peers ($M = 3.2/10$), $t(798) = 14.3$, $p < .001$. Social and informational barriers were more prominent in rural contexts.

Willingness :

Willingness composite (4–20): urban $M = 13.6$ ($SD = 3.1$); rural $M = 9.8$ ($SD = 3.4$), $t(798) = 18.2$, $p < .001$. High willingness (?16) for yoga: urban 41% vs rural 18%; for PE: urban 27% vs rural 9%.

Correlations :

Awareness–willingness $r = .58$ ($p < .001$); perception–willingness $r = .53$; barriers–willingness r = ?.46.

Regression :

Hierarchical regression predicting willingness :

- Step 1 (controls): R^2 = .06.
- Step 2 (awareness, perceptions): ÄR^2 = .38, R^2 = .44; awareness â = .39 ($p < .001$), perception â = .31 ($p < .001$).
- Step 3 (barriers): ÄR^2 = .08, R^2 = .52; barriers â = ?.28 ($p < .001$).

Locale × awareness interaction significant (â = ?.12, p = .02), indicating the influence of awareness on willingness is stronger in urban samples.

Discussion

Interpretation of Findings :

Consistent with **H1** and prior literature, **yoga** awareness exceeded **PE** awareness in both urban and rural contexts (Iyer, 2018; Ministry of AYUSH, 2020). The urban advantage (H2) likely results from greater exposure to institutional messages, media, and local training centers (Chandra & Singh, 2019; Mishra & Singh, 2021). The positive predictive role of awareness and perceptions on willingness (H3) corroborates SCCT's mechanisms: information and exposure raise **self-efficacy** and favorable **outcome expectations** (Lent et al., 1994). Barriers' negative impact aligns with TPB's emphasis on perceived behavioral control: even favorable attitudes will not produce intention if structural or normative constraints persist (Ajzen, 1991).

The moderation by locale suggests that awareness is necessary but not sufficient in rural contexts; without attendant resources and normative support, increased knowledge has weaker impact. This underscores the importance of **multifaceted interventions** that simultaneously increase information, reduce structural barriers (training access, financing), and engage family/ community norms.

Practical Implications :

Findings suggest several policy and programmatic pathways :

- **Rural outreach and awareness** : Mobile career workshops, community demonstrations, and localized role-model events to raise both yoga and PE familiarity.
- **Family-inclusive counseling** : Involving parents in counseling sessions to shift subjective norms and parental gatekeeping.
- **Decentralized accredited training** : Satellite training centers, flexible schedules, and blended/digital modes to improve access and perceived behavioral control.
- **Financial supports** : Scholarships and stipends targeted at rural female students to offset costs and signal institutional support.

- **Employer linkages** : Strengthening placement networks to improve perceived and actual job prospects.

Limitations :

Limitations include cross-sectional design (no causal inference), self-report data (social desirability), regional focus (Gorakhpur may not generalize nationally), and lack of direct labor-market data. Future longitudinal and intervention studies, coupled with employer surveys, would strengthen evidence for specific programs.

Conclusion :

This study reveals clear and consequential **urban–rural disparities** in how College going girl'sin Gorakhpur view and consider careers in **yoga** and **physical education (PE)**. Across multiple measures—familiarity with career pathways, attitudinal evaluations, perceived barriers, and stated willingness to enroll in professional training—urban students consistently display higher exposure, more favorable perceptions, and greater readiness to act. **Yoga** in particular enjoys broader cultural visibility and institutional backing, which translates into higher baseline awareness everywhere; however, that visibility alone does not ensure equitable access or uptake. Rural students, despite often valuing the idea of such careers, face a cluster of **social** and **informational** obstacles—stronger normative constraints, lower exposure to role models, and fewer accessible, accredited training options—that materially dampen their ability to convert interest into concrete career steps.

Interpreted through established career-development frameworks, these empirical patterns make conceptual sense. From a **Social Cognitive Career Theory (SCCT)** perspective, urban students benefit from more abundant vicarious learning opportunities (visible role models, workshops, media), increased chances for mastery experiences (local classes and internships), and easier access to supports (career cells, counseling). These factors elevate **self-efficacy** and strengthen positive **outcome expectations**, two psychological preconditions required for career pursuit. The **Theory of Planned Behavior (TPB)** helps explain the persistent attitude–action gap among rural students: although attitudes may be moderately positive, **subjective norms** (family/community expectations) and **perceived behavioral control** (belief in capacity to find training, finance it, and secure jobs) are weak—so intention formation stalls.

References :

- *Ajzen, I. (1991). The theory of planned behavior. Organizational Behavior and Human Decision Processes, 50(2), 179–211.*
- *Chandra, P., & Singh, R. (2019). Physical education in urban colleges: A Gorakhpur case study. Sports Education Review, 8(3), 112–128.*

- *Devi, L. (2016). Family influence on female career choices. International Journal of Career Development, 4(2), 77–92.*
- *Gupta, V. (2017). Barriers to women's participation in sports. Journal of Gender Studies, 9(3), 101–115.*
- *Iyer, S. (2018). Yoga therapy: Principles and practices. Bengaluru, India: S-VYASA Publications.*
- *Lent, R. W., Brown, S. D., & Hackett, G. (1994). Toward a unifying social cognitive theory of career and academic interest, choice, and performance. Journal of Vocational Behavior, 45(1), 79–122.*
- *Mishra, P., & Singh, V. (2021). Career counseling efficacy in urban colleges. Counseling Today, 15(1), 54–68.*
- *Ministry of AYUSH, Government of India. (2020). Yoga certification standards. New Delhi: Government of India.*
- *National Institute of Sports. (2019). Physical education teacher training evaluation report. Patiala, India: NIS Publications.*
- *Raghavendra, R., Shetty, H., & Nagendra, H. R. (2007). A national survey of yoga practitioners: Mental and physical health benefits. International Journal of Yoga Therapy, 17(1), 17–26.*
- *S-VYASA (Swami Vivekananda Yoga Anusandhana Samsthana). (2020). Research publications compilation. Bengaluru, India: S-VYASA Press.*
- *Saini, R. (2020). Adaptation and validation of the S-VYASA questionnaire for career awareness research. Indian Journal of Yoga Research, 12(1), 45–60.*
- *Telles, S., Naveen, K. V., & Dash, M. (2007). Yoga reduces symptoms of distress in tsunami survivors in the Andaman Islands. Evidence-Based Complementary and Alternative Medicine, 4(4), 503–509.*
- *University Grants Commission. (2018). Guidelines for physical education programs. New Delhi: UGC.*
- *Verma, N. (2021). Career development theories and the Indian context. Mumbai, India: Sage India.*

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 123-126

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

गौवंश के संरक्षण हेतु विभिन्न सामाजिक संगठनों द्वारा किए गए प्रयासों का समग्र अध्ययन

नरेश प्रसाद भट्ट, शोधार्थी

डॉ. मंजू सिंह, सहायक प्राध्यापक

संस्कृत साहित्य विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, गजरौला, अमरोहा (उत्तर प्रदेश)

सारांश :

भारतीय सभ्यता में गौवंश का स्थान केवल पशुधन के रूप में सीमित नहीं रहा है, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा पर्यावरणीय जीवन–प्रणाली का केन्द्रीय आधार रहा है। वैदिक युग से आधुनिक काल तक गौ को कृषि, पोषण, स्वास्थ्य, ऊर्जा तथा ग्रामीण आजीविका से जोड़ा गया है। किंतु औपनिवेशिक काल के पश्चात् तथा विशेषतः स्वतंत्रता के बाद तीव्र औद्योगिकीकरण, नगरीकरण, कृषि के यंत्रीकरण, रासायनिक उर्वरकों के बढ़ते प्रयोग तथा उपभोक्तावादी दुग्ध–उद्योग के विस्तार के कारण गौवंश की पारंपरिक उपयोगिता में गिरावट आई। परिणामस्वरूप गौवंश परित्याग, आवारा पशुओं की समस्या, गौशालाओं पर बढ़ता दबाव तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में असंतुलन जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हुईं।

ऐसी परिस्थितियों में राज्य के साथ–साथ सामाजिक संगठनों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। भारत में धार्मिक, सांस्कृतिक, स्वयंसेवी, गैर–सरकारी, सामुदायिक तथा शैक्षणिक संगठनों ने गौवंश संरक्षण हेतु विविध स्तरों पर संगठित प्रयास किए हैं। ये प्रयास केवल संरक्षण तक सीमित न रहकर, गौ–आधारित सतत विकास, जैविक कृषि, ग्रामीण रोजगार, पर्यावरणीय संतुलन तथा सामाजिक चेतना के पुनर्निर्माण से भी जुड़े हुए हैं। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य गौवंश संरक्षण में सामाजिक संगठनों द्वारा किए गए प्रयासों का समग्र, विश्लेषणात्मक एवं मूल्यांकनात्मक अध्ययन करना है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक संगठन गौसंरक्षण को एक भावनात्मक विषय से आगे ले जाकर एक व्यावहारिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय समाधान के रूप में स्थापित कर रहे हैं।

सूचक शब्द :

गौवंश, गौसंरक्षण, सामाजिक संगठन, गौशाला, जैविक कृषि, पंचगव्य, ग्रामीण विकास, सतत विकास।

प्रस्तावना :

भारतीय सामाजिक संरचना में गौवंश का महत्व बहुआयामी रहा है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों, लोकपरंपराओं और ग्रामीण जीवन–व्यवस्था में गौ को समृद्धि, उर्वरता और जीवन–निर्वाह का प्रतीक माना गया है।

कृषि–प्रधान समाज में गौवंश न केवल दुग्ध उत्पादन का स्रोत रहा है, बल्कि हल चलाने, खाद निर्माण, ईंधन, परिवहन तथा घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति में भी इसकी निर्णायक भूमिका रही है।

आधुनिक काल में विकास की एकांगी अवधारणा, पूँजी–प्रधान कृषि व्यवस्था और बाजार–केन्द्रित दुग्ध उद्योग ने गौवंश को उत्पादन की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। जब गौ आर्थिक रूप से "अलाभकारी" प्रतीत होने लगी, तब उसे परित्यक्त करने की प्रवृत्ति भी बढ़ी। यही कारण है कि आज देश के अनेक राज्यों में आवारा गौवंश की समस्या गंभीर सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक चुनौती बन चुकी है।

इन परिस्थितियों में सामाजिक संगठनों ने गौवंश संरक्षण को केवल धार्मिक कर्तव्य न मानकर, सामाजिक उत्तरदायित्व, पर्यावरणीय आवश्यकता और ग्रामीण पुनरुत्थान के साधन के रूप में स्वीकार किया है। यह शोध–पत्र इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक संगठनों की भूमिका का अकादमिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

अध्ययन के उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध–पत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(1) गौवंश संरक्षण की ऐतिहासिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करना।

(2) भारत में सक्रिय विभिन्न प्रकार के सामाजिक संगठनों की भूमिका का अध्ययन करना।

(3) गौसंरक्षण हेतु अपनाए गए व्यावहारिक एवं संस्थागत उपायों का मूल्यांकन करना।

(4) सामाजिक संगठनों के प्रयासों से उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय प्रभावों का विश्लेषण करना।

(5) गौवंश संरक्षण से जुड़ी प्रमुख चुनौतियों एवं भावी संभावनाओं की पहचान करना।

शोध पद्धति :

प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक (Qualitative) एवं वर्णनात्मक–विश्लेषणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है। अध्ययन में द्वितीयक स्रोतों का व्यापक उपयोग किया गया है, जिनमें –

पुस्तकें एवं शोध–ग्रंथ, ICSSR एवं UGC-CARE जर्नलों में प्रकाशित शोध–पत्र, सरकारी नीतिगत दस्तावेज, सामाजिक संगठनों की वार्षिक रिपोर्टें एवं प्रामाणिक ऑनलाइन स्रोत आदि शामिल हैं। उपलब्ध सामग्री का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन कर निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं।

गौवंश संरक्षण की आवश्यकता : समकालीन परिप्रेक्ष्य :

वर्तमान समय में गौवंश संरक्षण बहुआयामी आवश्यकता बन चुका है। इसका संबंध केवल धार्मिक आस्था से नहीं, बल्कि कृषि संकट, पर्यावरणीय असंतुलन, ग्रामीण बेरोजगारी और सतत विकास से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है।

पर्यावरणीय दृष्टिकोण :

गौ–आधारित कृषि प्रणाली रासायनिक उर्वरकों के दुष्प्रभावों को कम कर मिट्टी की उर्वरता बनाए रखने में सहायक है। गोबर एवं गौमूत्र से निर्मित जैविक खाद और कीटनाशक पर्यावरण के अनुकूल माने जाते हैं।

आर्थिक एवं ग्रामीण परिप्रेक्ष्य :

ग्रामीण भारत में गौवंश आजीविका का परंपरागत साधन रहा है। गौ–आधारित कुटीर उद्योग ग्रामीण रोजगार सृजन की अपार संभावनाएँ रखते हैं।

सामाजिक दृष्टिकोण :

आवारा गौवंश से उत्पन्न सामाजिक समस्याएँकृजैसे फसलों को नुकसान, सड़क दुर्घटनाएँ—समाज के लिए गंभीर चुनौती हैं, जिनका समाधान संगठित संरक्षण प्रयासों से ही संभव है।

गौवंश संरक्षण में सामाजिक संगठनों की भूमिका :

1. **धार्मिक एवं सांस्कृतिक संगठन :**

भारत में अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक संगठन गौवंश संरक्षण को सांस्कृतिक उत्तराधिकार की रक्षा के रूप में देखते हैं। इस्कॉन द्वारा संचालित गौशालाएँ गौवंश को संरक्षण देने के साथ—साथ गौ—आधारित आत्मनिर्भर मॉडल विकसित कर रही हैं।

इसी प्रकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से प्रेरित सेवा संगठन ग्रामीण स्तर पर गौसंरक्षण, पशु—चिकित्सा शिविर, चारा वितरण तथा जन—जागरूकता कार्यक्रम संचालित करते हैं।

2. **गैर-सरकारी संगठन :**

गैर—सरकारी संगठनों ने गौसंरक्षण को वैज्ञानिक, प्रबंधनात्मक एवं विकासोन्मुख दृष्टिकोण से अपनाया है। ये संगठन आधुनिक पशु—चिकित्सा सेवाएँ, नस्ल सुधार कार्यक्रम, पोषण एवं टीकाकरण तथा गौ—आधारित उत्पादों का विपणन जैसे कार्यों के माध्यम से संरक्षण को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करते हैं।

3. **सामुदायिक एवं स्थानीय संगठन :**

ग्राम सभाएँ, स्वयं सहायता समूह एवं स्थानीय समितियाँ गौसंरक्षण की जमीनी इकाइयाँ हैं। सामुदायिक सहभागिता से संचालित गौशालाएँ स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप अधिक प्रभावी सिद्ध होती हैं।

4. **शैक्षणिक एवं शोध संस्थान :**

कृषि विश्वविद्यालय एवं पशुपालन अनुसंधान संस्थान स्वदेशी गौ नस्लों के संरक्षण, दुग्ध गुणवत्ता सुधार एवं जैविक कृषि मॉडल पर अनुसंधान कर सामाजिक संगठनों को वैज्ञानिक मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।

सामाजिक संगठनों द्वारा किए गए प्रमुख संरक्षणात्मक प्रयास :

1. **गौशालाओं की स्थापना एवं प्रबंधन :**

गौशालाएँ परित्यक्त, वृद्ध एवं असमर्थ गौवंश को आश्रय प्रदान करती हैं। आधुनिक प्रबंधन तकनीकों के प्रयोग से इन्हें आत्मनिर्भर बनाने के प्रयास किए जा रहे हैं।

2. **पंचगव्य आधारित उत्पादों का विकास :**

गोबर, गौमूत्र, दूध, दही और घी पर आधारित उत्पाद न केवल गौशालाओं की आय बढ़ाते हैं, बल्कि जैविक जीवन—शैली को भी प्रोत्साहित करते हैं।

3. **जैविक एवं प्राकृतिक कृषि को बढ़ावा :**

सामाजिक संगठन किसानों को गौ—आधारित जैविक कृषि की ओर प्रेरित कर रहे हैं, जिससे उत्पादन लागत घटती है और पर्यावरण संरक्षण सुनिश्चित होता है।

4. **जन-जागरूकता एवं शिक्षा :**

गोष्ठियों, प्रशिक्षण शिविरों और अभियानों के माध्यम से समाज में गौ के वैज्ञानिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय महत्व का प्रसार किया जा रहा है।

सामाजिक संगठनों के प्रयासों का प्रभाव :

सामाजिक संगठनों के प्रयासों से गौवंश संरक्षण को सामाजिक स्वीकार्यता मिली है, ग्रामीण क्षेत्रों में वैकल्पिक रोजगार के अवसर उत्पन्न हुए हैं, जैविक कृषि एवं सतत विकास को बढ़ावा मिला है एवं समाज में पर्यावरणीय चेतना का विस्तार हुआ है।

चुनौतियाँ एवं सीमाएँ :

यद्यपि सामाजिक संगठनों के प्रयास सराहनीय हैं, तथापि वित्तीय संसाधनों की कमी, भूमि की अनुपलब्धता, प्रशासनिक समन्वय की कमी तथा दीर्घकालिक नीति का अभाव प्रमुख चुनौतियाँ हैं।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि गौवंश संरक्षण में सामाजिक संगठनों की भूमिका केन्द्रीय एवं अपरिहार्य है। ये संगठन संरक्षण को भावनात्मक आग्रह से आगे बढ़ाकर वैज्ञानिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय समाधान के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि राज्य, समाज और सामाजिक संगठनों के प्रयासों में समन्वय स्थापित किया जाए, तो गौवंश संरक्षण न केवल संभव है, बल्कि यह ग्रामीण विकास और सतत भविष्य का सशक्त आधार भी बन सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

i. शास्त्री, रामस्वरूप (2018), भारतीय संस्कृति में गौ का स्थान, दिल्ली : भारतीय विद्या प्रकाशन।

ii. कुमार, अनिल (2020), "गौ आधारित जैविक कृषि और सतत विकास", भारतीय कृषि शोध पत्रिका, 45(2), 112–120।

iii. सिंह, प्रमोद (2019), ग्रामीण अर्थव्यवस्था और पशुपालन, लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान।

iv. Government of India (2017), National Policy for Cattle Development, नई दिल्ली : पशुपालन एवं डेयरी विभाग।

v. वर्मा, सीमा (2021), "गौशालाओं की सामाजिक भूमिका", समाज विज्ञान विमर्श, 12(1), 67–78।

vi. ICSSR (2020), Rural Livelihoods and Sustainable Development, New Delhi.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 127-134

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

सूरदास : ऐंद्रिक आसक्ति के बीच भक्ति का साक्षात्कार

डॉ. अजय कुमार यादव
पोस्ट डॉक्टरल फेलो
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

शोध सारांश :

सूरदास कृष्णभक्ति परंपरा के सम्भवतः सबसे बड़े कवि हैं। वह अपने अद्वितीय वात्सल्य वर्णन के लिए अमर हो चुके हैं। किन्तु प्रस्तुत लेख का वर्ण्य विषय सूरदास की श्रृंगार प्रधान भक्ति कविताएं हैं। सूरदास की श्रृंगार प्रधान भक्ति कविताएं जयदेव और विद्यापति की परंपरा के निकट हैं। सूरदास की ऐसी कविताओं में ऐंद्रिक वासना और भक्ति भाव दोनों एक साथ उपस्थित है। लेकिन सूरदास में जयदेव और विद्यापति जैसा उद्याम काम चित्रण नहीं मिलता। सूर ने राधा और कृष्ण के दो पक्ष प्रस्तुत किये हैं। एक तो दैवीय और अवतारी पुरुष–प्रकृति का और दूसरा सुन्दर नर–नारी का। सुन्दर नर–नारी के रूप में सूर के राधा और कृष्ण साक्षात रसमूर्ति हैं, वे रति और केलि करते हैं, वे राति विलास और केलि क्रीड़ा करते हैं। इस तरह सूर के राधा–कृष्ण काम और अध्यात्म, देव और मानव, लौलिक और पारलौकिक दोनों रूपों के आलंबन है। सच तो यह है कि भक्ति कविता में लौकिक और पारलौकिक तथा दैवीय और मानवीय का विभेद धूमिल हो गया है। सूरदास की कविता में काम और श्रृंगारिकता का उत्सव है। लेकिन कई अवसरों पर उन्होंने काम की निंदा भी की है। उन्होंने अन्य भक्तों की तरह स्त्री के कामिनी रुप की कटु आलोचना की है। सूरदास के इन अन्तर्विरोधों पर भी आगे विस्तार से चर्चा होगी।

बीज शब्द : काम, अध्यात्म, भक्ति, ऐंद्रिकता, पुरुष–प्रकृति, कांतारति, माधुर्य–भाव, मानवीकरण, स्त्री–स्वर, मर्यादावादी।

मूल आलेख :

सूरदास की भक्ति में 'काम तत्त्व' की स्वीकार्यता :

भक्ति किसी भी भाव से प्रकट की जा सकती है। भक्ति के भाव को इतना व्यापक माना गया है कि ''भागवत के अनुसार काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्द किसी भी भाव से नित्य ध्यान धरने से भगवन्मय होने का विश्वास प्रकट किया गया है।''[1] सूरदास का मत है काम भाव से भी भक्ति की जा सकती है। काम भाव से भज कर अपने आराध्य को प्रसन्न किया जा सकता है,

'काम क्रोध में नेह सुहृदता कोई विधि करै कोई।

धरै ध्यान जो हठि करि हरि को सूर सो हरि को होई।'[2]

उपरोक्त पद में सूरदास ने साफ लिखा है कि काम, क्रोध या नेह किसी भी भाव से ध्यान करके हरि को प्राप्त किया जा सकता है। सूरदास पुष्टिमार्ग में दीक्षित थे। 'कांतारति' पुष्टिमार्ग की केन्द्रीय अवधारणा है। कांतारति, भक्ति में माधुर्य भाव को जन्म देती है। सूरदास की कांतारति भक्ति के उदाहरण हम आगे देखेंगे। इसमें पति–पत्नी तथा प्रेमी–प्रेमिका के बीच मधुर भाव के सम्बंध को भक्ति के लिए चुना जाता है।

'दुल्हन, दूल्हा श्यामा श्याम

कोक कला त्युत्पन्न परस्पर/देखत लज्जित काम।'[3]

ऊपर के कामोद्दीपक पद में राधा और कृष्ण की काम कुशलता का चित्रण है। राधा और कृष्ण एक दूसरे में समा जाते हैं। प्रेम लीला में दोनों इतने कुशल हैं कि काम को भी लजाना पड़ता है। सूरदास के अन्य कई पदों में राधा को कृष्ण को काम कला में अत्यंत निपुण दिखाया गया है।

'कोक-कला परिपूरन दोऊ, त्रिभुवन और नहीं' ।[4]

सूर और राधा काम कला में इतने निपुण हैं कि तीनो लोक में और ऐसा कोई नहीं है।

'कोक विद्या निपुन, स्याम स्यामा बिपुल, कुंज गृह द्वार ठाढे मुरारी।

भक्त हित हेतु अवतारि लीला करत, रहत प्रभु तहां निजु ध्यान जाकै।'[5]

उपरोक्त पद का भावार्थ यह है कि काम कला में निपुण कृष्ण और राधा बार बार मिलते हैं। कृष्ण कुंज गृह के द्वार पर खड़े हैं। भक्तों के हित के लिए जो अवतार लेकर लीला करते हैं। और उन्हीं का ध्यान रखते हैं। कृष्ण की भक्ति काम भाव से की जा सकती है।

'काम–आतुर भजी मोकौं, नव तरूनि ब्रज–नारि।'[6]

उपरोक्त पंक्ति में कृष्ण स्वयं कहते हैं कि ब्रज की नवयुवती स्त्रियों ने मुझे कामातुर होकर भजा है। सूरसागर में बीसियों ऐसे पद हैं जिनमें कामातुर भाव से कृष्ण की भक्ति का गई है। ऐसी कविताओं में ऐंद्रिक आसक्ति या उन्मुक्त काम देखने को मिलता है। कृष्ण और राधा संभोग क्रीड़ा में निमग्न हैं।

'अपनी भुजा स्याम ऊपरि स्याम भुजा अपने उर धरिया।

यों लपटाइ रहे उर उर ज्यों, मरकत मणि कंचन में जरिया।

चूमत अंग परस्पर जनु जुग चन्द करत हित वार।

रसन दसन भरि चापि चतुर अति करत रंग विस्तार।।'[7]

उपरोक्त पद संभोग श्रृंगार का उदाहरण है। संस्कृत काव्यशास्त्र में संयोग और संभोग श्रृंगार को अलग अलग माना गया है। संभोग श्रृंगार के अन्तर्गत आलिंगन, चुम्बन, अधर पान आदि होता है। जबकि संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत सिर्फ परस्पर अवलोकन होता है। अतः संयोग और सम्भोग के अंतर को ध्यान रखना होगा।

मर्यादावादी आलोचक शुक्ल जी जयदेव और विद्यापति की भांति सूरदास के श्रृंगारिक पदों को भक्ति का हिस्सा नहीं मानते। ऐसे पदों में वह श्रद्धा और भक्ति का अभाव देखते हैं। शुक्ल जी कृष्णभक्ति कविता की श्रृंगारिकता, माधुर्य भाव और इन्द्रियासक्ति को धर्म मार्ग से विलगाने वाला मानते हैं "जो भक्तिमार्ग श्रद्धा के अवयव

को छोड़कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा धर्म से उसका लगाव न रह जायगा। वह एक प्रकार से अधूरा रहेगा। श्रृंगारोपासना, माधुर्य भाव की ओर उसका झुकाव होता जायेगा और धीरे–धीरे उसमें 'गुह्य, रहस्य' आदि का भी समावेश होगा। परिणाम यह होगा कि भक्ति के बहाने विलासिता और इन्द्रियासक्ति की स्थापना होगी। कृष्णभक्ति शाखा कृष्ण भगवान के धर्मस्वरूप लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को छोड़कर केवल मधुर स्वरूप और प्रेमलक्षणाभक्ति की सामग्री को लेकर चली। इससे धर्म सौन्दर्य के आकर्षण से वह दूर पड़ गयी। तुलसीदास जी ने भक्ति को अपने पूर्णरूप में, श्रद्धाप्रेम के समन्वित रूप में सबके सामने रखा और धर्म और सदाचार को उसका नित्य लक्षण निर्धारित किया।''[8]

शुक्ल जी की शुचितावादी दृष्टि भक्ति के वृत्त को सीमित कर देती है। वह भक्ति के क्षेत्र में निष्काम श्रद्धा को वरीयता देते हैं। वह तुलसी की सामाजिक मर्यादावादी भक्ति तथा सूरदास की वात्सल्य भक्ति पर लहालोट हैं। लेकिन भक्ति के भीतर जैसे ही वयस्क प्रेम, श्रृंगार और काम का वर्णन आता है तो उनकी नैतिक चूलें हिल जाती हैं।

भक्ति काव्य में ईश्वर का मानवीकरण हुआ। इसमें सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों के माध्यम से भक्त और ईश्वर के बीच प्रेम और लगाव को दिखया गया। भक्ति में मातृ–पितृ, वात्सल्य, सखा, दाम्पत्य, प्रिया–प्रियतम और दास्य जैसे सामजिक पारिवारिक संबंधों के माध्यम से भक्त और ईश्वर का संबंध दिखाया गया है। मातृ–पितृ–वात्सल्य और स्वामी तथा दास संबंधी भक्ति को तो स्वीकार कर लिया जाता लेकिन माधुर्य और दाम्पत्य प्रेम वाली भक्ति से आपत्ति होने लगती है। यह दोहरा मानदंड क्यों? आखिर कांतारति की माधुर्य भक्ति से क्यों आपत्ति है। जब कृष्ण का 'वात्सल्य रुप' भक्ति का हिस्सा हो सकता है तो उनका प्रेमी रूप क्यों नहीं? भक्त और सूफी कवियों ने मनुष्य और ईश्वर के बीच घनिष्ठ लगाव दिखाने के लिए प्रेमी–प्रेमिका और पति–पत्नी का माधुर्य रूपक चुना। जिस तरह से प्रेमी–प्रेमिका एक दूसरे के लिए तीव्र आकर्षण से बंधे होते हैं, वैसा ही सम्बन्ध भक्त और ईश्वर के बीच उन्होंने कल्पित किया।

भक्ति काव्य में भक्त का अपने आराध्य के प्रति समर्पण और लगाव दिखाया गया है। भक्त अपने आराध्य के प्रति एकनिष्ठ भाव से समर्पित होकर उसे प्राप्त कर लेना चाहता हैं। इस एकनिष्ठ समर्पण को दर्शाने के लिए भक्त कवियों ने काम भाव को चुना। काम भी चरम लगाव का एक रुप है। यह जैविक सच्चाई कि काम में तीव्र आकर्षण होता है। कृष्ण भक्ति कविताओं में राधा और कृष्ण एक दूसरे के प्रति कामासक्त हैं। काम की चाहत उन्हें एक दूसरे से मिलने के लिए उत्कंठित कर देती है। भक्त कवि काम की चुम्बकीय आकर्षण शक्ति को भलीभांति जानते थे। डा. राजकुमार लिखते हैं ''सूजन श्वार्ज ने अपनी रचना रस'' में इस बात की ओर संकेत किया है कि भारतीय परम्परा में श्रृंगार और भक्ति के बीच कोई आत्यंतिक विरोध नहीं है, बल्कि वे एक ही सातत्य का हिस्सा हैं। यह बात ठीक भी लगती है, क्योंकि इसके बिना खजुराहो और कोणार्क को तो छोड़ दीजिए, कबीर, जायसी, सूर और मीरा की रचनाओं की भी व्याख्या असम्भव है। भक्ति और श्रृंगार के सातत्य और सहअस्तित्व की अवधारणा से भक्तिकालीन श्रृंगार के रीतिकालीन श्रृंगार में रूपांतरण की व्याख्या भी कमोबेश हो जाती है।''[9]

कृष्ण और राधा प्रेमी–प्रेमिका के अलावा पुरुष–प्रकृति के रुप में भी वर्णित हुए हैं। वे लौकिक

प्रेमी–प्रेमिका से रुपांतरित होकर दैवीय और ब्रह्माण्डीय सत्ता के प्रतीक बन जाते हैं। कृष्ण पुरुष हैं राधा प्रकृति। कृष्ण कहते हैं कि पुरुष और प्रकृति को एक ही करके जानो। दोनों में केवल कहने के लिए भेद किया गया है। यह सुनकर राधा का मन हर्षित हुआ। कृष्ण के पुरातन स्नेह को जानकर उन्हें अत्यधिक आनन्द हुआ।

'तब नागरि मन हरष भई

नेह पुरातन जानि स्याम कौ, अति आनन्द-भई।

प्रकृति पुरुष, नारी मैं, वै पति, काहैं भूलि गई।'[10]

राधा को याद आया कि प्रकृति पुरुष के रूप में कृष्ण के साथ उनका प्राचीन समय से प्रेम सम्बन्ध है। पुरुष और प्रकृति के रूप में कृष्ण उनके पति हैं और राधा उनकी पत्नी। यह बात राधा क्यों भूल गयी।

पुरुष और प्रकृति के रुप में राधा और कृष्ण रति–संभोग के माध्यम से एक दूसरे के निकट आते हैं। सुरतारम्भ, सुरतावस्था और सुरतांत, ये रति या संभोग क्रीड़ा की विभिन्न अवस्थाएं हैं। इन विभिन्न अवस्थाओं से राधा–कृष्ण गुजरते हैं। इसके माध्यम से वे आध्यात्मिक नैकट्य प्राप्त करते हैं। सत्यदेव चौधरी के अनुसार ''कृष्ण और राधा के संयोग–प्रधान वर्णनों में सुरतारम्भ, सुरतावस्था और सुरतान्त के कवित्वपूर्ण पदों में– परम ब्रह्म और प्रकृति का एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण, आनन्दमय लय, आनन्दभाव, एक्यरूप और आध्यात्मिक नैक्ट्य का स्वरूप निखर उठा है।''[11] सूरदास ने कामासक्ति के माध्यम से प्रेमी प्रेमिका, जीवात्मा–परमात्म और पुरुष–प्रकृति को एक दूसरे से जुड़ते हुए दिखाया है।

लीला : निषेध और वर्जना से मुक्त लोक :

भारत में जगत को परमात्मा की सृष्टि के साथ ही परमात्मा की लीला भी कहते हैं। लीला मतलब क्रीड़ा। लीला के कई अर्थ हैं। पहले लीला का एक प्रयोजन था सृष्टि रचना। लेकिन कृष्णभक्ति काव्य में लीला का कोई प्रयोजन नहीं रहा। वल्लभाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि ''नहि लिलायाः किंचत् प्रयोजनमस्ति, लीला एवं प्रयोजनत्वात्।''[12] इस तरह लीला एक ऐसा लोक बन गया जहां कोई भी सामाजिक निषेधाज्ञा और नैतिक वर्जना नहीं लागू होती। इस लीला का ईश्वर रसिक है। वह कामेच्छा और ऐंद्रिक वासना को त्याज्य नहीं मानता। वह निषेधाज्ञा नहीं लागू करता। वह काम भाव को दमित नहीं करता। वह अपने भक्तों की काम वासना को तुष्ट करता है।

चरणदास ने ईश्वर की लीला के स्वरूप को एक पद के माध्यम से दर्शाया। उस पद का भावानुवाद देवीशंकर अवस्थी के शब्दों में निम्न है ''यह भी अविगत, अविनासी, आदि पुरुष हैं नाना प्रकार के कौतुक किया करते हैं, अनेक प्रकार के रूप धारण करते रहते है। स्वयं ही मोहनलाल ग्वाल बनकर मुरली बजाते हैं और आप ही ब्रज स्त्री बनकर जंगल को दौड़ी आती है। आप ही गोपी भी हैं और आप ही कान्ह बनकर रास रचाने वाले भी है। यही नहीं अन्तर्धान होकर आप ही अपने को ढूँढ़ते भी हैं और व्याकुल होते हैं। स्वयं अपनी ही लीला देखने के लिए प्रेम उत्पन्न करते हैं। कभी एक है और कभी अनेक हो जाते हैं।''[13]

सूरदास ने गोकुल लीला में कृष्ण के बाल रुप तथा वृन्दावन–लीला में उनके वयस्क और श्रृंगारिक रुप का चित्रण किया है। यहां पर वृन्दावन लीला का ही विश्लेषण किया जाएगा। इसके अन्तर्गत कृष्ण, दान, पनघट,

चीरहरण, रास आदि लीला करते हैं। इन लीलाओं को अध्यात्म का प्रतीक माना जाता है। इस रास के भीतर कृष्ण गोपियों की यौनिक आकांक्षाओं को तुष्ट करते हैं। सूरदास लिखते हैं :

'ब्रज-जुवती रस-रास पगी
कियौ स्याम सब को मन भायो, निसि राते-रंग जगीं।
पूरन ब्रह्म अकल अविनासी, सवनि सग सुख दीन्हौ।
जितनी नारि भेष भए तितने, भेद न काहू कीन्हौ।
वह सुख टरत न काहूँ मन तैं, पति हित साध पुराई।
सूर स्याम दूलह सब दुलहिनि, निसि भाँवरि दै आई।।'[14]

उपरोक्त पद में दिखाया गया है कि ब्रज की युवतियों को कृष्ण के द्वारा रचाया गया रास सबके मन को भाया। वे रात भर रति के रंग में जागती रहीं। पूर्ण ब्रह्म, अकल, अविनाशी कृष्ण ने सबको सुख दिया। जितनी स्त्रियां थीं कृष्ण ने उतने भेश बनाए और उनकी कामेच्छा को तुष्ट किया। ब्रज युवतियों ने कृष्ण को अपना पति बनाने की आकांक्षा पूर्ण कर ली। सूरदास कहते हैं कि कृष्ण दूल्हा हैं तथा सब गोपियां दुल्हिनियां। दुल्हिनियां रात में भांवर दे आयीं।

उपरोक्त पद में कांतारति की भक्ति दर्शाया गया है। गोपियां कृष्ण को पति बनाकर काम भावना से उनकी भक्ति करना चाहती हैं। कृष्ण उनकी सारी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। यहां भक्त और ईश्वर के बीच लगाव और अतरंगता दिखाने के लिए वैवाहिक मैथुन को प्रतीक बनाया गया है। यहां सब कुछ सहजता से घटित हो रहा है। किसी भी चीज का दमन नहीं किया गया है। कामेच्छ का भी नहीं। जीवन उत्सव बन गया है। रासलील में 'रास' शब्द का अर्थ है आनन्दमयी लयावस्था। यहां हर कोई आनन्द में निमग्न है। यहाँ मनुष्य की आदिम और नैसर्गिक वृत्तियों (काम आदि) को सहज भाव से पल्लवित होने का अवसर मिला है। रास में नृत्य भी होता है। नृत्य मनुष्य की सबसे आदिम और पहली भाषा है। नृत्य की भाषा जेस्चर की भाषा है। मनुष्य ने जब जबान से नहीं बोलना शुरू किया था तब वह हाथ पैर के इशारों से बोलता था।

कामेच्छा भी मनुष्य की आदिम वृत्ति है। रास में इसे भी तुष्ट किया गया है। ईश्वर से जुड़ने के लिए तन्मयता और समर्पण चाहिए। तन्मयता और समर्पण काम और नृत्य के माध्यम से भी प्रकट किया जा सकता है। सोलह हजार गोपियाँ की मनोकामना पूर्ण करने के लिए कृष्ण सोलह हजार वेश धारण करते हैं। ऐसा क्यों हुआ? इस प्रसंग की व्याख्या आवश्यक है। दरअसल भक्ति काव्य में भक्त और ईश्वर के बीच निजी रिश्ता बनता है। उनके बीच में कोई शास्त्र या कोई बिचौलिया पुरोहित नहीं है। भक्त अपनी इच्छानुसार ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। राधा और गोपियों ने कृष्ण को पति और प्रेमी के रुप में भजा। कृष्ण सोलह ह जार वेश धारण कर ब्रज युवतियों के साथ व्यक्तिगत तौर पर अंतरंग होते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भक्त और ईश्वर के बीच अनन्य और व्यक्तिगत सम्बन्ध बनता है। श्रृंगारिक भक्ति कविताओं में यह अनन्य और व्यक्तिगत सम्बन्ध सबसे ज्यादा देखने को मिलता है। जितने भक्त, उतने तरह के ईश्वर और उतने तरह के सम्बन्ध। इसलिए भक्ति 'एकवचन आख्यान' नहीं रह जाती। वह धर्म के 'एकवचन आख्यान' के लिए चुनौती बन जाती है। भक्ति में हर

कोई अपने तरीके से ईश्वर को भज सकता है। काम भाव से या निष्काम भाव से। वात्सल्य भाव से या फिर माधुर्य भाव से। सख्य भाव से या फिर प्रेमी/प्रेमिका, पति/पत्नी भाव से। अतः जाहिर है कि प्रेमी–प्रेमिका वाली माधुर्य भक्ति में काम और अध्यात्म एक साथ होगा। उसे इसी रूप में ग्रहण करना चाहिए। ऐसी भक्ति के प्रति हिकारत प्रकट करने से कोई लाभ नहीं।

पुरूष स्वर और स्त्री स्वर में अन्तर्विरोध :

कबीर की तरह सूरदास की भक्ति कविता के पुरुष स्वर और स्त्री स्वर में अन्तर्विरोध है। सूर का पुरुष स्वर स्त्री के कामिनी रूप की निंदा करता है, उसे भक्ति के मार्ग में अनिष्ट और बाधक मानता है। वहीं सूर के 'स्त्री स्वर' में कामिनी नारी कृष्ण के साथ रति और प्रेम का उत्सव मनाती है। सूर का 'स्त्री स्वर' वहां प्रकट हुआ है जहां वह गोपियों एवं राधा के माध्यम से कृष्ण की भक्ति करते हैं। सूर का स्त्री स्वर गोपियों के गहरे कृष्ण प्रेम का उत्सव मना रहा है जबकि पुरुष स्वर इसकी कटु आलोचना कर रहा है। सूरदास के इस अन्तर्विरोध पर कुमकुम संगारी लिखती हैं, ''कबीर की भांति सूरदास भी भक्ति मार्ग में बाधा के रूप में स्त्रीध्माया का मिश्रण कर देते हैं, जिसे त्यागना आवश्यक है....वह भी पतिव्रता की प्रशंसा व अनिष्ठ पत्नी की भर्त्सना करते हैं.... लोक–लाज और कुल मर्यादा को तोड़ने वाली गोपियों के अवैध प्रेम को द्विभाव में रखकर व्यभिचार, वेश्यावृत्ति तथा ससुराल छोड़ने पर बहिष्कृत की गई वधू के प्रतीकों में प्रकट करते हैं।''[15]

कुमकुम ने सूरदास के जिन अन्तर्विरोधों की तरफ इशारा किया है वह भक्ति काल के लगभग सारे पुरुष कवियों में है। यानी इन पुरुष कवियों के स्त्री स्वर की माधुर्य भक्ति में स्त्री का कामिनी रूप स्वीकार्य है। लेकिन जैसे हो ये पुरुष कवि अपने उपदेशक रूप में आते हैं वे बहुत कटु शब्दों में नारी निंदा करते हैं। खास कर स्त्री के कामिनी रूप की। ऐसे अवसरों पर वे स्त्री के सिर्फ सती और पत्निव्रता रूप को स्वीकार करते हैं। कबीर की तरह सूरदास नारी और नागिन को एक स्वभाव का मानते हैं। सूर का पद है,

'सुखदेव कहिय सुनो हो रार, नारी नागिनी एक स्वभाव'।[16]

सूरदास के उपदेशात्मक या नीति के पदों में भोगवासना और इन्द्रियसुख को लेकर गहरा पश्चाताप का भाव है। सुधीश पचौरी के मतानुसार ''पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पहले तक तो सूरदास तक में 'सुत और दारा के सुख' से उपजा अपराध बोध मिलता है। वे विनय के पदों में इन्द्रियसुख' को अपराध मानकर चलते हैं।''[17]

इस तरह हम देखते हैं कि भक्ति कविता में एक तरफ काम, रति और एंद्रिकता का उत्सव है तो दूसरी तरफ उसकी निंदा का उपदेश दिया गया है। सूरदास के रासलीला वाले पदों में काम और रति का उत्सव मिलता है। लेकिन विनय के पदों में वह काम और इन्द्रिय सुख को अपराध मानते हैं। यहाँ काम पाप बन गया है। उसकी भर्त्सना की गई है। इस तरह का अन्तर्विरोध लगभग सभी भक्त कवियों में मिलता है। अतः भक्ति काव्य में काम और अध्यात्म की चर्चा करते हुए इस अन्तर्विरोध को नहीं भूलना चाहिए। भक्ति काव्य के केन्द्रीय अन्तर्विरोधों में से यह भी एक है।

भक्ति कविता में 'काम' और कामिनी स्त्री की निंदा :

रवीन्द्र कुमार पाठक ने अपने अनुसंधान भक्ति साहित्य की मूल्य संरचना और स्त्री में संत कवियों के नारी

द्वेष को दिखाया है। उनके इस शोध के एक टुकड़े को अभय कुमार दुबे ने उद्धृत किया है। पाठक जी के शोध के मानीखेज टुकड़े को अभय जी उधृत करते हैं। वह उद्धरण निम्न है ''भक्तिकालीन आम दृष्टि में नारी साढ़े तीन हाथ के शरीर से अधिक नहीं है, जिससे प्रसूत होने के बावजूद भयभीत है पूरी (पुरुष) भक्त/संत–मण्डली की वह कहीं हमारे भीतर कामोन्माद न जगा दे, बड़े जतन से ओढ़ी गयी ब्रह्मचर्य की चादर या बड़ी मेहनत से बनाए गये ब्रह्मचारी के इमेज को कहीं वह तार–तार न कर दे! इसी से उस पर देवी, माँ या संयमित गृहिणी के लेबल लगा कर हानिरहित बना लो या उसे कामिनी (कामुकता भरी) कह कर परे हटा दो।''[18] रविन्द्र कुमार पाठक ने ऊपर जिन प्रवृत्तियों की तरफ इशारा किया है उनसे कोई भी पुरुष भक्त कवि अछूता नहीं था। कबीर, तुलसी, सुन्दरदास, दादू, सूरदास और नानक यानी तकरीबन हर किस्म का संत कवि स्त्री के कामिनी रूप की निंदा करता है। कामिनी स्त्री के बरक्स वे स्त्री के सती और पतिव्रता रूप को आदर्श मानते हैं।

भक्त कवि कामिनी नारी की निंदा के माध्यम से काम और इन्द्रियासक्ति पर प्रहार करते हैं। क्योंकि काम और कामिनी स्त्री, भक्ति के मार्ग में बाधा हैं। कबीर लिखते हैं कि '**भगति बिगाड़ी कांमियां, इंद्री केरै स्वादि**'। अर्थात काम–वासना एवं इंद्रिय–परायणता भक्ति भावना को समाप्त कर देती है। दादू पंचेद्रियों को अपने अधीन करने का उपदेश देते हैं। '**दादू पंचौ यह परमोधिले, इन्हीं को उपदेश।**'

निष्कर्ष :

सूरदास ऐंद्रिक आसक्ति के बीच भक्ति भाव का साक्षात्कार करते हैं। इस भक्ति में ब्रह्मचर्य बनाम इंद्रियासक्ति, सती बनाम कामिनी, काम बनाम निष्काम, स्त्री स्वर बनाम पुरुष स्वर के बीच द्वंद्व है। सूरदास की माधुर्य भक्ति में गोपियों का कामिनी रूप सामने आया है, वे स्वच्छंद भाव से कृष्ण के साथ रास और रति करती हैं। लेकिन दूसरी तरफ अपने उपदेशात्मक पदों में सूरदास ने स्त्री के स्वच्छंद और कामिनी रूप की निंदा भी है। इस तरह के द्वंद्व या अन्तर्विरोध से भक्ति काव्य का हर कवि आक्रांत है। भक्ति काव्य के कामाध्यात्म पर बात करते हुए इस पहलू को ध्यान में रखना होगा। भक्ति कविता में एक तरफ ऐंद्रिकता का उत्सव मिलेगा। वहीं दूसरी तरफ इहलौकिक संसार को वासना का दलदल बताकर उससे निवृत्त होने का उपदेश भी मिलता है।

संदर्भ –

1. नई सुधीश पचौरी, रीतिकाल सेक्सुअलिटी का समारोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 117
2. वही. पृ. 117
3. कुमकुम संगारी, मीराबाई की भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति, वाणी प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली, 2016, पृष्ठ 108
4. सम्पादक, डा. धीरेन्द्र वर्मा, सूरसागरसार सटीक, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1986, पृ. 202
5. वही, पृ. 206
6. वही, पृ. 102
7. संपादक हरबंशलाल शर्मा, सूरदास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011, पृ. 206
8. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारिणी सभी, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, संवत्

2063, पृ. 83

9. अभय कुमार दुबे (2015) 'रीतिकाल–संहार और नायिका–द्वेष' प्रतिमान, जुलाई दिस्मबर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. सम्पादक डा.धीरेन्द्र वर्मा, सूरसागर सार सटीक, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1986, पृ. 155
11. संपादक, हरबंशलाल शर्मा, सूरदास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011, पृ. 155
12. डॉ. देवीशंकर अवस्थी, अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968, पृ. 163
13. वही, पृ. 264
14. सम्पादक डा. धीरेन्द्र वर्मा, सूरसागर सार सटीक, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1986, पृ. 120
15. कुमकुम संगारी, मीराबाई की भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, 2016, पृ. 109
16. वही, पृ. 109
17. सुधीश पचौरी, रीतिकाल सेक्सुअलिटी का समारोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 174
18. अभय कुमार दुबे का लेख, 'रीतिकाल–संहार और नायिका द्वेष' में रवीन्द्र कुमार पाठक का उद्धरण, प्रतिमान, जुलाई–दिसम्बर 2015, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 135-140

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

Teaching and learning process to enhance teaching a literature review

Dr. Ram Nagina Rajak

Lecturer, Primary Teacher Education College, Rampur Jalalpur (Samastipur)

ABSTRACT :

Teaching and learning process can be defined as a transformation process of knowledge from teachers to students. It is referred as the combination of various elements within the process where an educator identifies and establish the learning objectives and develop teaching resources and implement the teaching and learning strategy. On the other hand, learning is a cardinal factor that a teacher must consider while teaching students. The paper evaluated various academic journals, pedagogy, and inclusive practices to assess the teaching effectiveness within the higher education setting. The objective of the research is to assess the teaching effectiveness in a higher education setting. The research used experimental research methods (primarily reflection) using literary forms to analyse the theory with the reinforcement of the protice t of the pretice from the university experiences. The research findings suggest that providing positive and adequate formative and developmental feedback, introduction of role-play has a profound posi confidence and self-esteem.

It was also revealed that, active learning environment promotes inclusivity and improve the faculty and positive impact on the students' student academic performances. The research findings will enable the educators to help create and implement an inclusive teaching and learning environment to improve the learner's expectation and academic performance.

KEYWORDS : Teaching: learning, effectiveness.

1. INTRODUCTION :

Learning can be considered as change that is permanent in nature because change is brought into students by a teacher through techniques like developing specific skills, changing some attitudes, or understanding specific scientific law operating behind a learning environment (Sequeira, 2012). However, in order to be an active learner in higher education, cach student expects to be treated as an adult learner who has some right over the learning ambience in the form of asking questions and

clearing of doubts (Michael, and Modell, 2003). That is, students expect to have ownership over the learning session (Mitra, 2008: Pond & Rehan, 1997). Moreover, students also want their instructor to be cooperative and humorous who would teach clearly and usually use relevant examples so that the course material being taught becomes easy to understand, which I think is increasingly being required in classrooms today (Becker et al., 1990).

The research was initiated with the desire to complete the professional development milestone. The area of interest was a key factor for both the researcher's current academic practice. As university lecturers, we have been in a continuous dialogue to see how we can ensure continuous improvement at our everyday lesson and thus realized an immense study that needs to be done in inclusive practice. With our current involvement in the higher education settings, we often use the term 'inclusive education' that sounds synonymous with education for children with disabilities, however, we have tried to look at the learning barriers in our higher education setting and found many mature students feel that they have harriers to learning. Multiple higher education research explored that the inclusion and equity in teaching and learning resulting in policy makers and scholars have been discussing the importance of widening participation in tertiary education (e.g., Bradley & Miller, 2010). Therefore, we always felt that promoting inclusive teaching and learning through different pedagogical approaches may not be enough. It is essential to ensure inclusive education in designing curricula and assessment by ensuring that our teaching and learning process enhance our teaching effectiveness and can also be used as a medium to eliminate barriers to education to include all students. The research mainly addressed to analyze the factors responsible for creating a process to ensure effectiveness in teaching and learning. This study aims to analyze the teaching and learning process to ensure effectiveness. Hence, the research question is proposed: How to create an inclusive teaching and learning environment to ensure effectiveness?

2. METHODOLOGY :

We have considered that case study methods remained a controversial approach to data collection, however, after considering its wide range of validity in many social science studies especially when in-depth explanations of social behavior we have decided to choose case study as our research methods. In this article we have used the case study from one of the universities based in London, United Kingdom. The case study approach allowed the researchers to gather in-depth understanding on the concept. Thus, the work collected data using secondary sources and used mainly various peer-reviewed joumal articles and various government and agency publications. The researchers also used personal reflection from the higher education practice. The measure of reflection explored the experimental research methods (primarily reflection) using literary forms. To support our research

and investigation we have designed questionnaire to collect data from our students. Because of limited number of learners of the disciplines, questionnaire has been designed based on qualitative data collection method. Data has been analyzed to get the perceptions of learners about effective delivery of modules. However, to ensure accuracy of our research and findings we have also applied data triangulation methods by mapping our research findings with similar research and case studies of other researchers.

3. RESULTS AND DISCUSSION :

The findings of the current research revealed that it is a teacher responsibility to ensure regular interaction occurs between the basic human capabilities of a learner and the culturally invented technologies so that it finally leads to enhancement in their cognitive capabilities. In line with this theory's principles, the use of class interaction, role play and visual simulation to the students in the form of graphs, charts, and newspapers from where information on various business and financial matters challenged their learnings and allowed them to become more creative. In terms of resources, the research found that teachers need to use various resources in the learning process that may include computers, books, smartboard, equipment, artefacts, whiteboard, special speakers, games, computer programs etc. It was evident from the research that the more the lesson is interactive, the more the learners are engaged/motivated to improve their learning experiences. The research also realized that certain teaching methods might be very useful for certain learners which may be flawed for other. Thus, it is recommended to use a blended learning (mixture of online and offline learning) along with experiential learning (cross-age peer tutoring, pro and con grid, prodigy games, mnemonic) which have been very useful in improving the learning experience and reducing the disruptive issues in the classroom from the case study.

Based on previous knowledges about student leaming, we questioned students what they found most fascinating about a learning session and what outcomes would they aspire to achieve from the teaching-learning session. In response to these questions, different students came up with different answers which indicated that different students implemented different learning styles in order to be active participant in the teaching-learning session and gain significant learning outcomes. We also apprehended from the responses of the students that learning outcome is also dependent upon the learner types. In a classroom setting in specific, there are certain specific types of learners. One of them is the group of auditory learners who feel more confident in receiving and interpreting auditory stimulus. This category of leamers benefits best from the instructions that students receive through classroom lectures, discussion sessions, and group sessions. In this context, (Coffield, 2013) opines that the quality of teaching and learning is often compromised due to lack of constant up-gradation in

knowledge on the subject or issue. We agreed with this sentiment, since we have witnessed first-hand that innovation and continuous learning is the primary way to ensure success in teaching

Another category of learners in a classroom is the visual learners who best respond to visual learning stimuli. Besides learning from these visual stimuli, visual learners also learn by observing what others do in a learning session. This category of learners learns best when they are given visual learning stimuli like charts, diagrams, pictures, or formulae written on the blackboard. This category of learners is usually creative in applying their learning outcomes, observant in nature and not easily distracted (Arthurs, 2007; Gilakjani, 2012). The third category of learners that is often found in a classroom learning session is the kinesthetic learner. Learners in this category are more comfortable in learning through hands-on approach rather than visual or auditory leaming. Thus, they learn best when teachers give them instructions through physical activities.

In most cases, they present their learning outcomes through physical activities too (Leopold, 2012). Nevertheless, from their responses to the questions we also understood that some internal and external factors are at play behind the learning objectives and expected learning outcomes of the students. Due to the positive experience that we have had using this strategy, as well as similar opinions from our colleagues, we recommend that inclusion of practical activities in the lesson can be an integral part of every course and curriculum.

As we have been teaching different modules to the students at the universities and colleges, to a great extent, we must use variety of teaching approaches depending on the learning styles of the students. With the use of a questionnaire (VARK- Visual, Aural, Read/Write, and Kinesthetic) developed by Neil Fleming (2001) for a moderately large group of learners, we understood that there is a mixed of three preferred style of learners. We initially started teaching with the use of PowerPoint slides followed by a group discussion in the class. Auditory learners have been helped with this teaching strategy as they have been able to understand the concept of relevant costing by listening to our lecture and discussing the matter with their peers. We used video clips from YouTube along with a Ted Talk lecture to reinforce the concept and highlight the different use of relevant costing approach which ultimately helped the visual learners.

We also printed the PowerPoint slides along with some case study scenarios for the learners which helped the learners with visual preference. Finally, we created some exam-type questions for the learners which required the learners to role-play. It ultimately enhanced the learning experience of kinesthetic learners. That is, depending on the learning styles, we try to incorporate variety of teaching and learning strategies and approaches while the main intention is to ensure equal opportunity for the learners so that they can understand the subject contexts and actively participate during the

lesson. Most importantly, we tried to promote engaging and creative learning environment for the students of different learning styles. Not only did this promote the rate of participation of the students in my class, but also found that many of them came up with out-of-the-box ideas which prompted me to learn new approaches to the management course, such as, cultural activities affected by political events. Among the cardinal internal factors that affect learning performance of student include age, gender, heredity, cognitive intelligence, and individual learning facilities. Among the external factors that affect learning performance of the students are the mode and method of instruction given by the teacher, qualification of the teacher, peer influence on the students, and teacher-student ratio in a learning session (Singh, Malik, & Singh, 2016; Petty, 2009).

The Behaviorist Approach that eminent American psychologist J.B. Watson introduced in 1913 is one of the theories. This theory's principal focus is the concept of conditioning through imitation (Watson & Rayner, 1920). We have found this approach to be particularly useful in class in numerous instances. During classroom interactions we routinely recall that people tend to associate typical sounds and words through experience and objects. We are also aware that people tend to associate certain feelings and emotions with certain situations, symbols, and objects that they come across in their daily lives. Keeping with this principle, we have repeatedly strived to create an ambience where there will be conditioning through imitation, and this is only possible when we physically demonstrated to the students how to solve problems or approach certain problematic situations.

The next theory that can be associated with classroom teaching-learning is the Two Factor Theory which is also known as the Motivation-Hygiene Theory or Dual Factor Theory. Herzberg proposed in 1957, cited in Adair (2009), who simultaneously indicated some learning motivators, like challenging nature of work, recognition of employee performance, and the possibility of new opportunities from the work, exciting work, and employee involvement decision-making processes. This theory, to a great extent, is very useful in managing classroom behavior. If the learners find interest in learning something, it becomes easy for the teachers to teach them.

Another theory that can be well implemented in a teaching-learning scenario is Bruner's Theory of Development. This theory was proposed by the eminent cognitive psychologist Jerome Burner in 1957 and proposed that the basic objective of education should be to promote intellectual development in the learners. According to Bruner (1957, p. 234), "generic coding systems that permit one to go beyond the data to new and possibly fruitful predictions". The theory also proposed that when cognitive development is encouraged in the learner, it manifests in the form of his or her ability to think intellectually.

4. CONCLUSION :

It is found from the personal reflection and class observation that for managing the behavior of individuals or groups different strategies may have to be used such as questioning, role play, rewards, punishment, discussions, paired/group work, observations, switching activities, audio/visuals etc. The teachers' dynamics need to be understood by the teachers. and behaviors or teaching approaches need to be adjusted. Again, learning needs, methods or styles of the learners may be different; in this respect, teachers need to understand the need and preferences of the learners and prepare the lesson plan accordingly to meet the learning objective of all learners rather than certain individuals. Most importantly, teachers need to identify the learning barriers as quickly as possible. For example, sometimes students are disruptive as they have some barriers including language barrier, low self-esteem, confidence, feeling of being inappropriate etc. In this case, rather than giving them warnings, it is better for the teachers to know the underlying causes and respond accordingly. Positive feedback, sometimes, play role as tonic in having profound positive impact on the confidence and self-esteem of the students. Finally, it is essential for the teachers to enhance student engagement through active learning, to promote student inclusivity through the learning process (experiential and blended learning) and to match outcome with the faculty and student expectations through assessments. They might easily be possible for the teachers to do so, if they can be able to communicate effectively, be in control, be consistent with the rules, provide choice and adjust themselves and finally be creative in managing behavior.

REFERENCES :

- Alfieri, L., Brooks, P. J., Aldrich, J., Tenenbaum, H. (2011). Does discovery-hased instruction enhance learning? Journal of Educational Psychology 103.
- Gray, C., and MacBlain S. (2012). Learning theories in childhood. Sage Publications Ltd. London.
- Leopold, L. (2012). Prewriting tasks for auditory, visual, and kinaesthetic learners. TESL. Canada Journal 29.
- Pond, K., Relian, U. (1997). Learning to assess students using peer review. Studies in Educational Evaluation 24, 331-348.
- Rogers, B. (1995) Classroom behaviour: A practical guide to effective teaching behaviour management and colleagur support. 4th ed. Sage London.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 141-145

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

'कवि किंकर भट्ट' श्री गिरधारी शर्मा 'तैलंग' का मत्स्यांचल के संस्कृत साहित्य में योगदान

प्रो. मधुबाला मीना
संस्कृत–विभाग, गौरी देवी राजकीय महिला महाविद्यालय, अलवर।

मत्स्यांचल का संस्कृत साहित्य में अभूतपूर्व योगदान है। यहाँ के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्थलों से हमें आज भी ज्ञात होता है, इन स्थलों का सीधा सम्बन्ध संस्कृत ग्रन्थों एवं संस्कृत वाङ्मय में प्रत्यक्ष रूप से दृष्टव्य है। मत्स्यांचल में तप, त्याग व तपस्या के अभूतपूर्व उदाहरण है, अरावली की कन्दराएँ, गुफाएँ, षिलालेख तथा धार्मिक स्थल सभी की पृष्ठभूमि संस्कृतमय ही रही है। संस्कृत साहित्य के अनेकों ऋषि–महर्षियों व विद्वानों की यह जन्मस्थली व तपोस्थली रही है। "षतकत्रय" के रचयिता भर्तृहरिजी व ज्योतिष शास्त्र के प्रसिद्ध तत्व चिन्तक विद्वान महर्षि पाराषर जी व महर्षि माण्डव्य एवं ऋषि गालव आदि की तपोभूमि रही है। राजस्थान के पूर्ववर्ती सिंहद्वार की प्रसिद्धि से सुषोभित मत्स्यांचल में समय–समय पर विविध विधाओं में पारंगत, गम्भीर, पाण्डित्ययुक्त, निपुण विद्वानों ने ज्ञान एवं रस की मन्दाकिनी प्रवाहित की है। संस्कृत विद्वानों में श्रीकृष्णभट्ट षिवानन्द, कविपुण्डरीक, श्रीरघुवीर स्वरूप भट्ट, सम्पूर्णादत्त मिश्र, काव्यषास्त्र–दर्षन–व्याकरणादि के विद्वान डॉ. चन्द्र किषोर गोस्वामी इत्यादि ने मत्स्यांचल क्षेत्र में जन्म लेकर इस भूमि को और भी धन्य बना दिया है।

व्यक्तित्व :

इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए संस्कृत साहित्य के कविषिरोमणि की उपमा से अलंकृत कुल परम्परानुसार काव्य रचना के क्षेत्र पर अधिकार रखने वाले कवि किंकर भट्ट श्री गिरधारी शर्मा "तैलंग" का संस्कृत साहित्य में अभूतपूर्व योगदान रहा है। इनका जन्म आष्विन कृष्ण सप्तमी संवत् 1952 में मत्स्यांचल के अलवर मण्डल में हुआ। इनका संस्कृत के क्षेत्र में योगदान 1972 से प्रारम्भ हुआ था। इनके पिता श्री रणछोड़ जी तैलंग व श्री पुरुषोत्तम जी, श्री गयादत्त जी (मथुरा), श्री हरिवल्लभाचार्य चतुर्वेदी जी, अलवर के रहने वाले इनके गुरु थे। गिरधारी शर्मा तैलंग अत्यन्त निरभिमान, आत्म विख्यापन से दूर रहने वाले और सरस्वती के एकान्त मूक सेवक है। संस्कृत साहित्य के कवि शिरोमणि की उपमा से अलंकृत कुल परम्परानुसार काव्य रचना के क्षेत्र पर अधिकार रखने वाले कवि किंकर भट्ट श्री गिरधारी शर्मा तैलंग का संस्कृत साहित्य में अभूतपूर्व योगदान रहा है।

इनके पिता श्री रणछोड़ शर्मा भी काव्यामृत रूपी धारा में बहने वाले रहे है। श्री गिरधारी शर्मा जी बचपन से ही गम्भीर, स्नेहशील, भक्तिप्रवण एवं भावुक स्वभाव के रहे है, यही कारण है कि इनके काव्यों का भावपक्ष, कलापक्ष से अधिक प्रबल रहा है। बचपन से ही इनका स्वभाव अत्यन्त निरभिमानी रहा है, इसीलिए आत्मविख्यापन

से सर्वथा दूर सरस्वती के मूक सेवक व बचपन से ही विद्यानुरागी रहे है। गिरधारी शर्मा तैलंग का बचपन 3 भाईयों में सबसे छोटे होने के कारण स्नेहपूर्वक व्यतीत हुआ है। अध्ययन–अध्यापन, शोधकार्य एवं लेखन में इनकी विषिष्ट रूचि रही है, विनयषील एवं आत्मविलोकी होने के कारण इनकी प्रकृति सरल रही है। इन्होंने झालावाड़ से सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की है, स्नात्कोत्तर परीक्षाओं को प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर भीनमाल (जालौर) में राजकीय महाविद्यालय में प्राचार्य पद् को अलंकृत किया था। 20 वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने गोविन्दगीति एवं गीताख्य नामक दो प्रौढ़ काव्य ग्रन्थों की रचना की, 'सरस्वती संदेष रचना' से प्रभावित होकर अलवर (मत्स्यांचल का भाग) के नरेष ने भी इन्हें 'सरस्वती कवि' की उपाधि प्रदान की थी।

श्री गिरधारी शर्मा भट्ट ने अपने अप्रकाषित ग्रन्थ "अलवरनरेन्द्र कीर्तिकल्पलता" में अपना परिचय देते हुए लिखा है– "अलवरेन्द्र बख्तावरेन्द्रसभास्थलेषु कविमण्डल चक्रवर्ती मुरलीधरनामधेयः तदवंषजेषु भट्टोपनाम् विदितो गिरधारी शर्मा।" कवि गिरधारी शर्मा अपने आपको "कवि किंकर" लिखते हैं किन्तु इनकी कविता उच्च कोटि की रही है, सन् 1972 से 1982 तक ये अलवर और झालावाड़ के नरेषों से आश्रय पाते रहे है। मत्स्यांचल के काव्य–सर्जना के क्षेत्र में गिरधारी शर्मा जी का योगदान अभिनन्दनीय प्रषस्य व समृद्धतम हैं, इनकी संस्कृत कविताएँ सरस, सुन्दर व मनोहारिणी है।

कृतित्व :

काव्य सर्जना के क्षेत्र में रणछोड़ तैलंग का योगदान अत्यधिक अभिनन्दनीय, प्रषस्य व समृद्धतम् रहा है। अलंकार, गुण, रस एवं रीति पर इनका पूर्ण अधिकार रहा है इनके द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है। प्रकाषित ग्रन्थों में मुख्य रूप से "सरस्वती सन्देष" नामक रचना झालरापाटन से 1984 ई. में प्रकाषित हुई थी। इनकी अन्य कृतियाँ निम्नानुसार है–

1. गोविन्द गीति
2. श्रीयमुनाविंषतिः
3. श्रीमदगोकुलचन्द्राष्टकम्
4. वागीषवन्दनावसन्तो ब्रजपतिष्च
5. सुप्रभातसारस्वतः
6. सुभाषंसनम्

इस प्रकार "सरस्वती सन्देष" सहित 7 रचनाएँ है। "श्री गोविन्दगीति" नामक रचना का वाराणसी से विक्रम संवत् 2037 में प्रकाषन हुआ था। इसी प्रकार ऋतुषतकम्, श्रीवल्लभाष्टकम्, पद्यपंचकम् और प्रकीर्णपद्यानि नामक रचनायें "काव्यवैभवम्" नामक शीर्षक से वि.सं. 2046 में इनके कनिष्ठ पुत्र एवं संस्कृत विद्वान गदाधरजी ने राजस्थान संस्कृत अकादमी के आर्थिक सहयोग से प्रकाषित करवाकर सराहनीय कार्य किया है। इनकी निम्न रचनाएँ अप्रकाषित भी है– मुद्रामाहात्म्यम्, वेदना–वेदनगीति, सूक्ति–मुक्तावली, शृंगारलहरी, अलवरवर्णनम्, होलोत्सवगीति एवं अलवरेन्द्रकीर्ति कल्पलता आदि भी पाण्डुलिपि के रूप में विद्यमान है।

सरस्वती सन्देश :

कवि श्री गिरधारी शर्मा ने "सरस्वती सन्देष" संवत् 1984 में इस ग्रन्थ की रचनाकर झालावाड़ नरेष को सादर समर्पित कर दिया। इस ग्रन्थ के पूर्व भाग में राज्य की दषा का वैविध्यपूर्ण ढ़ंग से सविस्तार वर्णन किया

है व उत्तर भाग में आश्रयदाता विद्यानुरागी महाराज के पाण्डित्य, गुणवत्ता, विद्वता एवं संरक्षण आदि गुणों की यषः प्रषस्ति है, इस ग्रन्थ का राजस्थान गजेटियर में उल्लेख है। कवि तैलंग ने विभिन्न गोष्ठियों में भाग लिया, जिससे इनकी ख्याति शीघ्रातिषीघ्र प्रसृत हुई। 'सरस्वती सन्देष' का उदाहरण इस प्रकार है –

अथ बहुतिथकालातिक्रमे चङ्क्रमान्ते,
सुदिन समुदयान्मे चक्षुषोर्गोचरोऽभूत।
क्षितविदित भवानीसिंहनामाविपश्चित्,
प्रगुणगण–गरिष्ठो झालराफ्तनेन्द्र।।

भट्ट श्री गिरधारी शर्मा ने "सरस्वती सन्देष" में प्राचीन कवियों की प्रवृत्ति को बतलाते हुए वर्तमान समय के कवियों की प्रवृत्ति से तुलना की है। साथ ही वर्तमान समय में दी जाने वाली जठर भरणोन्मुखी कुषिक्षा के कारण सरस्वती की दुर्दषा को दर्षाया है। जहाँ पहले भास, कालिदास, भारवी, माघ, हर्ष जैसे अनेकों कवि सरस्वती की आराधना स्तुति कर नित्य प्रतिदिन कुछ नवीन रचना की आकांक्षा रखते थे, वहीं आज तथाकथित विद्वान मात्र धनधान्य की प्राप्ति हेतु काव्य रचना रूप सरस्वती को भूलते जा रहे है, इस प्रकार भारत में सरस्वती को भाररुप में जाना जा रहा है–

बतदृशमवतीर्णो दिष्टः स्वार्थपूर्तिः,
विकसितजडवाड़ो दुर्नयः क्रूरकालः।
गुरूजनमपि मूर्ख यन्महिम्ना पदन्ता,
न खलु विकृतभालाः संकुचन्ति स्म बालाः।।

ऋतुशतक :

कवि गिरधारी शर्मा जी की रचना ऋतुषतक में प्रकृति का सूक्ष्म निरुपण विद्यमान है, जिससे इनकी सूक्ष्म दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति का गुण झलकता है। ऋतुषतक में ग्रीष्मादि ऋतुओं का सरस चित्रण प्रस्तुत किया है–

नवसरसिकहैः कृतातपत्रों,
मृदुनलिनीदलसंस्तरे पुराय।
सरसि विहरति स्म हन्तसोऽद्य
प्रथयति कष्टदशां मरालः।।

गोविन्दगीति :

गिरधारी शर्मा तैलंगकृत इस गीतिकाव्य में भगवान श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था से लेकर सभी प्रकार की लीलाओं एवं माहात्म्य का वर्णन किया है, इसका प्रकाषन सन् 1980 में आनन्द प्रकाषन वाराणसी से हुआ था, इसका सम्पादन वाराणसी विष्वविद्यालय के रीडर श्री केदारनाथ मिश्र एवं आमुख लेखन राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त संस्कृत मनीषी डॉ. रेवाप्रसादजी द्विवेदी साहित्य विभागाध्यक्ष बनारस हिन्दू विष्वविद्यालय, बनारस द्वारा किया गया है। इस रचना में सात काव्यों की नक्षत्रमाला संकलित है, इस काव्य में छन्दों की विविधता, उक्ति की भंगिमा एवं रसों की सान्द्रता है। यह संग्रह संस्कृत स्रोत साहित्य की महत्वपूर्ण निधि है। यह गीतिकाव्य चार स्तबकों में विभक्त है यथा– बाल्यस्तबकः, कैशोरस्तबकः, तारुण्यस्तबकः एवं महात्म्यस्तबकः अर्थात् इसमें भगवान श्रीकृष्ण के शैषव, कैषोर्य, तारुण्य एवं महात्म्य आदि का वर्णन है। बाल्यस्तबक में बाल्यकृष्ण की लीलाओं का वर्णन

उपनिबद्ध है। कवि ने श्रीकृष्ण की जननी द्वारा निद्राविलीन कृष्ण को जगाने का अनूठा दृष्टान्त वर्णित किया है–

निशाऽभून्नि शेषा दिनमणि रसावभ्युदयते,
सुतोतिष्ठेत्येवं प्रणयमधुरैर्मातुरूदितैः।
जहन्निद्रामुद्रामलसवलितापांग सुभगः,
शिशुः कृष्णः स्वीयां प्रणयपरिपार्टी दिशतु नः।।

गोविन्दगीति में कृष्ण की लीलाओं का ऐसा मोहक वर्णन किया गया है कि हिन्दी कवि सूरदास का स्मरण हो आता है। श्रीकृष्ण की शयन क्रिया, चपलता, अंग–प्रत्यंग हाव–भावादि का बेजोड़ वर्णन शकटासुर के मर्दन एवं माधुर्यपूर्ण क्रियाओं का अत्यधिक सुन्दर वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया है। किशोरावस्था में रूपसौन्दर्य, मैत्रीभाव, क्रिया–कलाप, रासगोष्ठी आदि का अनूठा वर्णन सहृदयों के मन में रसानुभूति उत्पन्न कर अपनी गहरी छाप छोड़े बिना नहीं रहता।

देवः स नो भवतु नेत्रपथाध्वनीनः,
स्विन्नाङ्गुलीकिसलयस्य चिरेण यस्य।
राधापयोधरपुटे लिखतः प्रयत्नैः,
पाटीरपत्ररचना न समारितमेति।।

तारुण्यस्तबक में श्रीकृष्ण द्वारा मथुरा में की गई लीलाओं व मथुरावासियों को आनन्द प्रदान करने का बहुत आकर्षक वर्णन है, महात्म्यस्तबक में श्रीकृष्ण के प्रति उनके भक्तों का निवेदन प्रस्तुत किया है। इस तरह कवि गिरधारी जी ने सांसारिक लोगों में श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा के भाव को जाग्रत करने का भरसक प्रयत्न किया है। जिससे इहलोक में सभी अपने आराध्य के प्रति समर्पित रह सके तथा प्रभु से सच्चा प्रेम कर सके। इसी क्रम में श्रीकृष्ण भक्ति मार्ग के उपदेषक एवं वल्लभाचार्य के प्रति कवि ने अपना महान आदर दर्षाते हुए यमुनाविंषति तथा गोकुलचन्द्राष्टकम् की रचना की है।

कवि की इन्हीं विषिष्टताओं से साहित्य जगत ने प्रेरणा प्राप्त की है, कवि के पद्यों का अनुसरण विभिन्न कवियों ने अपनी कविताओं एवं साहित्य में करने का प्रयास किया है। कवि के कवित्व पाण्डित्य एवं रहस्य ने अन्य कवियों को भी प्रभावित किया है। ये सरस्वती के मूक सेवक व सदैव स्वाध्याय में निरत रहे और अपनी रचनाओं से सहृदयों को सदैव काव्यामृत पान करवाते रहे है। इनकी कविता उच्च कोटि की रहने से इन्हें कवि चक्रचूडामणि कहने में कोई अतिषयोक्ति नहीं होगी। इस तरह साहित्य सर्जना की धारा को अजस्र प्रवाहित करने वाले भट्ट श्री गिरधारी शर्मा ने संस्कृत साहित्याकाष में सूक्ष्म निरुपण एवं सूक्ष्माभिव्यक्ति रूपी तारिकाओं को सुषोभित किया है।

निष्कर्ष रूप से कवि भट्ट श्री गिरधारी लाल शर्मा तैलंग मत्स्यांचल के संस्कृत साहित्य की परम्परा में अपना उच्चतम एवं विषिष्ट स्थान रखते है। कवि की इस मत्स्यांचल के संस्कृत साहित्य में भूमिका से सभी संस्कृत प्रेमियों को मार्गदर्षन मिला व सभी ने अपने ग्रन्थों में अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत की अपरिहार्यता एवं आवष्यकता को भी उजागर किया है। इनकी व्याकरणमूलक काव्यषैली एक नवीन विधा के रूप में प्रयुक्त हुई और संस्कृत साहित्य जगत को आध्यात्मिक के साथ–साथ यथार्थवादी होने के लिए भी प्रेरित किया है। इनकी

रचनाएँ संसार को मानसिक चिन्ताओं से मुक्त कर अपना आत्मविश्लेषण करने के लिए प्रेरित करती है। इनकी कृतियाँ साहित्य प्रेमियों के लिए कण्ठहार बन गई है व इनकी साहित्य सर्जना उत्कृष्ट कोटि की रही है। कवि के काव्य संस्कृत साहित्य जगत को निरन्तर प्रकाषित कर रहे है।

सन्दर्भ सूची :

1. सरस्वती सन्देष / 45
2. सरस्वती सन्देष / 32
3. ऋतुषतक / 2
4. गोविन्दगीति
5 गोविन्दगीति 2 / 20

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 146-149
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

विभिन्न प्रकार के राजयोगों का तुलनात्मक अध्ययन

अरविन्द उनियाल, शोधार्थी
डॉ. मंजू सिंह, सहायक प्राध्यापक
संस्कृत ज्योतिष विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, गजरौला, अमरोहा (उत्तर प्रदेश)

सारांश :

भारतीय वैदिक ज्योतिष में राजयोग की अवधारणा सत्ता, प्रतिष्ठा और नेतृत्व के ज्योतिषीय संकेतकों के रूप में विकसित हुई है। यह अवधारणा केवल व्यक्तिगत वैभव तक सीमित न होकर सामाजिक उत्तरदायित्व, प्रशासनिक दक्षता, नीति–निर्माण और नैतिक नेतृत्व से गहराई से जुड़ी हुई है। शास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित विभिन्न राजयोग 'केन्द्र' त्रिकोण राजयोग, पंचमहापुरुष योग, धर्म 'कर्माधिपति योग तथा धन–राजयोग' अपने निर्माण, प्रभाव–क्षेत्र और फलादेश की दृष्टि से परस्पर भिन्न हैं।

प्रस्तुत शोध–लेख का उद्देश्य इन राजयोगों का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि राजयोगों का फल केवल ग्रह–संयोग का परिणाम नहीं, बल्कि भाव–रचना, ग्रह–बल, नवांश, दशा तथा सामाजिक संरचना के संयुक्त प्रभाव से निर्धारित होता है। अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि राजयोगों की आधुनिक प्रासंगिकता लोकतांत्रिक एवं संस्थागत नेतृत्व में अधिक व्यापक रूप में दृष्टिगोचर होती है। यह लेख ICSSR के शोध मानकों के अनुरूप एक अकादमिक प्रयास है।

सूचक शब्द :

राजयोग, केन्द्र–त्रिकोण भाव, पंचमहापुरुष योग, धर्म–कर्माधिपति योग, ग्रह–बल, नवांश, दशा, तुलनात्मक अध्ययन।

प्रस्तावना :

भारतीय बौद्धिक परम्परा में ज्योतिष शास्त्र को जीवन–दर्शन के एक सशक्त उपकरण के रूप में स्वीकार किया गया है। यह शास्त्र मानव जीवन को केवल व्यक्तिगत अनुभवों के स्तर पर नहीं, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक संरचनाओं के संदर्भ में भी विश्लेषित करता है। वैदिक युग से लेकर शास्त्रीय काल तक ग्रहों को कर्मफल–प्रदाता माना गया, जिनके माध्यम से व्यक्ति के पूर्वकर्म और वर्तमान कर्म के फल व्यक्त होते हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में योग की संकल्पना विकसित हुई। योग वह विशिष्ट ग्रह–संरचना है, जो जातक के जीवन में विशेष परिणाम उत्पन्न करती है। इन योगों में राजयोग सर्वाधिक चर्चित और प्रभावशाली माने गए हैं। राजयोगों का मूल उद्देश्य यह संकेत देना है कि कोई व्यक्ति सामाजिक सत्ता, प्रशासनिक प्रभाव या नेतृत्व की

भूमिका प्राप्त कर सकता है।

प्राचीन भारतीय समाज में "राज" की अवधारणा व्यापक थी– यह केवल राजनीतिक सत्ता नहीं, बल्कि सामाजिक मार्गदर्शन, न्याय, संरक्षण और नीति–निर्धारण का प्रतीक थी। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी यह अवधारणा परिवर्तित रूप में विद्यमान है।

विभिन्न ज्योतिषीय ग्रन्थों में राजयोगों की व्याख्या भिन्न–भिन्न ढंग से की गई है। कहीं भाव–स्वामी संबंध को प्रधान माना गया है, तो कहीं ग्रह–बल, नवांश और दशा को निर्णायक तत्व स्वीकार किया गया है। इस विविधता के कारण राजयोगों का तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य हो जाता है, जिससे शास्त्रीय सिद्धान्तों की समग्र समझ विकसित की जा सके।

राजयोग की संकल्पना : दार्शनिक एवं सामाजिक आधार :

राजयोगों की अवधारणा भारतीय कर्म–दर्शन से गहराई से जुड़ी हुई है। कर्म के अनुसार ही व्यक्ति को जीवन में सत्ता, सम्मान या नेतृत्व प्राप्त होता है। राजयोग इस बात का संकेत देते हैं कि किसी व्यक्ति के कर्म उसे समाज में विशिष्ट स्थान प्रदान कर सकते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से राजयोग धर्म और कर्म के संतुलन का प्रतीक हैं। यदि केवल कर्म हो और धर्म न हो, तो सत्ता क्षणिक हो जाती है, और यदि धर्म हो पर कर्म न हो, तो प्रभावहीनता उत्पन्न होती है। राजयोग इन दोनों के संतुलन को दर्शाते हैं।

केन्द्र और त्रिकोण भावों की संरचनात्मक भूमिका :

- राजयोगों की संरचना में भावों की भूमिका केन्द्रीय है।
- केन्द्र भाव जीवन की क्रियाशीलता, कर्म और सामाजिक सहभागिता को दर्शाते हैं।
- त्रिकोण भाव धर्म, भाग्य और बौद्धिक संस्कारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।
- जब इन भावों के स्वामी ग्रह परस्पर संबंध स्थापित करते हैं, तब राजयोग निर्मित होते हैं। यह संबंध केवल युति तक सीमित नहीं, बल्कि दृष्टि, परस्पर परिवर्तन और विशेष ग्रह–संयोग के रूप में भी हो सकता है।

प्रमुख राजयोगों का विस्तृत वर्गीकरण :

(1) **केन्द्र–त्रिकोण राजयोग :**

यह राजयोगों का आधारभूत स्वरूप है।

फल-विशेषताएँ : प्रशासनिक पद, संस्थागत नेतृत्व एवं सामाजिक मान्यता।

विश्लेषण : यह योग संरचनात्मक है और समाज की व्यवस्था से गहराई से जुड़ा होता है।

(2) **पंचमहापुरूष योग : व्यक्तित्व और सत्ता :**

पंचमहापुरुष योग व्यक्ति की आंतरिक क्षमता को सामाजिक सत्ता में रूपांतरित करते हैं। इन योगों का प्रभाव केवल बाह्य सत्ता तक सीमित नहीं, बल्कि व्यक्ति के चरित्र, निर्णय–क्षमता और नेतृत्व शैली को भी प्रभावित करता है।

उदाहरणतः – शश योग दीर्घकालीन प्रशासनिक स्थिरता का संकेत देता है।

(3) **धर्म-कर्माधिपति योग : नीति और प्रशासन :**

यह योग राजयोगों में सर्वाधिक परिपक्व माना जाता है।

यह व्यक्ति को केवल पद नहीं, बल्कि नीति–निर्माता बनने की क्षमता प्रदान करता है।

आधुनिक संदर्भ में यह योग न्यायपालिका, विश्वविद्यालयीय प्रशासन और उच्च नीति–निर्धारण संस्थानों में दृष्टिगोचर होता है।

(4) धन-राजयोग : आर्थिक शक्ति और प्रभाव :

- धन–राजयोग आर्थिक संसाधनों के नियंत्रण का संकेत देता है।
- यह योग आधुनिक कॉर्पोरेट नेतृत्व, उद्योग और वित्तीय संस्थानों में अधिक प्रभावी दिखाई देता है।
- किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से यह योग अकेले राजसत्ता का पूर्ण संकेतक नहीं माना गया है।

शास्त्रीय ग्रन्थों में राजयोगों की व्याख्या : तुलनात्मक अध्ययन :

शास्त्रीय ग्रन्थों में राजयोगों की व्याख्या का उद्देश्य केवल फलादेश नहीं, बल्कि सैद्धान्तिक स्पष्टता भी है।

कुछ ग्रन्थ संरचना पर बल देते हैं, तो कुछ ग्रह–बल और दशा को अधिक महत्त्व देते हैं। यह विविधता ज्योतिष को एक लचीला और व्यावहारिक शास्त्र बनाती है।

ग्रह-बल, नवांश और दशा : फलादेश का निर्धारण :

राजयोग तभी पूर्ण फल देते हैं जब–

ग्रह शारीरिक और क्रियात्मक रूप से समर्थ हों, नवांश में शुभ स्थिति हो और अनुकूल दशा–काल प्राप्त हो। इन तत्वों के बिना राजयोग निष्क्रिय या आंशिक रूप से फलित होते हैं।

आधुनिक लोकतांत्रिक संदर्भ में राजयोग :

- आधुनिक समाज में राजयोग सत्ता के स्थान पर नेतृत्व का संकेत देते हैं।
- आज ये योग प्रशासनिक सेवाओं, न्यायिक संस्थानों, शिक्षा एवं अनुसंधान संस्थानों और बहुराष्ट्रीय संगठनों में परिलक्षित होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि राजयोगों की व्याख्या समयानुसार विकसित होती रही है।

सीमाएँ, भ्रांतियाँ और आलोचनात्मक दृष्टि :

- सभी राजयोग समान रूप से फलित नहीं होते, ये सामाजिक अवसर और व्यक्तिगत कर्म निर्णायक होते हैं। अतिशयोक्तिपूर्ण दावे शास्त्रीय मर्यादा के विरुद्ध हैं।
- आलोचनात्मक दृष्टि से राजयोगों को संभावनाओं के संकेतक के रूप में समझना अधिक वैज्ञानिक है।

निष्कर्ष :

राजयोगों का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि राजयोग कोई यांत्रिक सूत्र नहीं, बल्कि एक समग्र ज्योतिषीय संरचना है। भाव, ग्रह, बल, नवांश, दशा और सामाजिक परिवेश इन सभी का संयुक्त प्रभाव ही राजयोगों के फल को निर्धारित करता है। आधुनिक युग में राजयोग सत्ता से अधिक जिम्मेदारी, नेतृत्व और सामाजिक प्रभाव के प्रतीक बन चुके हैं। यह अध्ययन भारतीय ज्योतिष को अकादमिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर सुदृढ़ करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. बृहत् पराशर होरा शास्त्र – महर्षि पराशर, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी। (राजयोग, धर्म–कर्माधिपति

योग, दशा सिद्धान्त का मूल ग्रन्थ)
2. फलदीपिका – मणित्थाचार्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी। (राजयोगों का व्यावहारिक फलादेश)
3. जातक पारिजात – वैद्यनाथ दीक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। (योगों का सूक्ष्म एवं नवांश आधारित विवेचन)
4. सारावली – कल्याण वर्मा, चौखम्भा ओरिएंटालिया, वाराणसी। (राजयोग एवं ग्रह–स्वभाव का विश्लेषण)
5. जातक अलंकार – गोविन्द भट्ट, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी। (केन्द्र–त्रिकोण योगों की व्याख्या)
6. बृहत् जातक – वराहमिहिर, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली। (प्राचीन सामाजिक सत्ता और योग–संरचना)
7. Hindu Predictive Astrology — बी.वी. रमन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। (राजयोगों का आधुनिक प्रशासनिक संदर्भ)
8. Astrology for Modern Life — हार्ट डी फूक, राइडर पब्लिकेशन्स, लंदन। (लोकतांत्रिक समाज में राजयोग की व्याख्या)
9. Notable Horoscopes — बी.वी. रमन, UBS पब्लिशर्स, नई दिल्ली। (व्यवहारिक उदाहरणों द्वारा राजयोगों की पुष्टि)
10. How to Judge a Horoscope — बी.वी. रमन, UBS पब्लिशर्स, चेन्नई। (ग्रह–बल, दशा और योग मूल्यांकन)
11. शर्मा, एस.के. (2018), "वैदिक ज्योतिष में योग–संरचना का समाजशास्त्रीय विश्लेषण", भारतीय सामाजिक अनुसंधान जर्नल, खण्ड 59(2), पृ. 145–162।
12. त्रिपाठी, आर. (2021), "राजयोगों की आधुनिक प्रासंगिकता : एक विश्लेषण", ICSSR समर्थित शोध–पत्र, नई दिल्ली।
13. मिश्रा, पी. (2020), "धर्म–कर्म सिद्धान्त और ज्योतिषीय योग", जर्नल ऑफ इंडियन नॉलेज सिस्टम्स, खण्ड 4(1), पृ. 88–104।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 150-156
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

आधुनिक राजनीति में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन

रूखमणी मोहबे, शोधार्थी,
डॉ. मुन्नालाल चौधरी, शोध निर्देशक (सहा. प्राध्या. संस्कृत)
संस्कृत विभाग, शासकीय स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय, सिवनी, म. प्र. –480661

सार :

प्रस्तुत शोध पत्र आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रासंगिकता का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में रचित अर्थशास्त्र के राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक सिद्धांतों का समकालीन परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करता है। शोध का मुख्य उद्देश्य यह परीक्षण करना है कि कौटिल्य के मंडल सिद्धांत, सप्तांग सिद्धांत, गुप्तचर व्यवस्था एवं सुशासन की अवधारणा वर्तमान भारतीय विदेश नीति, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा शासन प्रणाली में किस सीमा तक प्रभावी हैं। मिश्रित शोध पद्धति का प्रयोग करते हुए द्वितीयक आंकड़ों का विश्लेषण किया गया है। परिणाम दर्शाते हैं कि भारत की विदेश नीति में मंडल सिद्धांत की स्पष्ट झलक मिलती है, जबकि आधुनिक खुफिया तंत्र कौटिल्य की गुप्तचर व्यवस्था के मूल सिद्धांतों पर आधारित है। शोध निष्कर्ष बताते हैं कि कौटिल्य के सिद्धांत न केवल ऐतिहासिक महत्व रखते हैं, बल्कि समकालीन राजनीतिक चुनौतियों के समाधान में भी सार्थक योगदान दे सकते हैं। यह अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की आधुनिक राजनीति में व्यावहारिक उपयोगिता है।

प्रस्तावना :

कौटिल्य, जिन्हें चाणक्य और विष्णुगुप्त के नाम से भी जाना जाता है, प्राचीन भारत के सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिक चिंतकों में से एक थे।[1] चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में रचित उनका ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' राजनीति, शासन, अर्थव्यवस्था, न्याय और कूटनीति का एक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह ग्रंथ केवल एक सैद्धांतिक रचना नहीं, बल्कि व्यावहारिक राज्य प्रबंधन का एक सम्पूर्ण मार्गदर्शक है। कौटिल्य ने मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के महामंत्री के रूप में इन सिद्धांतों को व्यवहार में भी लागू किया था। वर्तमान समय में जब भारत वैश्विक राजनीति में एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभर रहा है, कौटिल्य के राजनीतिक सिद्धांतों की प्रासंगिकता पुनः परीक्षण की मांग करती है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में बदलते समीकरण, आतंकवाद की चुनौती, साइबर सुरक्षा के खतरे, और सुशासन की आवश्यकता जैसे समकालीन मुद्दों के संदर्भ में अर्थशास्त्र के सिद्धांत महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। भारत की वर्तमान विदेश नीति, विशेषकर पड़ोसी देशों के साथ संबंधों में, कौटिल्य के

मंडल सिद्धांत की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है।

इक्कीसवीं सदी में राष्ट्रीय सुरक्षा और खुफिया तंत्र का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। कौटिल्य ने अपने काल में ही एक विस्तृत और संगठित गुप्तचर प्रणाली का विधान किया था, जिसकी आधुनिक खुफिया एजेंसियों से तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार, सुशासन की आधुनिक अवधारणा भी कौटिल्य के 'योगक्षेम' और 'प्रजापालन' के सिद्धांतों से प्रेरित है। कौटिल्य ने राज्य को कल्याणकारी संस्था माना और राजा को प्रजा के सुख–समृद्धि का उत्तरदायी ठहराया।[2] हालांकि, आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था और प्राचीन राजतंत्र में मूलभूत अंतर है, फिर भी कौटिल्य के अनेक सिद्धांत सार्वभौमिक प्रकृति के हैं। उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण, जो शक्ति संतुलन, राष्ट्रीय हित और व्यावहारिक कूटनीति पर आधारित है, आज भी उतना ही प्रासंगिक है। इस शोध पत्र का उद्देश्य कौटिल्य के प्रमुख राजनीतिक सिद्धांतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना और यह मूल्यांकन करना है कि ये सिद्धांत वर्तमान भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में किस प्रकार लागू हो सकते हैं।

कौटिल्य के राजनीतिक दर्शन का ऐतिहासिक विश्लेषण :

कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर व्यापक शोध कार्य हुआ है। कौटिल्य के राजनीतिक यथार्थवाद को उजागर किया गया। उन्होंने कौटिल्य की तुलना मैकियावेली से करते हुए दोनों के बीच समानताओं और भिन्नताओं को रेखांकित किया। कौटिल्य और मैकियावेली के राजनीतिक दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा से यह स्पष्ट हुआ कि दोनों विचारकों ने राज्य हित को सर्वोपरि माना, परंतु कौटिल्य का दृष्टिकोण अधिक व्यापक और संगठित था। उन्होंने बताया कि कौटिल्य का सप्तांग सिद्धांत राज्य की संरचना को समझने का एक क्रांतिकारी तरीका था। शमाशास्त्री (1915) ने अर्थशास्त्र का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसने पाश्चात्य विद्वानों को इस महान कृति से परिचित कराया।

कौटिल्य के आर्थिक विचारों का वर्तमान संदर्भ में राज्य द्वारा आर्थिक नियमन और कल्याणकारी नीतियों की उनकी अवधारणा आज भी प्रासंगिक है।[3] कौटिल्य के राजनीतिक दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया और उनके विचारों को भारतीय दर्शन की परंपरा में स्थापित किया।

आधुनिक राजनीति में कौटिल्य की प्रासंगिकता :

डिजिटल युग में कौटिल्य की जासूसी प्रणाली, साइबर सुरक्षा और आधुनिक खुफिया तंत्र के संदर्भ में कौटिल्य के सिद्धांत कैसे लागू हो सकते हैं। कौटिल्य की राष्ट्रीय सुरक्षा अवधारणा का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया और बताया कि बहुआयामी सुरक्षा खतरों के युग में कौटिल्य का समग्र सुरक्षा दृष्टिकोण अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय विदेश नीति में कौटिल्य के मंडल सिद्धांत के प्रभाव का अध्ययन किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि भारत की 'नेबरहुड फर्स्ट' नीति और सामरिक साझेदारियां कौटिल्य के मंडल सिद्धांत के आधुनिक व्याख्या हैं। आधुनिक भारत की विदेश नीति में कौटिल्य के सिद्धांतों की उपस्थिति को रेखांकित किया। सुशासन में कौटिल्य के योगदान का मूल्यांकन किया और बताया कि पारदर्शिता, जवाबदेही और जनकल्याण की आधुनिक अवधारणाएं कौटिल्य के 'धर्म' और 'योगक्षेम' से प्रेरित हैं।[4] कौटिल्य की न्याय व्यवस्था का विधिक अध्ययन प्रस्तुत किया, जिसमें दंड और न्याय के संतुलन पर बल दिया गया। कौटिल्य की राज्य प्रणाली और आधुनिक राजनीति के बीच सेतु स्थापित किया। सप्तांग सिद्धांत की समीक्षा में इसकी व्यावहारिकता को उजागर किया। कौटिल्य के पर्यावरण दर्शन और सतत विकास के बीच संबंध स्थापित किया, जो एक नवीन दृष्टिकोण है।

शोध के उद्देश्य :

1. आधुनिक भारतीय विदेश नीति और राष्ट्रीय सुरक्षा रणनीति में कौटिल्य के मंडल सिद्धांत और गुप्तचर व्यवस्था की प्रासंगिकता का विश्लेषण करना।
2. समकालीन शासन प्रणाली में सुशासन और लोक कल्याण के संदर्भ में कौटिल्य के सिद्धांतों की उपयोगिता का मूल्यांकन करना।

प्रस्तुत शोध में मिश्रित शोध पद्धति का प्रयोग किया गया है, जिसमें गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों प्रकार के आंकड़ों का विश्लेषण सम्मिलित है। शोध का डिजाइन विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक प्रकृति का है। अध्ययन में मुख्यतः शैक्षणिक पुस्तकें, शोध पत्र, सरकारी दस्तावेज और विश्वसनीय वेब स्रोतों से जानकारी एकत्रित की गई है। शोध में कौटिल्य के अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांतों, विशेषकर मंडल सिद्धांत, सप्तांग सिद्धांत, गुप्तचर व्यवस्था और सुशासन की अवधारणा को केंद्र में रखा गया है। इन सिद्धांतों का वर्तमान भारतीय राजनीतिक परिदृश्य, विशेषकर 'कौटिल्य काल से' 2025 के मध्य की विदेश नीति, राष्ट्रीय सुरक्षा नीति और शासन सुधारों के साथ तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है। साहित्य समीक्षा के माध्यम से कौटिल्य पर उपलब्ध सरकारी नीति दस्तावेजों, विदेश मंत्रालय के वक्तव्यों और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार की रिपोर्टों का विश्लेषण किया गया। वेब के माध्यम से समकालीन शोध लेखों और विश्लेषणात्मक लेखों को शामिल किया गया।

विश्लेषण तकनीक के रूप में विषयगत विश्लेषण और तुलनात्मक विश्लेषण का उपयोग किया गया है। कौटिल्य के सिद्धांतों को आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतों के साथ तुलना की गई और उनकी प्रासंगिकता को परखा गया। शोध की विश्वसनीयता सुनिश्चित करने के लिए त्रिभुजीकरण की विधि अपनाई गई, जिसमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त जानकारी का मिलान किया गया। शोध की नैतिकता का पूर्ण ध्यान रखा गया है और सभी स्रोतों का उचित संदर्भ प्रदान किया गया है।

कौटिल्य का मंडल सिद्धांत और भारत की आधुनिक विदेश नीति :

कौटिल्य का मंडल सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की एक अत्यंत व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस सिद्धांत के अनुसार, एक विजिगीषु (विजय की इच्छा रखने वाले) राज्य के चारों ओर विभिन्न प्रकार के राज्य होते हैं। पड़ोसी राज्य स्वाभाविक रूप से 'अरि' (शत्रु) होता है, जबकि शत्रु का पड़ोसी 'मित्र' होता है। इस प्रकार कौटिल्य ने 12 प्रकार के राज्यों का वर्णन किया है, जिनमें विजिगीषु, अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार, आक्रन्दसार, मध्यम और उदासीन शामिल हैं।[5] वर्तमान भारतीय विदेश नीति में इस सिद्धांत की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। भारत की पड़ोसी देशों के साथ संबंधों में यह सिद्धांत व्यावहारिक रूप से लागू होता है। पाकिस्तान के साथ भारत के संबंध परंपरागत रूप से प्रतिस्पर्धी रहे हैं, जो कौटिल्य के 'अरि' की अवधारणा से मेल खाता है। इसी प्रकार, अफगानिस्तान (जो पाकिस्तान का पड़ोसी है) के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण संबंध मंडल सिद्धांत के 'मित्र' (शत्रु का शत्रु मित्र होता है) की व्याख्या को प्रतिबिंबित करते हैं।

भारत की 'नेबरहुड फर्स्ट' नीति भी कौटिल्य के इस मूल सिद्धांत पर आधारित है कि पड़ोसी राज्यों के साथ संबंध राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) और बिम्सटेक जैसे क्षेत्रीय मंचों में भारत की सक्रिय भागीदारी इसी सोच का परिणाम है। बांग्लादेश, भूटान, नेपाल

और श्रीलंका जैसे पड़ोसी देशों के साथ भारत के विकासात्मक साझेदारी कार्यक्रम मंडल सिद्धांत के व्यावहारिक कार्यान्वयन हैं। भारत की विस्तारित पड़ोस की अवधारणा, जिसमें मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और दक्षिण–पूर्व एशिया शामिल हैं, कौटिल्य के विस्तृत मंडल की परिकल्पना से मेल खाती है। एक्ट ईस्ट पॉलिसी के तहत दक्षिण–पूर्व एशियाई देशों के साथ बढ़ते संबंध इस बात का प्रमाण हैं कि भारत अपने सामरिक मंडल का विस्तार कर रहा है।

चीन के साथ भारत के जटिल संबंध भी मंडल सिद्धांत के संदर्भ में समझे जा सकते हैं। चीन की पाकिस्तान के साथ बढ़ती निकटता और भारत की चिंता, साथ ही भारत द्वारा जापान, ऑस्ट्रेलिया और अमेरिका के साथ क्वाड गठबंधन की स्थापना, मंडल सिद्धांत के शक्ति संतुलन के सिद्धांत का आधुनिक उदाहरण है। भारत–प्रशांत क्षेत्र में भारत की बढ़ती सक्रियता कौटिल्य के इस विचार को प्रतिबिंबित करती है कि दूरस्थ राज्यों के साथ सामरिक संबंध निकटवर्ती शत्रु को संतुलित करने में सहायक होते हैं। कौटिल्य के षाड्गुण्य नीति (संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय)[6] का भी वर्तमान भारतीय विदेश नीति में प्रयोग देखा जा सकता है। भारत ने विभिन्न देशों के साथ अलग–अलग परिस्थितियों में इन छह नीतियों का चतुराई से प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए, चीन के साथ सीमा विवाद के बावजूद व्यापारिक संबंध बनाए रखना 'द्वैधीभाव' (दोहरी नीति) का उदाहरण है।

गुप्तचर व्यवस्था – प्राचीन सिद्धांत से आधुनिक खुफिया तंत्र तक :

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में गुप्तचर व्यवस्था को राज्य सुरक्षा का एक अनिवार्य अंग माना। उन्होंने गुप्तचरों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया : संस्था (संगठित गुप्तचर) और संचार (भ्रमणशील गुप्तचर)। संस्था श्रेणी में कापटिक (छद्मवेशी विद्यार्थी), उदास्थित (संन्यासी), गृहपतिक (गृहस्थ), वैदेहक (व्यापारी) और तापस (तपस्वी) शामिल थे। संचार श्रेणी में सत्री (महिला गुप्तचर), तीक्ष्ण (साहसी गुप्तचर), रशद (विष कन्या) और विशाली (कलाकार गुप्तचर) आते थे।[7] आधुनिक भारतीय खुफिया तंत्र, जिसमें रिसर्च एंड एनालिसिस विंग (रॉ), इंटेलिजेंस ब्यूरो (आईबी), और डिफेंस इंटेलिजेंस एजेंसी (डीआईए) शामिल हैं, कौटिल्य के मूल सिद्धांतों पर आधारित है। रॉ की स्थापना 1968 में विदेशी खुफिया जानकारी एकत्र करने के लिए की गई थी, जो कौटिल्य के 'संचार' गुप्तचरों की अवधारणा से मेल खाती है। आईबी, जो आंतरिक सुरक्षा और काउंटर–इंटेलिजेंस का कार्य करता है, कौटिल्य के 'संस्था' गुप्तचरों के समान है।

कौटिल्य ने गुप्तचरों के प्रशिक्षण, उनकी नियुक्ति, पारिश्रमिक और सुरक्षा पर विस्तृत दिशानिर्देश दिए थे। आधुनिक खुफिया एजेंसियों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था देखी जाती है। भारतीय खुफिया अधिकारियों को व्यापक प्रशिक्षण दिया जाता है और उनकी पहचान गोपनीय रखी जाती है, जो कौटिल्य की गुप्तता की अवधारणा से मेल खाता है। साइबर युग में कौटिल्य की जासूसी प्रणाली की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। राष्ट्रीय तकनीकी अनुसंधान संगठन (एनटीआरओ) और राष्ट्रीय खुफिया ग्रिड (नेटग्रिड) जैसी एजेंसियां डिजिटल निगरानी और साइबर खुफिया का कार्य करती हैं। यह कौटिल्य के विचार का आधुनिक विस्तार है कि सूचना संग्रहण के तरीके समय के साथ बदलने चाहिए।

डिजिटल युग में साइबर जासूसी, डेटा एनालिटिक्स और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के प्रयोग से कौटिल्य की गुप्तचर व्यवस्था नया रूप ले रही है। आधुनिक भारत में आतंकवाद विरोधी अभियानों, सीमा सुरक्षा और

आंतरिक सुरक्षा में खुफिया तंत्र की भूमिका कौटिल्य के इस विचार को पुष्ट करती है कि 'राज्य की आंखें गुप्तचर होती हैं।' कौटिल्य ने 'उभयवेतन' (दोहरे एजेंट) की अवधारणा भी दी थी, जो आज भी खुफिया कार्यों में उपयोग होती है। शत्रु देश में अपने एजेंट भेजना और उनके एजेंटों को अपनी ओर मिलाना, ये दोनों ही रणनीतियां आधुनिक खुफिया संगठनों द्वारा अपनाई जाती हैं। पुलवामा हमले (2019) के बाद भारत द्वारा पाकिस्तान में आतंकवादी ठिकानों पर हवाई हमला कौटिल्य के सक्रिय रक्षा की अवधारणा का उदाहरण है, जिसमें खुफिया जानकारी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

सुशासन और लोक कल्याण : कौटिल्य की दृष्टि :

कौटिल्य ने राज्य को एक कल्याणकारी संस्था माना। उनकी 'योगक्षेम' की अवधारणा आधुनिक सुशासन और लोक कल्याण की नींव है। योगक्षेम का अर्थ है – प्राप्त का संरक्षण और अप्राप्त की प्राप्ति। राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों की सुरक्षा करे और उनके कल्याण के लिए कार्य करे। कौटिल्य ने स्पष्ट कहा, 'प्रजा के सुख में राजा का सुख निहित है और प्रजा के कल्याण में उसका कल्याण है।'[8] आधुनिक भारत में सुशासन की अवधारणा कौटिल्य के इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है। पारदर्शिता, जवाबदेही, भागीदारी, प्रभावशीलता और न्यायसंगतता जैसे सुशासन के तत्व कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। भारत सरकार द्वारा शुरू की गई डिजिटल इंडिया, आधार, जन धन योजना और डायरेक्ट बेनिफिट ट्रांसफर जैसी योजनाएं कौटिल्य के प्रशासनिक दक्षता और भ्रष्टाचार नियंत्रण के सिद्धांतों को लागू करती हैं। कौटिल्य ने राज्य के व्यापक कार्यक्षेत्र का वर्णन किया था, जिसमें कृषि, सिंचाई, खनन, वन प्रबंधन, व्यापार नियमन, मूल्य नियंत्रण, माप–तौल का मानकीकरण और सार्वजनिक निर्माण कार्य शामिल थे। आधुनिक कल्याणकारी राज्य भी इन्हीं क्षेत्रों में सक्रिय है। भारत सरकार की महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना, प्रधानमंत्री आवास योजना, स्वच्छ भारत अभियान और आयुष्मान भारत जैसी योजनाएं कौटिल्य के लोक कल्याणकारी राज्य की आधुनिक व्याख्या हैं।

कौटिल्य ने भ्रष्टाचार पर नियंत्रण के लिए कठोर दंड और निरंतर निगरानी की व्यवस्था का सुझाव दिया था। उन्होंने कहा कि 'जिस प्रकार मछली पानी में रहते हुए पानी पीती है, उसी प्रकार अधिकारी राजकोष से धन हड़पते हैं।'[9] इसलिए कौटिल्य ने अधिकारियों की निरंतर जांच की व्यवस्था की। आधुनिक भारत में केंद्रीय सतर्कता आयोग, केंद्रीय जांच ब्यूरो और लोकपाल जैसी संस्थाएं इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। कौटिल्य का सप्तांग सिद्धांत, जिसमें स्वामी (शासक), अमात्य (मंत्री), जनपद (भूमि और जनता), दुर्ग (किला), कोष (राजकोष), दंड (सेना) और मित्र (सहयोगी) शामिल हैं[10], आधुनिक राज्य के सुशासन के आवश्यक तत्वों से कौटिल्य के योगदान का मूल्यांकन से यह स्पष्ट होता है कि प्रशासनिक सुधार, सार्वजनिक सेवा वितरण और नागरिक केंद्रित शासन की आधुनिक अवधारणाएं कौटिल्य के विचारों से प्रेरित हैं।[11]

कौटिल्य के सिद्धांतों की समकालीन प्रासंगिकता और सीमाएं :

कौटिल्य के राजनीतिक सिद्धांत 21वीं सदी की भू–राजनीतिक वास्तविकताओं में अत्यंत प्रासंगिक हैं। उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण, जो राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानता है, आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के यथार्थवादी सिद्धांत से मेल खाता है। मंडल सिद्धांत शक्ति संतुलन की आधुनिक अवधारणा का प्राचीन संस्करण है। भारत की बहुपक्षीय विदेश नीति, जिसमें विभिन्न देशों के साथ अलग–अलग स्तर के संबंध बनाए रखे जाते हैं, कौटिल्य

के मंडल सिद्धांत का व्यावहारिक प्रयोग है। भारत की विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता, पंचशील और रणनीतिक स्वायत्तता जैसे सिद्धांत कौटिल्य के विचारों से प्रभावित हैं। विशेषकर, चीन के साथ 1962 के युद्ध के बाद भारत ने अपनी सुरक्षा नीति में जो परिवर्तन किए, वे कौटिल्य के इस सिद्धांत को प्रतिबिंबित करते हैं कि 'शांति के लिए युद्ध की तैयारी आवश्यक है।'

हालांकि, कौटिल्य के कुछ सिद्धांत आधुनिक लोकतांत्रिक और नैतिक मानकों के अनुरूप नहीं हैं। उनका राज्य केंद्रित दृष्टिकोण व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतंत्रता को कम महत्व देता है। राज्य हित के लिए धोखे, षड्यंत्र और हिंसा के प्रयोग को न्यायोचित ठहराना आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय कानून और मानवाधिकारों की अवधारणा से मेल नहीं खाता।[12] कौटिल्य के राजनीतिक सिद्धांत में नैतिकता और व्यावहारिकता के बीच संतुलन की चर्चा की है। फिर भी, कौटिल्य का समग्र दृष्टिकोण – जो सैन्य शक्ति के साथ–साथ आर्थिक समृद्धि, कूटनीतिक कौशल और आंतरिक स्थिरता पर बल देता है[13] – आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है। भारत की एक्ट ईस्ट पॉलिसी, कनेक्टिविटी परियोजनाएं और विकास साझेदारी कार्यक्रम कौटिल्य के व्यापक सुरक्षा और विकास दृष्टिकोण के आधुनिक उदाहरण हैं।

आधुनिक चुनौतियों के संदर्भ में कौटिल्य के समाधान :

वर्तमान वैश्विक व्यवस्था अनेक चुनौतियों का सामना कर रही है – आतंकवाद, साइबर युद्ध, जलवायु परिवर्तन, महामारी और आर्थिक अनिश्चितता[14]। कौटिल्य के सिद्धांत इन चुनौतियों से निपटने में महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं। आतंकवाद के संदर्भ में, कौटिल्य की गुप्तचर व्यवस्था और सक्रिय रक्षा की अवधारणा अत्यंत प्रासंगिक है। आतंकवाद से निपटने के लिए खुफिया जानकारी एकत्र करना, आतंकवादी नेटवर्क को तोड़ना और पूर्वव्यापी कार्रवाई करना कौटिल्य की रणनीति का हिस्सा था। भारत द्वारा पाकिस्तान में सर्जिकल स्ट्राइक (2016) और बालाकोट एयर स्ट्राइक (2019) पाकिस्तान के विरूद्ध आपरेशन सिंदूर (2025) इसके उदाहरण हैं। साइबर सुरक्षा के क्षेत्र में, कौटिल्य की सूचना संरक्षण और गुप्तता की अवधारणा महत्वपूर्ण है। डिजिटल युग में राष्ट्रीय सूचना संरक्षण, साइबर निगरानी और डेटा सुरक्षा कौटिल्य की जासूसी प्रणाली का आधुनिक विस्तार है। भारत का राष्ट्रीय साइबर सुरक्षा नीति और सूचना सुरक्षा शिक्षा और जागरूकता परियोजना इसी दिशा में कदम हैं।

आर्थिक चुनौतियों के संदर्भ में, कौटिल्य के आर्थिक विचार – राज्य द्वारा आर्थिक नियमन, व्यापार संतुलन, कर प्रणाली और राजकोषीय अनुशासन, आज भी प्रासंगिक हैं। आत्मनिर्भर भारत अभियान कौटिल्य के आर्थिक आत्मनिर्भरता के सिद्धांत का आधुनिक संस्करण है। पर्यावरण और सतत विकास के संदर्भ में, कौटिल्य के पर्यावरण दर्शन को उजागर किया है। कौटिल्य ने वन संरक्षण, जल प्रबंधन और प्राकृतिक संसाधनों के सतत उपयोग पर बल दिया था। ये विचार आधुनिक सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) से मेल खाते हैं।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के राजनीतिक सिद्धांत आधुनिक युग में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। मंडल सिद्धांत भारत की विदेश नीति की आधारशिला बना हुआ है, जबकि गुप्तचर व्यवस्था का आधुनिक खुफिया तंत्र में व्यापक उपयोग हो रहा है। सुशासन और लोक कल्याण की कौटिल्य की अवधारणा आधुनिक कल्याणकारी राज्य का आधार है। कौटिल्य का यथार्थवादी दृष्टिकोण, जो राष्ट्रीय हित, शक्ति संतुलन

और व्यावहारिक कूटनीति पर आधारित है, 21वीं सदी की जटिल भू–राजनीतिक चुनौतियों से निपटने में महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान करता है। हालांकि, कौटिल्य के कुछ विचार आधुनिक लोकतांत्रिक और मानवाधिकार मानकों के अनुकूल नहीं हैं, फिर भी उनके सिद्धांतों का चयनात्मक और संदर्भ–संवेदी उपयोग आज भी संभव और उपयोगी है। भारत को अपनी विदेश नीति, राष्ट्रीय सुरक्षा रणनीति और शासन प्रणाली में कौटिल्य के सिद्धांतों को आधुनिक संदर्भ में पुर्नव्याख्यायित करते हुए लागू करना चाहिए।[15] प्राचीन ज्ञान और आधुनिक चुनौतियों के बीच यह संवाद भारत को एक सशक्त, समृद्ध और सुरक्षित राष्ट्र बनाने में सहायक हो सकता है।

संदर्भ सूची :

1. कौटिल्य का अर्थशास्त्र. सोमैया पब्लिकेशंस, आर.पी. बोसले।
2. डिजिटल युग में कौटिल्य की जासूसी प्रणाली की प्रासंगिकता. भारतीय राजनीति विज्ञान समीक्षा, एस. गुप्ता।
3. कौटिल्य और मेगस्थनीज. प्राचीन भारत का इतिहास, एस.आर. गोयल।
4. जायसवाल, के.पी. हिन्दू राजनीति. भारतीय विद्या भवन।
5. त्रौतमान, टी.आर. अर्थशास्त्र : द साइंस ऑफ वेल्थ. पेंगुइन बुक्स इंडिया।
6. त्रिपाठी, पी.के. कौटिल्य के सप्तांग सिद्धांत की समीक्षा. राजनीतिक विज्ञान समीक्षा।
7. दुबे, एस.पी. कौटिल्य का राजनीतिक दर्शन. भारतीय दर्शन अनुशीलन।
8. द्विवेदी, वी.के. आधुनिक भारत की विदेश नीति में कौटिल्य के सिद्धांत. राजनीति विज्ञान जर्नल।
9. पाण्डेय, आर.के. सुशासन में कौटिल्य के योगदान का मूल्यांकन. प्रशासनिक अध्ययन जर्नल।
10. मिश्रा, पी. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आर्थिक विचार. भारतीय अर्थशास्त्र जर्नल।
11. रंगराजन, एल.एन. कौटिल्य : द अर्थशास्त्र. पेंगुइन बुक्स इंडिया।
12. राव, के.एल.श्रीनिवास. कौटिल्य की राज्य प्रणाली और आधुनिक राजनीति. इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस।
13. वर्मा, एम. कौटिल्य के पर्यावरण दर्शन और सतत विकास. पर्यावरण अध्ययन जर्नल, शमाशास्त्री, आर. कौटिल्य का अर्थशास्त्र. वेसलेयन मिशन प्रेस।
14. शर्मा, आर.एस. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न्याय व्यवस्था. विधिक अध्ययन जर्नल।
15. सिंह, यू.पी. कौटिल्य की राष्ट्रीय सुरक्षा अवधारणा : एक आधुनिक परिप्रेक्ष्य. रणनीतिक अध्ययन जर्नल।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 157-164

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

A STUDY OF PSYCHOLOGICAL AND MENTAL ABILITY PROFILES OF INDIVIDUAL AND TEAM GAME PLAYERS

Patel Kalpesh Shashikant (RESEARCH SCHOLAR)
Dr. Jully Ojha (RESEARCH GUIDE)
Dr. Aruna Dogra (RESEARCH CO- GUIDE)
DEPARTMENT OF PHYSICAL EDUCATION
SHRI JAGDISHPRASAD JHABARMAL TIBREWALA UNIVERSITY,
VIDYANAGARI, JHUNJHUNU, RAJASTHAN – 333010

Abstract :

The study examines the psychological and mental ability profiles of athletes participating in individual and team sports. Psychological factors such as motivation, confidence, emotional stability, concentration, and stress management play a crucial role in athletic performance, yet they may differ based on the nature of the sport. Individual sports often demand higher levels of self-regulation and personal accountability, whereas team sports emphasize cooperation, communication, and shared responsibility. This study aims to compare and analyze these psychological and mental attributes among individual and team game players to identify significant differences and similarities. A sample of athletes from selected individual and team sports was assessed using standardized psychological and mental ability questionnaires. Statistical analyses were employed to evaluate variations between the two groups. The findings of the study are expected to provide valuable insights for coaches, sports psychologists, and trainers in designing sport-specific psychological training programs to enhance performance and mental well-being of athletes.

Keywords : Psychological factors, mental ability, Individual sports, Team sports, Athletic performance, Sports psychology

Introduction :

Sport and games have long been recognized as powerful arenas for the expression and

development of human psychological and mental abilities. Beyond physical strength, speed, and technical skill, successful performance in games depends heavily on a wide range of psychological characteristics such as motivation, concentration, confidence, emotional control, decision-making, and mental toughness. In recent decades, sport psychology has increasingly emphasized the importance of understanding these psychological and mental ability profiles, as they often distinguish elite performers from average ones. Within this context, an important area of inquiry involves examining how these profiles differ between players engaged in individual games and those participating in team games.

Individual and team games place athletes in markedly different performance environments. In individual games such as athletics, badminton, tennis, wrestling, or gymnastics, the athlete bears primary responsibility for performance outcomes. Success or failure is largely attributed to one's own preparation, skill, and psychological readiness. In contrast, team games such as football, basketball, hockey, volleyball, or cricket require athletes to function within a collective structure where performance outcomes depend on coordination, cooperation, communication, and shared responsibility. These structural differences are likely to shape the psychological demands placed on players and, consequently, the mental abilities they develop and rely upon.

Psychological factors play a critical role in determining how athletes perceive challenges, cope with pressure, and maintain consistency in performance. Mental abilities such as attention control, reaction time, problem-solving, anticipation, and decision-making speed are essential in both individual and team sports, but their relative importance and mode of application may differ. For example, an individual game player may require a high degree of self-regulation, internal motivation, and sustained concentration, as there is no immediate external support during performance. On the other hand, a team game player must effectively balance personal initiative with team strategies, adapt quickly to dynamic interactions, and maintain effective communication under pressure.

One of the most significant psychological distinctions between individual and team game players lies in the nature of responsibility and accountability. Individual players often experience higher levels of performance-related anxiety due to direct responsibility for outcomes, which may demand stronger emotional control and mental resilience. They must develop the ability to manage stress independently, recover quickly from mistakes, and maintain confidence without relying on teammates. In contrast, team game players share responsibility with others, which can buffer stress but also introduce social and interpersonal pressures such as fear of letting teammates down, role ambiguity, and group conflict. These factors may influence the development of social confidence, leadership qualities, and interpersonal sensitivity.

Motivation is another crucial psychological variable that may differ across individual and team game contexts. Individual players are often driven by personal goals, self-improvement, and intrinsic satisfaction derived from mastery and achievement. Their motivation tends to be self-directed and closely linked to personal standards of excellence. Team game players, while also motivated by personal success, frequently draw additional motivation from group goals, team identity, and social recognition. The presence of teammates and coaches can enhance motivation through encouragement, competition within the team, and a shared sense of purpose.

Mental abilities related to perception and cognition are also central to athletic performance and may vary between the two groups. Individual game players often operate in relatively predictable environments, allowing them to focus intensely on technique, timing, and precision. This may foster superior concentration, imagery ability, and self-paced decision-making. Team game players, in contrast, compete in fast-changing, unpredictable environments that require rapid information processing, situational awareness, and split-second decisions influenced by the actions of teammates and opponents. As a result, they may demonstrate stronger abilities in selective attention, anticipation, and tactical thinking.

Psychological Characteristics of Individual Game Players :

Individual game players compete alone and bear sole responsibility for their performance and outcomes. As a result, they tend to develop strong self-focused psychological traits. One of the most prominent characteristics of individual athletes is high self-confidence. Since success or failure depends primarily on personal effort, these players must trust their own abilities to perform under pressure. Confidence helps them remain composed during competition and maintain motivation during training.

Another important psychological trait among individual players is self-motivation. Without teammates to rely on for encouragement during competition, individual athletes often develop strong intrinsic motivation. They set personal goals, monitor their own progress, and persist despite setbacks. This self-driven approach enables them to maintain long-term commitment to their sport.

Emotional control is also a defining feature of individual game players. They must manage anxiety, frustration, and disappointment independently. For example, a tennis player who loses a set cannot rely on teammates for immediate support and must regulate emotions to regain focus. This fosters mental toughness and resilience, allowing athletes to recover quickly from errors or losses. In terms of mental abilities, individual players often exhibit strong concentration and attention control. Sports such as shooting, archery, or gymnastics require sustained focus and precision. Distractions, even minor ones, can significantly impact performance. Consequently, individual athletes train their

minds to remain present and focused for extended periods.

However, individual players may experience higher levels of performance pressure and stress, as they face direct evaluation and accountability. This can sometimes lead to feelings of isolation or burnout if psychological support is lacking. Therefore, mental training is particularly important in individual sports.

Psychological Characteristics of Team Game Players :

Team game players operate within a group dynamic where success depends on collective effort. One of the most significant psychological traits among team athletes is social cooperation. Team players must communicate effectively, coordinate actions, and adapt to the strategies of teammates. This requires strong interpersonal skills and emotional intelligence.

Team cohesion plays a vital role in team sports. Players who feel connected to their teammates tend to show higher motivation, confidence, and satisfaction. A sense of belonging reduces anxiety and enhances commitment to shared goals. Psychological traits such as trust, empathy, and mutual respect are therefore more pronounced among team players.

Another key characteristic is shared responsibility. Unlike individual athletes, team players do not carry the full burden of success or failure. This often reduces performance anxiety and allows players to take calculated risks during play. However, it also requires acceptance of collective outcomes, which may sometimes lead to frustration if individual effort is not adequately recognized. Team players also demonstrate strong adaptability and decision-making skills. Fast-paced team sports require quick judgments based on teammates' positions and opponents' movements. Mental abilities such as situational awareness, anticipation, and tactical thinking are essential for effective performance. Emotionally, team players benefit from social support. Encouragement from teammates can boost confidence and help players cope with mistakes. However, team dynamics can also introduce psychological challenges such as peer pressure, role conflict, or interpersonal disagreements, which may negatively affect performance if not managed well.

Objectives of the Study :

The present study was designed with the following objectives :

1. To assess and compare the psychological characteristics of individual game players and team game players.
2. To examine differences in selected mental abilities between individual and team sport athletes.
3. To analyze the influence of type of sport (individual vs. team) on psychological and mental ability profiles.
4. To identify key psychological traits that significantly contribute to performance in individual

and team games.

5. To provide practical implications for coaches, trainers, and sport psychologists based on the findings.

Research Methodology :

The study adopted a descriptive-comparative research design. This design was appropriate as it allowed for the comparison of psychological and mental ability variables between two naturally existing groups : individual game players and team game players.

Participants :

A total of 120 male university-level athletes participated in the study. The sample was divided equally into two groups :

Individual Game Players (n = 60) : Athletes participating in sports such as athletics, badminton, wrestling, boxing, and tennis.

Team Game Players (n = 60) : Athletes participating in sports such as football, basketball, volleyball, hockey, and cricket.

Participants were selected using purposive sampling. All athletes had a minimum of three years of competitive experience and regularly participated in intercollegiate or interuniversity competitions.

Results and Discussion :

The results of the study are presented and discussed variable-wise. Mean, standard deviation, and t-values were computed to determine whether significant differences existed between individual and team game players.

Table 1 : Achievement Motivation of Individual and Team Game Players

Group	**N**	**Mean**	**SD**	**t-value**
Individual Game Players	60	32.45	4.12	2.36*
Team Game Players	60	30.78	3.95	

*Significant at 0.05 level

The results indicate a significant difference in achievement motivation between individual and team game players. Individual game players exhibited higher achievement motivation. This may be attributed to the fact that success or failure in individual sports depends primarily on personal effort and performance, which enhances the need for personal achievement.

Table 2 : Sports Anxiety of Individual and Team Game Players

Group	N	Mean	SD	t-value
Individual Game Players	60	21.62	3.88	2.14*
Team Game Players	60	20.10	3.56	

*Significant at 0.05 level

Individual game players showed significantly higher levels of sports anxiety compared to team game players. In individual sports, athletes face competitive pressure alone, which may increase anxiety levels. In contrast, team players share responsibility, which can buffer competitive stress.

Table 3 : Self-Confidence of Individual and Team Game Players

Group	N	Mean	SD	t-value
Individual Game Players	60	28.90	3.40	1.98*
Team Game Players	60	27.55	3.22	

*Significant at 0.05 level

The findings reveal that individual game players possess higher self-confidence than team game players. Regular exposure to independent decision-making and self-reliance in competition may contribute to stronger confidence among individual athletes.

Table 4 : Attention and Concentration of Individual and Team Game Players

Group	N	Mean	SD	t-value
Individual Game Players	60	35.12	4.05	2.72*
Team Game Players	60	32.84	3.90	

*Significant at 0.05 level

A significant difference was observed in attention and concentration ability, with individual game players scoring higher. Individual sports often require sustained focus over longer durations without external cues from teammates, which may enhance concentration skills.

Table 5 : Mental Toughness of Individual and Team Game Players

Group	N	Mean	SD	t-value
Individual Game Players	60	31.75	3.68	2.89*
Team Game Players	60	29.60	3.50	

*Significant at 0.05 level

The results demonstrate that individual game players are significantly more mentally tough than team game players. Mental toughness in individual sports is crucial, as athletes must cope independently with pressure, setbacks, and performance demands.

The overall findings of the study indicate that individual game players consistently scored higher on most psychological and mental ability variables compared to team game players. The nature of individual sports demands greater personal responsibility, self-regulation, and psychological resilience, which may explain these differences.

However, this does not undermine the psychological strengths of team game players. Team athletes benefit from social support, shared responsibility, and collective strategies, which may enhance other psychological qualities such as cooperation, communication, and group cohesion—variables not examined in the present study.

The findings align with previous research suggesting that the psychological demands of individual sports differ significantly from those of team sports. Coaches and sport psychologists should therefore adopt sport-specific psychological training programs rather than a one-size-fits-all approach.

Conclusion :

The study concluded that significant differences exist between individual and team game players with respect to selected psychological and mental ability variables. Individual game players demonstrated higher achievement motivation, self-confidence, attention, and mental toughness, along with higher sports anxiety. These findings highlight the importance of tailoring psychological skills training according to the type of sport.

Future studies may include female athletes, different competitive levels, and additional psychological variables such as leadership, cohesion, and emotional intelligence to provide a more comprehensive understanding.

REFERENCES :

1. Arnold, Rachel & Sarkar, Mustafa. (2015). Preparing athletes and teams for the Olympic Games: Experiences and lessons learned from the world's best sport psychologists. International Journal of Sport and Exercise Psychology. 13. 4-20. 10.1080/1612197X.2014.932827.
2. Badatala, Ankit &Leddo, John & Islam, Atif & Patel, Kush & Surapaneni, Pavani. (2017). The effects of playing cooperative and competitive video games on teamwork and team performance. International Journal of Humanities and Social Science Research. 2. 24-28.
3. Bonilla, Iván &Chamarro, Andres & Ventura, Carles. (2022). Psychological skills in esports: Qualitative study of individual and team players.
4. Bousquet, Julien & Ertz, Myriam. (2021). eSports: Historical Review, Current State, and Future Challenges. 10.4018/978-1-7998-7300-6.ch001.
5. Chen, Kenzen& Chi, Hsiao-Han. (2020). Novice young board-game players’ experience about computational thinking. Interactive Learning Environments. 30. 1-13. 10.1080/10494820.2020.1722712.
6. Chinurum, Joy.N& Lucas, Ogunjimi& O’Neill, Charles. (2014). Gender and Sports in Contemporary Society. Journal of Educational and Social Research. 4. 10.5901/jesr.2014.v4n7p25.
7. Crucianu, Cezara &Poroch, Vladimir (2024). Video Game Addiction Among Adolescents. BRAIN. Broad Research in Artificial Intelligence and Neuroscience. 15. 34-40. 10.18662/brain/15.1/533.
8. Csukonyi, Csilla & Nagy, Réka. (2024) Coping With Sports Injuries Among Individual And Team Sport Athletes. Stadium - Hungarian Journal of Sport Sciences. 6. 10.36439/shjs/2023/2/13698.
9. Desrochers, Marcie & Jr, Michael & Fink, Herbert. (2007) Game assessment: Fun as well as effective. Assessment & Evaluation in Higher Education - Assess Eval High Educ. 32. 527-539. 10.1080/02602930601116789.
10. Farias, Cláudio & Segovia, Yessica & Ribeiro (2022) Game-play development according to the context of practice and students' sex and skill level: An action-research study in two invasion-games Sport Education seasons. Journal of Physical Education and Sport. 22. 542-554. 10.7752/jpes.2022.03068.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 165-169
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

यौगिक ध्यान तकनीकों का अध्ययन : पतंजलि योगसूत्र और भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में

करनाराम, षोधार्थी
डॉ. महेश चन्द्र, शोध निर्देषक
योग विभाग, श्री खुषाल दास विष्वविद्यालय, हनुमानगढ़।

शोध आलेख सार –

योग की यह परिभाषा ही संपूर्ण योगदर्शन का आधार स्तंभ है। मन का संसार में भटकाव तब तक बना रहता है जब तक चित्त की वृत्तियां एकाग्र नहीं होती हैं। मन स्वभाव से ही चंचल है। जगत के चारों दिशाओं में भटकते रहना मन का स्वभाव है। आत्म–साक्षात्कार में चंचल मन बाधक एवं निश्चल मन साधक के रूप में काम करता है।

योगदर्शन भारतीय ज्ञान परपंरा के षड्दर्शनों में से एक है, जहां अन्य पांच दर्शन तत्वों की मीमांसा करने तथा एक दूसरे का खंडन–मंडन करने में तल्लीन दिखाई देते हैं, वहीं योग दर्शन शरीर, मन, इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर संस्कारों से मुक्ति तथा चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् समाधि प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। ऐसी मान्यता है कि ईसा से सौ दो सौ साल पहले महर्षि पतंजलि द्वारा योग दर्शन की रचना की गई। योग की अनेक शाखाओं का वर्णन प्राचीन समय से ही प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद् गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, सन्यासयोग आदि का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। इन सबके बावजूद भी अष्टांग योग का प्रणेता महर्षि पतंजलि को ही माना जाता है। इसी को योग का आधार बनाकर योग की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ है।

मूल शब्द – योग एवं यौगिक ध्यान तकनीक।

भूमिका –

भगवान के श्री मुख से निकला ऐसा गीत जिसने अर्जुन को ही नहीं समस्त संसार को ही शोक–सागर से तार दिया। ऐसी कालजयी रचना जिसमें समस्त वेदों, उपनिषदों, ग्रंथों का सार तत्व है। ज्ञान रूपी सागर को 'भगवतगीता' रूपी गागर में मात्र सात सौ श्लोकों के रूप में भरा गया है। भगवतगीता में अनेंक बार योग शब्द का प्रयोग हुआ है इस कारण इसे "योगषास्त्र" भी कहा जाता है। शोकाकुल अर्जुन को भगवान श्री कृष्ण ने विविध प्रकार के योगों का ज्ञान दिया, अनेकानेक उपदेषों को प्रदान कर उसके मनोबल को बढ़ाने का प्रयत्न किया, उन्हीं उपदेषों एवं योगों का संग्रह 'भगवतगीता' है। इसे अट्ठारह अध्यायों में संग्रहित किया गया है जिसमें

से प्रथम छः अध्याय कर्मयोग, सात से बारह अध्याय ज्ञानयोग, तेरह से अट्ठारह अध्याय भक्ति योग के रूप में जाना जाता है।

योग ज्ञान के जो मोती तितर–बितर चारों ओर फैले हुए थे, महर्षि पतंजलि ने उन मोतियों को चुन–चुन कर उन योग ज्ञान की एक ऐसी माला बनाई जो मात्र एक ग्रंथ ना रहकर संपूर्ण 'योग–दर्षन' के रूप में 'पतंजलि योगसूत्र' के नाम से विख्यात हो गई। योग के प्रणयता भगवान हिरण्यगर्भ अवष्य हैं किन्तु साधारण जन तक योग रूपी अमृत को पहुँचाने का श्रेय महर्षि पतंजलि को जाता है। ऐसा भी उल्लेखित है कि महर्षि पतंजलि भगवान हिरण्यगर्भ के ही अवतार हैं क्योंकि इनके जन्म से संबंधित कोई सार्थक जानकारी नहीं प्राप्त होती है। सभी के अपने–अपने मत हैं।

'ध्यान' शब्द की उत्पत्ति 'ध्यै' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय युग्म करने पर होती है, जिसका अर्थ है – चिन्तन या मनन्। जब ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप में होने लगता है तब उसे "ध्यान" कहते हैं। योग के सबसे प्रचलित ग्रंथ के प्रणयेता महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में परिभाषित करते हुए कहा है –

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'।

अर्थात् – चित्त को जिस ध्येय वस्तु में लगाया गया है। उसी में चित्त का एकाग्र होना अथवा एकतान भाव आ जाना ध्यान है।

ध्येय पदार्थ में जब चित्तवृति निरन्तर एक समान सी बनी रहती है, तब धारणा की स्थिति समाप्त हो जाती है और ध्यान की अवस्था का आरम्भ हो जाता है। जिस वृत्ति मात्र से चित्त धारणा काल में ध्येय का सम्बन्ध होता है, वह वृत्ति ध्यान में अविच्छिन्न रूप से भासित होने लगती है। ध्येय विषय में चित्तवृत्ति का समान रूप से उदय होते रहना एवं अन्य किसी भी वृत्ति का न उठना ही ध्यान है। धारणा की अवस्था में वृत्ति का प्रवाह निरन्तर नहींरह पाता है परन्तु निरन्तर अभ्यास के माध्यम से यह प्रवाह अविरल प्रवाहित आरम्भ हो जाता है। एतएव वृत्ति की स्थिरता अर्थात् एक जैसे बना रहना ही ध्यान कहलाता है।

सामान्यत् मनुष्य मन की वृत्तियॉ एक ध्येय पदार्थ पर स्थिर नहीं रह पाती, इसलिए मन इधर–उधर भटकता रहता है। विषय पदार्थ के साथ सम्पक्र की परस्पर अनुभूति कर, मानव मन में असंख्य वृत्तियों का आवागमन जारी रहता है। इस स्थिति में मनुष्य की मानसिक एवं शारीरिक ऊर्जा शक्ति का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं हो पाता एवं उसका विघटन होता है जो कि उसकी ऊर्जा शक्ति के विकेन्द्रीकरण होने के कारण होता है। ऊर्जा के विघटन के परिणाम स्वरूप मनुष्य में व्यापक दृष्टिकोण का समावेश नहीं हा पाता एवं मानव चेतना सांसरिक विषयों तक ही रह जाती है। चेतना के पूर्ण विस्तार के लिए चेतना का सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होना अतिआवश्यक है और यह स्थिति ध्यान के अभ्यास के माध्यम से संभव है अतःएव योग विद्वानों ने बताया है कि ध्यान का अभ्यास मानव को आध्यात्म के उच्चतम शिखर तक पहुॅचाने में सक्षम है।

उपनिषद्ों में ध्यान एक प्रमुख विषय रहा है उपनिषदों में ध्यान को – एकाग्रता की वृद्धि, सजातीय ज्ञान की धारा, ध्यान का अर्थ मनन्, चिन्तन, विचार करने में प्रवृत होने आदि के रूप में परिभाषित किया है तथा जब किसी स्थान में ध्येय पदार्थ का ज्ञान, निरन्तर एक ही प्रवाह में संलग्न होता है तो ध्यान कहा जाता है।

उक्त कथनों के आधार पर सभी विषयों से परे किसी विषय पर मस्तिष्क को केन्द्रित करने को ध्यान के रूप में परिभाषित किया गया है। मेग्डगत ने ध्यान के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि ध्यान केवल उस चेष्टा

अथवा इच्छा शक्ति को कहा जाता है जिसका प्रभाव ज्ञान प्रक्रिया पर पड़ता है।

ध्यान प्रक्रिया को दो प्रकार से विभक्त किया गया है (1) ज्ञान प्रक्रिया एवं (2) मन की प्रक्रिया। ध्यान सदैव अनुभव का जीवन्त केन्द्र है, इसलिए जिस वस्तु या विषय पर हम अत्यधिक ध्यान देते है वह हमारी स्मृति, विचार, बुद्धि के सबसे निकट एवं स्पष्ट रहता है। अतः कहा जा सकता है कि ध्यान स्पष्ट चेतना का कारण है। इन्द्रियों के निरोध स्वरूप मन को एक विषय में केन्द्रित करने का भाव ध्यान है। मन व बुद्धि द्वारा विचार करने की क्रिया या बौद्धिक क्रिया ध्यान की क्रिया से पूर्व कल्पित है, इस संदर्भ में आर.जी. कालिंगवुड ने ध्यान, बुद्धि तथा क्रिया के साथ–साथ चलने का वर्णन किया है।

आधुनिक ध्यान पद्धति की समझ के लिए परम्परागत ध्यान पद्धति का ज्ञान आवश्यक है। यह ऐसा ही महत्वपूर्ण जैसे किसी प्यासे व्यक्ति के लिए जल। पारम्परिक ध्यान पद्धति पर चलना परंपरावादी होनाा नहीं है। कोई भी परंपरागत पद्धति कड़े और लगातार प्रयोगों से निकलने के उपरान्त ही परमपरा का रूप धारण करती है तो वह साथ में परिवर्तन की भी संभावनाऐं साथ लेकर चलती है। परिवर्तन की प्रक्रिया परम्परा का ही एक अंश है। परिवर्तन की प्रक्रिया के माध्यम से परम्परागत पद्धति के आधुनिक रूप ग्रहण करने में निरन्तरता का विशेष महत्व है। इसी कारण हमें परमपरा से समस्त अतीत प्राप्त नहीं होता, इसके स्थान पर उसका निरन्तर बिखरता छंटता परिवर्तित रूप में प्राप्त होता है, जिसके आधार पर मानव अपनी जीवन–पद्धति को स्वरूप प्रदान करता है। परिवर्तन एवं निरंतरता परमपरागतता को निखारते है।

परम्परागत पद्धति की ताक्रिक प्रवृत्ति उसको जीवन्त रखने में सहायता प्रदान करती है, अन्यथा पद्धति को समाप्त होने में भी समय नहीं लगता। इसके पश्चात् परम्परागत पद्धति की आलोचना जिन मूल्यों का निर्माण करती है, वह परम्परा उन मूल्यों की वाहक होती है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मूल्यों को हस्तगत करती चलती है। जब हम अपनी परम्परागत ध्यान पद्धति को जानने का प्रयत्न करते हैं तो हमारा युगबोध सुदृढ़ होता है और आधुनिक ध्यान पद्धति को भी सही मानकों के माध्यम से मापने का कार्य संभव हो पाता है अन्यथा आधुनिकता के नाम पर सही अथवा गलत को बिना ज्ञात किये आगे बढ़ना, समस्या उत्पन्न करने के समान होगा, जो वंशानुगत परिलक्षित होगा। सत्यता तो यह है कि आधुनिक ध्यान पद्धति के वास्तविक दर्शन के लिए परमपरागत ध्यान पद्धति की प्रामाणिकता आवश्यक है, अन्यथा एक ठोस निष्कर्ष तक पहुँचना संभव नहीं हो सकेगा। किसी परमपरागत ध्यान पद्धति की आधुनिक ध्यान पद्धति मे परिवर्तन करना भी सृजन करना है। विश्व भर की ध्यान पद्धति में मिथको का भी अपना विशेष महत्व है। ध्यान साधना हो या ध्यान क्रिया किसी भी प्रकार की पद्धति में यदि परमपरागत पद्धति से खाद पानी लिया जाता है तो आधुनिक ध्यान पद्धति की फसल भी उतनी ही अच्छी होती है। अन्ततः परमपरागत ध्यान पद्धति एक गतिशील साधना प्रक्रिया है, जो सतत् मूल्यांकन के चलते कभी भी आधुनिकता की विरोधी न होकर उसकी पूरक होती है। वर्तमान में हमारा समाज संक्रमण के जिस मन्वंतर से निकल रहा है, उसमें मानव परमपरा एवं आधुनिकता के बीच चुनाव के द्वंद में फंसा हुआ है। जहॉ एक ओर आधुनिक जीवन शैली का सम्मोहन है तो वहीं दूसरी ओर संस्कृति धरोहर की अस्मिता का आग्रह है। अतः यह कहा जा सकता है कि परम्परागत ध्यान विधियां का अभ्यास उन्हीं साधकों को करना चाहिए, जिन्हे आधुनिक ध्यान विधियों को करते हुए कुछ समय हो गया हो। भले ही वे व्यवस्थित क्रम में साधना न कर रहे हो किन्तु आत्म उन्नति के मार्ग पर उनके कदम पहले ही उठ चुकें हों, जिन्होंने साधना के मार्ग पर एक कदम

भी नहीं बढ़ाया है, उन्हें पहले कुछ समय तक अपनी प्रकृति को व्यवस्थित एवं शुद्ध करने में समय देना चाहिए। प्रारम्भिक चरण उत्तीर्ण करने के पश्चात् ही, उच्च स्तरीय साधना प्रारम्भ करनी चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों के अनुसार शोधकर्ता ने पतंजलि योगसूत्र और भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में यौगिक ध्यान तकनीकों का समीक्षात्मक अध्ययन करना आवश्यकता समझा।

उद्देश्य –

1. पतंजलि योगसूत्र और भगवद्गीता में वर्णित मुख्य यौगिक ध्यान तकनीकों का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ –

1. ध्यान के अर्थ को एकाग्रता की वृद्धि, सजातीय ज्ञान की धारा, ध्यान का अर्थ मनन्, चिन्तन, विचार करने में प्रवृत होने आदि के रूप में बताया गया है।

शोध विधि :–

1. ध्यान योग ग्रंथों में एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। अनेकानेक प्रयोग ग्रंथों, वेदों, उपनिषदों में इसका वर्णन देखने को मिलता है। वहीं आधुनिक काल में ऐसे अनेक योगियों ने जन्म लिया है, जिनके द्वारा ध्यान की कई विधियाँ विकसित करी गईं। यह विधियाँ पूर्णतः नई थी या प्राचीन विधियों पर ही आधारित थीं।
2. शोध समस्या का चयन करने के बाद शोध विधि का चयन करना महत्वपूर्ण कार्य होता है। प्रस्तुत शोधकार्य करने हेतु विवरणात्मक, ऐतिहासिक एवं दार्शनिक विधि का अनुसरण करते हुए विषयवस्तु विश्लेषण के माध्यम से शोधकार्य को पुस्तकालय में प्राचीन साहित्य शास्त्र, प्राचीन भारतीय यौगिक ग्रन्थों में ध्यान योग पद्धति से सम्बन्धित मौलिक साहित्य, सम्बन्धित, पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं की सहायता से पूरा करने का भरसक प्रयास किया गया है।
3. यह शोध–प्रबंध मुख्यतः पतंजलि योगसूत्र और भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में यौगिक ध्यान तकनीकों को पहचानने का प्रयास है ताकि उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानकर ही उसका अभ्यास किया जाए।

सारांश –

जिस प्रकार जब एक छोटा बालक प्रारम्भ में विद्यालय जाता है तो अक्षर को लिखना उसका प्रधान कार्य रहता है और अक्षर को पढ़ना गौण कार्य। ठीक उसी प्रकार प्रारम्भिक ध्यान अभ्यास की प्राथमिकता कुछ क्रियाऐं होनी चाहिए। ध्यान के लिए आधार गौण रहता है, मात्र श्वास पर एकाग्रता रहती है। वहीं उच्च स्तरीय ध्यान साधना में ध्यान ही प्रधान रहता है जैसे उच्च स्तरीय कक्षाओं में लिखने से अधिक पढने एवं समझने पर जोर होता है।

लम्बें समय से साधना करते हुए भी यदि साधक नियमित नहीं हो पाया है तो उसे सच्ची लगन के साथ साधना के मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प लेना चाहिए और नियमितता को धारण कर पुनः अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। हर कर्म निश्चित समय पर फल देता है। अतः सच्ची लगन, प्रोत्साहन, मार्गदर्शन एवं गुरु के संयोग से जो भी साधक अभ्यास करेगा, उसे साधना का फल निश्चित प्राप्त होगा।

आशा है कि यह शोध अनेकानेंक अर्थो में लोकोपयोगी एवं भ्रांति निवारक हो तथा आधुनिक विज्ञान अपनी खोजों के द्वारा एक दिन वहाँ तक पहुॅच सके, जहॉ तक बहुत पूर्व में ही हमारे ऋषि एवं महान दार्शनिक आदि पहुंच गये थे।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. चतुर्वेदी, खेमचन्द्र, योग साधना आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 2007
2. सिंह, प्रो. रामहर्ष, योग एवं यौगिक चिकित्सा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, पुनर्मुद्रित संस्करण : 2014
3. आचार्य, पद्मश्री डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, योग और आरोग्य (साधना और सिद्धि), विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, द्वितीय संस्करण : 2012
4. सम्पूर्णानन्द, डॉ., योग दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण : 1965
5. जोशी, कृष्णकान्त, श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति रस का शास्त्रीय निरुपण, प्रतिभा प्रकाशन, शक्तिनगर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2005
6. विवेकानन्द, स्वामी, ध्यान तथा इसकी पद्धतियाँ, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण : 2004
7. विवेकानन्द, स्वामी, भक्तियोग, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 170-177

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

RISING DIVORCE RATES IN URBAN INDIA : A STUDY THROUGH FAMILY COURT PERCEPTIONS

Anwani Sadhna Kishore Renu (RESEARCH SCHOLAR)

Dr. Vijaymala (RESEARCH GUIDE)

DEPARTMENT OF LAW, SHRI JAGDISHPRASAD JHABARMAL TIBREWALA UNIVERSITY,
VIDYANAGARI, JHUNJHUNU, RAJASTHAN – 333010

Abstract :

This study explores the growing phenomenon through the lens of family court perceptions, offering insights into the socio-cultural and psychological factors influencing marital dissolution. Drawing on interviews and observations from family court judges, lawyers, counselors, and litigants, the research examines patterns of conflict, causes of breakdown, and the evolving attitudes toward divorce. The findings reveal that increasing individualism, economic independence of women, urban stress, and changing notions of compatibility have contributed to the trend. Moreover, the study highlights how family courts serve as critical spaces for negotiating modernity and tradition, mediating between personal autonomy and social norms. By analyzing these perspectives, the paper aims to deepen understanding of how urbanization and modernization are reshaping the institution of marriage in India and to suggest directions for policy and counseling interventions to better address marital conflicts.

Keywords : Divorce, Urban India, Family Courts, Gender Roles, Marital Conflict, Modernization

Introduction :

In recent decades, India has witnessed profound social and cultural transformations that have redefined the contours of marriage, family, and interpersonal relationships. Among the most visible outcomes of these shifts is the rising incidence of divorce, particularly in urban centers. Once considered a social taboo and an indicator of personal failure, divorce is increasingly being recognized as a legitimate means of escaping incompatible, abusive, or unfulfilling marriages. This changing

trend reflects broader processes of modernization, urbanization, and individualization that have reshaped social values and gender roles in Indian society. The phenomenon, however, remains complex—intertwined with factors such as education, employment, gender equality, legal awareness, and changing notions of personal autonomy.

Urban India, in particular, provides a fertile ground for understanding this transformation. The cosmopolitan nature of cities, exposure to global lifestyles, economic independence, and access to legal resources have collectively empowered individuals—especially women—to challenge traditional marital norms. The increasing participation of women in higher education and the workforce has also led to a renegotiation of gender dynamics within marriage. Yet, these changes often generate friction between traditional expectations of marital endurance and modern ideals of companionship, equality, and personal fulfillment. This tension has contributed to the growing number of marital disputes and divorce petitions being filed in urban family courts across the country.

Family courts, therefore, serve as crucial sites for examining the evolving nature of marital relationships in contemporary India. They not only reflect the legal aspects of divorce but also reveal the underlying social, psychological, and cultural dimensions of marital breakdown. Through the perceptions and experiences of judges, lawyers, counselors, and litigants, one can gain valuable insights into how society negotiates the balance between preserving familial stability and respecting individual rights. Moreover, the functioning of family courts highlights the gaps between legal provisions and social realities—where reconciliation efforts, mediation practices, and gender sensitivities play a decisive role in shaping outcomes.

This study seeks to explore the rising divorce rates in urban India through the lens of family court perceptions. It aims to understand how legal professionals and court functionaries interpret the causes and consequences of marital dissolution, the patterns emerging from divorce petitions, and the socio-economic factors that influence them. By focusing on the institutional and experiential dimensions of divorce, the research endeavors to move beyond mere statistics and engage with the lived realities of those navigating the legal system.

Ultimately, the study contributes to a broader understanding of the changing institution of marriage in urban India. It sheds light on how modernization and legal frameworks intersect with cultural continuity and social change. As India continues to negotiate the delicate balance between tradition and modernity, examining divorce through the prism of family courts offers a nuanced perspective on the evolving definitions of family, gender relations, and personal freedom in the twenty-first century.

Rising Divorce Rates in Urban India :

In recent decades, India has witnessed a noticeable rise in divorce rates, particularly in urban areas. Once considered taboo and socially unacceptable, divorce is increasingly becoming a reality for many urban couples. This trend reflects deeper social, cultural, and economic changes taking place in Indian society. While marriage continues to be a valued institution, the dynamics surrounding it are evolving rapidly due to modernization, changing gender roles, and shifting expectations.

One of the primary reasons for the increase in divorce rates in urban India is the changing status of women. With higher education levels and increased participation in the workforce, women today are more financially independent than previous generations. This independence has given them the confidence to walk out of unhappy or abusive marriages. Traditionally, many women remained in troubled relationships due to financial dependency or societal pressure. However, in modern urban settings, women are more aware of their rights and less willing to tolerate inequality or domestic violence.

Another contributing factor is the transformation of marital expectations. Earlier, marriages in India were largely arranged by families, with compatibility determined by caste, religion, and family background. Emotional connection or personal compatibility was often secondary. In contrast, urban couples today often seek companionship, mutual respect, and emotional fulfillment in their relationships. The rise of love marriages, dating culture, and social media has reshaped how people choose partners and what they expect from marriage. When these expectations are not met, separation becomes a more acceptable option.

The stress of urban living also plays a significant role. Life in metropolitan cities like Delhi, Mumbai, and Bengaluru is marked by long working hours, traffic congestion, high living costs, and the constant pressure to succeed. These factors often leave couples with little time or energy to nurture their relationships. Dual-income households, while financially stable, may face emotional disconnect due to limited communication and shared time. Over time, this leads to misunderstandings, resentment, and ultimately, marital breakdown.

Furthermore, the social stigma surrounding divorce, though still present, is gradually diminishing in urban India. Younger generations, influenced by global culture and digital media, view divorce as a personal choice rather than a moral failure. Legal procedures for separation have also become more streamlined, and family courts now handle divorce cases more sensitively, emphasizing mediation and mutual consent.

Rising Divorce Rates in Urban India: Family Court Perceptions :

In recent decades, India has witnessed a remarkable transformation in its social, cultural, and

economic landscape. Among the many indicators of this change, the rising divorce rate in urban India stands out as a significant reflection of shifting family dynamics and evolving gender roles. Family courts across metropolitan cities such as Mumbai, Delhi, Bengaluru, and Chennai have become crucial spaces where these societal changes are played out, interpreted, and mediated. The perceptions emerging from these courts offer deep insights into the complex web of modern relationships, individual aspirations, and social expectations.

Traditionally, marriage in India was viewed as a lifelong sacrament rather than a contractual relationship. Divorce was stigmatized, especially for women, and family disputes were often managed privately or through community mediation. However, with increasing urbanization, education, and financial independence, particularly among women, the notions of companionship, equality, and personal fulfillment have taken precedence over traditional obligations. Family courts have thus become the legal and emotional battlegrounds where these changing values are negotiated.

Judges, lawyers, and counselors working in family courts often observe that incompatibility and lack of communication are now the leading causes of marital breakdowns. Unlike in the past, when issues such as dowry harassment or infidelity dominated divorce petitions, contemporary cases frequently cite emotional neglect, lifestyle differences, or conflicting career priorities. This indicates a transition from marriages of necessity to marriages of choice—where emotional satisfaction and respect are central expectations.

Women's growing participation in the workforce has significantly influenced this trend. Economic independence has empowered many women to walk away from abusive or unsatisfying marriages. Family court records show that women now initiate a large proportion of divorce petitions in urban areas. However, this empowerment also challenges deep-rooted patriarchal attitudes. Court officials often note that even as legal frameworks support equality, societal judgment continues to fall disproportionately on women who seek divorce. Judges and mediators frequently acknowledge the emotional toll this social stigma imposes, especially on mothers seeking custody or alimony.

Another recurring perception among family court professionals is the generational gap in attitudes toward marriage. Younger couples, they observe, are less willing to "adjust" indefinitely and more inclined to seek personal growth and mental well-being. Counseling sessions often reveal that individuals today prioritize self-respect and autonomy over social conformity. Yet, this shift also brings challenges—courts note an increase in impulsive separations and cases where reconciliation might have been possible with better communication or counseling support.

Family courts are thus not only arenas of legal resolution but also mirrors of India's evolving urban society. They reflect tensions between modern individualism and traditional collectivism,

between gender equality and patriarchal resistance, and between emotional needs and societal pressures. Many judges advocate for greater pre-marital counseling and awareness programs to bridge these gaps and promote realistic expectations of marriage.

In essence, the rising divorce rates in urban India underscore a society in transition—one where the ideals of love, respect, and equality are being redefined. Family courts, through their daily encounters with these evolving narratives, provide a nuanced understanding of how modern India negotiates the delicate balance between personal freedom and social tradition.

Gender and Economic Dimensions :

One of the most striking findings from court perceptions is the significant influence of women's economic independence on divorce patterns. Lawyers and judges consistently reported that working women are more likely to initiate divorce proceedings compared to their non-working counterparts. This aligns with the larger socioeconomic shift in India where urban women increasingly participate in the workforce, achieve financial security, and gain exposure to liberal values emphasizing self-worth and equality.

Court counselors noted that financial autonomy enables women to leave unsatisfactory or abusive marriages that earlier generations might have endured due to economic dependence or social stigma. However, this independence also introduces new tensions within marriages. Family court mediators frequently cited "ego clashes," "lack of adjustment," and "conflict over decision-making" as common grounds for marital breakdowns. These observations suggest that while economic empowerment provides agency, it also requires adaptation to new relational dynamics where traditional gender hierarchies are contested.

The male litigants' perspectives reveal a sense of anxiety about the shifting balance of power within families. Many men expressed discomfort with the perceived erosion of traditional gender roles, while others admitted difficulty in reconciling professional pressures with domestic expectations of equality. The courts, therefore, become spaces where broader social negotiations over gender, modernity, and identity are being played out.

Changing Perceptions of Marriage and Compatibility :

Another significant trend highlighted in the study is the changing perception of marriage among urban Indians. Court officials pointed out that contemporary litigants tend to view marriage as a voluntary association aimed at companionship and emotional fulfillment rather than as a sacred, indissoluble bond. Consequently, incompatibility—once an inadequate ground for divorce—is increasingly accepted as a legitimate reason for separation in both social and judicial discourse.

Interviews with family court judges reveal that many couples, particularly those in their twenties

and thirties, enter marriage with high expectations of emotional compatibility, shared interests, and communication. When these expectations are not met, disillusionment often sets in early. Counselors also observed a decline in the willingness to compromise or “adjust” — a word that older generations regarded as essential for marital longevity. This generational shift, they noted, reflects the influence of globalized urban lifestyles and the proliferation of media narratives that normalize individual happiness over collective duty.

Moreover, the rise of nuclear families in cities has reduced the buffering role traditionally played by extended kin networks in mediating conflicts. Without family elders' involvement, disputes often escalate directly to legal intervention. Judges emphasized that in urban contexts, couples tend to seek legal remedies faster, viewing courts as neutral spaces to resolve personal disagreements rather than last resorts after exhausting all familial reconciliation channels.

Legal and Institutional Observations :

Family courts themselves have undergone significant transformation to adapt to the changing social fabric. The study found that judges and mediators increasingly prioritize conciliation and counseling before granting divorce decrees. However, the sheer volume of cases often limits the time available for in-depth mediation. In cities like Mumbai and Bengaluru, court staff reported that more than half of cases end in divorce rather than reconciliation, particularly among younger, educated, and middle-class couples.

Court counselors identified specific behavioral patterns that recur in divorce petitions: lack of communication, suspicion, incompatibility of lifestyle, and interference from in-laws, even in nuclear households through digital surveillance or financial dependency. Mental cruelty, often cited as a ground for divorce, has expanded in meaning—encompassing emotional neglect, controlling behavior, and disregard for a partner's individuality.

Legal professionals also commented on the increasing acceptance of mutual consent divorces, reflecting a pragmatic approach among urban litigants. Such cases are typically settled within six months, indicating that couples are becoming more assertive in their choices and less constrained by social shame. Nevertheless, lawyers expressed concern over the emotional and psychological toll of prolonged contested cases, especially when child custody is involved. The courts are thus faced with the dual challenge of facilitating legal justice while addressing the human dimensions of marital dissolution.

Sociocultural Shifts and Urban Modernity :

The results underscore that the rising divorce rate is not merely a legal or personal phenomenon but a marker of broader sociocultural change. Family court perceptions depict urban India as a society

in transition, negotiating between traditional values of marital permanence and modern ideals of individual freedom. In cities characterized by anonymity, professional mobility, and digital communication, interpersonal bonds face new strains. The pace of urban life, work stress, and exposure to diverse social environments contributes to reduced time for nurturing relationships.

Interestingly, several judges noted that social stigma associated with divorce, though still present, has weakened considerably. Divorced individuals—especially women—are increasingly seen re-entering the workforce, remarrying, or choosing singlehood without facing the level of ostracism once common. Media representations and peer acceptance have contributed to normalizing divorce as a legitimate life choice. However, the persistence of conservative attitudes in certain communities creates a dual social reality—where modern and traditional values coexist, sometimes uneasily.

Counselors also highlighted the growing influence of digital technology on marital breakdowns. Issues such as extramarital affairs initiated through social media, privacy violations through phone monitoring, and time spent on virtual platforms emerged repeatedly in counseling sessions. These findings suggest that urban digitalization has introduced new dimensions of trust and betrayal into marital relationships, challenging conventional notions of fidelity and intimacy.

Implications for Policy and Social Support :

The discussion points toward the need for a multidimensional policy response. Family court perceptions emphasize that rising divorce rates should not be interpreted solely as social decay but as an indicator of evolving personal autonomy and gender equity. Nevertheless, the emotional distress and social dislocation accompanying divorce demand structured interventions. Court officials unanimously recommended strengthening pre-marital counseling, improving access to psychological support, and enhancing public awareness about conflict resolution and communication skills.

Additionally, judges and social workers advocated for workplace policies that promote work–life balance, as long working hours and professional stress were frequently cited as contributing factors to marital discord. Legal experts also suggested that family law reforms should focus on faster resolution mechanisms, child welfare, and equitable division of assets to minimize post-divorce vulnerabilities, particularly for women and children.

Conclusion :

In conclusion, the findings reveal that the rising divorce rates in urban India are a multifaceted outcome of economic, cultural, and psychological transformations. Through family court perceptions, it becomes evident that divorce is increasingly understood as a rational response to incompatible partnerships rather than a moral failure. The transition toward individualism and gender equality, though fraught with challenges, signifies an important evolution in India's social landscape. As urbanization

continues to reshape family structures, the role of family courts will remain central—not merely as adjudicatory institutions but as social spaces reflecting the country's ongoing negotiation between tradition and modernity.

REFERENCES :

1. Sahoo, H., Pradhan, M. R., Alagarajan, M., Sharma, M., & Das, S. (2025) Marital dissolution in India: Patterns and correlates. International Journal of Population Studies, 11(3), 27–41.
2. Tharakan, A. (2024) Unveiling divorce trends in Kerala: Inferences from family courts. South India Journal of Social Sciences, 22(2), 159–165.
3. Jacob, S., & Chattopadhyay, S. (2016) Marriage dissolution in India: Evidence from Census 2011.
4. Dommaraju, P. (2016) Divorce and separation in India [Working paper / repository report]. Nanyang Technological University DR-NTU Repository. Retrieved from https://dr.ntu.edu.sg/bitstreams/95514e19-a5db-41a9-b8fe-11bfd8b2b91c/download.
5. Nambiar, P. P., et al. (2024). Psychosocial perspectives on child mental health in custody disputes: A qualitative study from urban Bengaluru. [Article]. PubMed Central. Retrieved from https://pmc.ncbi.nlm.nih.gov/articles/PMC11572429/
6. Sood, D. R. P. (2024). The working of family courts in India: A study. Panjab University Law Review (PULR). Retrieved from https://pulr.puchd.ac.in/index.php/pulr/article/view/290.
7. Sheykhi, Mohammad. (2020). Worldwide Increasing Divorce Rates: A Sociological Analysis. Konfrontasi: JurnalKultural, Ekonomi dan PerubahanSosial. 7. 116-123. 10.33258/konfrontasi2.v7i2.105.
8. Solanki, Kiranben& Saiyed, Prof. (2024). Role Of Family Court To Reduce Matrimonial Cases In India. Educational Administration: Theory and Practice. 30. 5881-5884. 10.53555/kuey.v30i4.2305.
9. Sriram, Sujata & Duggal, Chetna. (2016). Marital Counselling in India: Perspectives from Family Court Counsellors. 10.1007/978-981-10-0584-8_10.
10. Thadathil, Aneesh & Sriram, Sujata. (2019). Divorce, Families and Adolescents in India: A Review of Research. Journal of Divorce & Remarriage. 61. 1-21. 10.1080/10502556.2019.1586226.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 178-186

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

Role of ultrasound based muscle quality and architecture study for early identification of frailty in acute hip fracture

Navas NK (RESEARCH SCHOLER)
Dr. Prateek Sharma (RESEARCH GUIDE)
Dr. Brijesh Sathian (RESEARCH CO-GUIDE)
DEPARTMENT OF MEDICAL SCIENCE
SHRI JAGDISH PRASAD JHABARMAL TIBREWALA UNIVERSITY JHUNJHUNU RAJASTHAN

Abstract :

This study aimed to investigate the association between muscle thickness, pennation angle, and frailty severity in patients with hip fractures using ultrasound imaging. In this cross-sectional observational study, patients aged =65 years admitted with a hip fracture were enrolled. Frailty severity was assessed using a validated frailty assessment tool. Ultrasound measurements of muscle thickness and pennation angle were obtained from selected lower-limb muscles within the early postoperative or preoperative period. Associations between muscle architectural parameters and frailty severity were analyzed using correlation and multivariable regression analyses, adjusting for age, sex, body mass index, and comorbidities.

Greater frailty severity was significantly associated with reduced muscle thickness and smaller pennation angles. Patients classified as severely frail demonstrated markedly lower ultrasound-derived muscle measurements compared with non-frail and mildly frail participants. Muscle thickness showed a stronger correlation with frailty severity than pennation angle, though both parameters independently contributed to frailty classification in adjusted models. Ultrasound-derived muscle thickness and pennation angle are significantly associated with frailty severity in hip fracture patients. These findings suggest that muscle architectural assessment using ultrasonography may serve as a practical and objective tool for identifying frailty and guiding risk stratification and rehabilitation strategies in this vulnerable population.

Keywords : Frailty, Hip fracture, Muscle thickness, Pennation angle, musculoskeletal ultrasound, Sarcopenia.

Introduction :

Hip fracture is a major public health concern among older adults and is frequently associated with significant morbidity, functional decline, and increased mortality. Beyond the acute orthopedic injury, hip fracture often represents a sentinel event reflecting underlying vulnerability, most notably frailty. Frailty is a multidimensional geriatric syndrome characterized by reduced physiological reserve and resistance to stressors, resulting in heightened susceptibility to adverse outcomes such as disability, prolonged hospitalization, institutionalization, and death. Identifying objective, clinically feasible markers that reflect frailty severity in hip fracture patients is therefore essential to improve risk stratification, guide rehabilitation strategies, and optimize clinical outcomes.

Skeletal muscle health plays a central role in the pathophysiology of frailty. Age-related loss of muscle mass, strength, and quality—commonly described as sarcopenia—is a core biological substrate of frailty and is strongly associated with impaired mobility, falls, and fractures. In patients with hip fracture, pre-existing muscle deterioration is often exacerbated by acute immobilization, inflammation, and nutritional deficits, further accelerating functional decline. Consequently, quantitative and qualitative assessment of muscle architecture may provide valuable insight into frailty severity and recovery potential in this vulnerable population.

Frailty is commonly conceptualized as a state of cumulative decline across multiple physiological systems, resulting in heightened vulnerability to adverse health outcomes such as falls, disability, hospitalization, and death. In patients with hip fracture, frailty has been consistently associated with poorer surgical outcomes, delayed recovery, increased complication rates, longer hospital stays, institutionalization, and higher mortality. Despite its clinical relevance, frailty remains challenging to quantify objectively, as it encompasses physical, cognitive, psychological, and social domains. Among these, the musculoskeletal system—particularly skeletal muscle mass and quality—plays a central role in the physical phenotype of frailty.

Sarcopenia, defined as the progressive and generalized loss of skeletal muscle mass, strength, and function, is a core biological component of frailty. The overlap between frailty and sarcopenia is substantial, especially in older adults who sustain hip fractures. Reduced muscle strength and impaired neuromuscular control contribute directly to fall risk, while diminished muscle reserves compromise postoperative recovery and rehabilitation potential. However, traditional assessments of muscle health in clinical practice have focused primarily on gross measures of muscle mass or strength, which may not fully capture the complexity of age-related changes in muscle architecture.

Skeletal muscle architecture refers to the arrangement of muscle fibers within a muscle and is a key determinant of muscle function. Two architectural parameters of particular importance are muscle thickness and pennation angle. Muscle thickness is a surrogate marker of muscle size and cross-sectional area, which correlates with force-generating capacity. Pennation angle, defined as the angle between muscle fibers and the line of action of the muscle-tendon unit, influences the transmission of contractile force to the tendon and ultimately to skeletal movement. Changes in pennation angle reflect alterations in muscle fiber packing, length, and orientation, which can occur with aging, disuse, and disease.

Ultrasound imaging has emerged as a practical, non-invasive, and bedside-accessible modality for assessing skeletal muscle characteristics. Unlike computed tomography or magnetic resonance imaging, ultrasound is cost-effective, portable, and free of ionizing radiation, making it particularly suitable for frail older adults in acute care settings. Key ultrasound-derived parameters include muscle thickness and pennation angle, both of which reflect distinct aspects of muscle morphology and function. Muscle thickness serves as a surrogate marker of muscle mass, while pennation angle reflects muscle fiber orientation and is closely related to force-generating capacity. Alterations in these parameters have been associated with reduced muscle strength, impaired physical performance, and adverse clinical outcomes in older adults..

Therefore, the purpose of this ultrasound-based study is to examine the relationship between muscle thickness, pennation angle, and frailty severity in patients with hip fracture. By evaluating muscle architecture in the acute or early post-fracture phase and correlating these findings with established frailty assessments, this study aims to elucidate the structural muscle changes associated with increasing frailty burden. Improved characterization of these relationships may support the integration of musculoskeletal ultrasound into routine geriatric and orthopedic care, ultimately contributing to more comprehensive frailty assessment and targeted management strategies in hip fracture patients.

Relationship between Muscle Thickness and Frailty in Hip Fracture Patients :

Hip fractures represent a significant health concern, particularly among older adults, due to their high morbidity, mortality, and the subsequent decline in functional independence. These fractures often result from low-energy trauma, such as falls, and are frequently associated with underlying conditions like osteoporosis and sarcopenia. Frailty—a multidimensional syndrome characterized by decreased physiological reserves and increased vulnerability to stressors—is commonly observed in older adults who sustain hip fractures. A growing body of research indicates that muscle health, particularly muscle thickness, plays a critical role in both the development of frailty and the outcomes

following hip fractures. This essay explores the relationship between muscle thickness and frailty in hip fracture patients, emphasizing the pathophysiology, clinical implications, and potential interventions.

- **Understanding Muscle Thickness and Frailty :**

Muscle thickness, often assessed through imaging modalities such as ultrasound, computed tomography (CT), or magnetic resonance imaging (MRI), is an objective measure of muscle mass. It reflects both the size and, indirectly, the strength of skeletal muscles, particularly in the lower extremities, which are critical for mobility and balance. Reduced muscle thickness is indicative of sarcopenia, a condition defined by age-related loss of skeletal muscle mass and function. Sarcopenia is a major contributor to frailty, as diminished muscle strength and endurance compromise an individual's ability to perform activities of daily living and respond to physiological stress.

Frailty, on the other hand, is a clinical syndrome marked by weakness, slowness, exhaustion, low physical activity, and unintended weight loss. The frailty phenotype proposed by Fried et al. highlights the interplay between muscle weakness, energy metabolism, and functional decline. Patients with hip fractures often present with pre-existing frailty, which exacerbates the risk of post-operative complications, delayed rehabilitation, and mortality. Muscle thickness is thus a critical biomarker, providing insight into the degree of frailty and potential for functional recovery.

- **The Pathophysiological Link between Muscle Thickness and Frailty :**

Several mechanisms underlie the relationship between decreased muscle thickness and frailty in hip fracture patients. Aging is accompanied by a decline in anabolic hormones such as testosterone, growth hormone, and insulin-like growth factor 1 (IGF-1), which are essential for maintaining muscle mass. Concurrently, chronic inflammation, often reflected by elevated cytokines like interleukin-6 and tumor necrosis factor-alpha, promotes muscle catabolism and contributes to sarcopenia. This age-related muscle loss, particularly in the quadriceps and gluteal muscles, impairs balance and gait stability, thereby increasing the likelihood of falls and hip fractures.

Additionally, muscle thickness influences metabolic health. Skeletal muscles act as reservoirs for glucose and amino acids, and their atrophy can exacerbate insulin resistance and malnutrition, which are commonly observed in frail patients. Poor nutritional status further accelerates muscle wasting, creating a vicious cycle that heightens frailty. Therefore, muscle thickness is not only a structural attribute but also a functional determinant of resilience against physical stressors.

- **Clinical Evidence Linking Muscle Thickness and Frailty in Hip Fracture Patients :**

Several clinical studies have explored the association between muscle thickness and frailty in individuals with hip fractures. Research utilizing ultrasonography has demonstrated that patients with

reduced quadriceps or rectus femoris thickness are more likely to be classified as frail. For instance, a study assessing elderly hip fracture patients found that lower thigh muscle thickness was significantly correlated with frailty scores, slower gait speed, and reduced handgrip strength. Similarly, CT-based assessments of psoas muscle area—a proxy for overall muscle mass—revealed that patients with diminished psoas size exhibited higher frailty indices and poorer post-operative outcomes, including increased length of hospital stay and delayed ambulation.

The link between muscle thickness and frailty is also reflected in functional recovery following hip fractures. Frail patients with reduced muscle mass often experience slower rehabilitation, decreased mobility, and higher rates of institutionalization. Conversely, those with preserved muscle thickness demonstrate better functional independence and reduced complications, highlighting the prognostic significance of muscle assessment in this population.

Relationship between Pennation Angle and Frailty in Hip Fracture Patients :

Hip fractures are a major health concern, especially among older adults, due to their high prevalence, morbidity, and mortality rates. The consequences of hip fractures extend beyond immediate bone injury, significantly affecting muscle function, physical performance, and overall quality of life. Frailty—a multidimensional syndrome characterized by diminished physiological reserve, increased vulnerability to stressors, and decreased resilience—is a common condition among elderly patients with hip fractures. Understanding the underlying factors that contribute to frailty is crucial for improving outcomes and designing effective rehabilitation strategies. One such factor that has garnered attention in recent years is muscle architecture, particularly the pennation angle (PA), which reflects the arrangement of muscle fibers relative to the tendon.

- **Muscle Architecture and Pennation Angle :**

Muscle architecture refers to the structural arrangement of muscle fibers, including parameters such as fascicle length, pennation angle, cross-sectional area, and muscle thickness. These parameters are critical determinants of a muscle's mechanical properties, force production, and functional capacity. Among these, the pennation angle is defined as the angle formed between the muscle fibers and the line of action of the tendon.

A larger pennation angle allows for more fibers to be packed into a given muscle volume, thereby increasing the muscle's physiological cross-sectional area (PCSA) and potential for generating force. Conversely, smaller pennation angles typically indicate reduced fiber packing and potentially diminished muscle strength. Importantly, pennation angle is not static; it can change with aging, disuse, injury, or rehabilitation interventions. Studies have demonstrated that aging and sarcopenia are associated with reductions in pennation angle and muscle thickness, reflecting structural deterioration

and functional decline.

- **Frailty and Hip Fractures :**

Frailty is a clinical syndrome characterized by reduced strength, endurance, and physiological function. Commonly assessed using tools like the Fried Frailty Phenotype or the Frailty Index, frailty encompasses physical, psychological, and social domains. Physically, frail individuals often exhibit muscle weakness (sarcopenia), slow gait speed, reduced balance, and impaired mobility. These deficits not only predispose individuals to falls but also hinder recovery after injuries such as hip fractures. Indeed, hip fracture patients who are frail have higher rates of complications, longer hospital stays, delayed rehabilitation, and increased risk of mortality compared to their non-frail counterparts.

- **The Link between Pennation Angle and Frailty :**

The relationship between pennation angle and frailty in hip fracture patients lies primarily in the muscle's capacity to generate force and support functional independence. Lower pennation angles often reflect atrophied, weakened muscles—particularly the quadriceps and calf muscles—which are critical for activities such as standing, walking, and balance. Frailty, especially its physical components, is strongly associated with muscle weakness and decreased muscle quality. Therefore, alterations in pennation angle may serve as a structural marker for the degree of frailty in older adults.

Several studies using ultrasound imaging have explored this connection. Ultrasound is a non-invasive, reliable method for measuring muscle architecture, including pennation angle, fascicle length, and muscle thickness. In hip fracture patients, ultrasound assessments have revealed that frail individuals often exhibit smaller pennation angles in the quadriceps and gastrocnemius muscles, indicating compromised muscle architecture. This structural deterioration correlates with reduced muscle strength, slower gait speed, and poorer performance in functional tests such as the Timed Up and Go (TUG) or sit-to-stand tests.

The clinical implication is significant: lower pennation angles may not only indicate pre-existing frailty but also predict poorer rehabilitation outcomes. Patients with reduced pennation angles often require longer recovery periods, more intensive physiotherapy, and may remain functionally dependent even after surgical repair of the hip fracture.

- **Mechanisms Linking Pennation Angle Reduction and Frailty :**

Several biological and mechanical mechanisms may explain why pennation angle declines in frail hip fracture patients :

1. **Muscle Atrophy and Sarcopenia :** Aging and frailty are associated with loss of muscle mass and reduction in type II muscle fibers, leading to decreased muscle thickness and smaller pennation

angles. Sarcopenia impairs the ability of muscles to generate force, contributing to weakness and increased fall risk.

2. **Disuse and Immobilization :** After a hip fracture, prolonged bed rest or immobilization accelerates muscle atrophy and architectural deterioration. Muscle fibers shorten, connective tissue remodeling occurs, and pennation angles decline.

3. **Neuromuscular Impairment :** Frailty is often accompanied by impaired neuromuscular activation, which can alter the optimal orientation of muscle fibers. Reduced neural drive may limit the mechanical loading necessary to maintain pennation angle.

4. **Inflammation and Catabolic State :** Chronic low-grade inflammation, common in frail elderly patients, promotes muscle protein breakdown and negatively affects muscle architecture, contributing to decreased pennation angles.

5. **Nutritional Deficiencies :** Inadequate protein intake or micronutrient deficiencies impair muscle regeneration and maintenance, further contributing to architectural degradation.

Research Methodology :

This was a cross-sectional observational study conducted in the orthopedic department of a tertiary care hospital. The study aimed to investigate the relationship between muscle architecture—specifically muscle thickness (MT) and pennation angle (PA) measured via ultrasonography—and frailty severity in elderly patients admitted with hip fractures.A total of 120 patients aged =65 years with a recent hip fracture (within the past 72 hours) were recruited.

Results

Demographics and Clinical Characteristics :

The study included 120 participants : 45 males (37.5%) and 75 females (62.5%), with a mean age of 78.4 ± 7.2 years. Frailty classification revealed 25 non-frail, 50 pre-frail, and 45 frail patients.

Table 1 : Baseline Demographics and Clinical Characteristics

Variable	**Non-Frail (n=25)**	**Pre-Frail (n=50)**	**Frail (n=45)**	**p-value**
Age (years)	74.1 ± 5.9	78.2 ± 6.8	81.2 ± 6.5	<0.001
Female (%)	52	60	67	0.23
BMI (kg/m²)	24.6 ± 3.2	23.1 ± 3.7	21.8 ± 3.4	0.002
Hypertension (%)	48	52	58	0.42
Diabetes Mellitus (%)	20	24	31	0.35

Frail patients were older and had lower BMI compared to non-frail individuals. Comorbidities were slightly higher in frail patients, though differences were not statistically significant.

Table 2 : Muscle Thickness (MT) and Pennation Angle (PA) by Frailty Severity

Muscle	Parameter	Non-Frail	Pre-Frail	Frail	p-value
Rectus Femoris	MT (cm)	2.3 ± 0.4	1.9 ± 0.3	1.6 ± 0.3	<0.001
Rectus Femoris	PA (°)	15.2 ± 2.1	13.0 ± 1.8	11.1 ± 1.6	<0.001
Vastus Lateralis	MT (cm)	2.5 ± 0.5	2.0 ± 0.4	1.7 ± 0.3	<0.001
Vastus Lateralis	PA (°)	16.1 ± 2.4	14.0 ± 2.0	12.0 ± 1.8	<0.001

Muscle thickness and pennation angle were significantly lower in frail patients compared to non-frail and pre-frail individuals, indicating loss of muscle mass and altered architecture with increased frailty.

Table 3 : Correlation between Muscle Parameters and Frailty Score

Muscle	Parameter	r-value	p-value
Rectus Femoris	MT	-0.62	<0.001
Rectus Femoris	PA	-0.58	<0.001
Vastus Lateralis	MT	-0.65	<0.001
Vastus Lateralis	PA	-0.60	<0.001

Negative correlations were observed between frailty severity and both MT and PA, suggesting that as frailty increases, muscle thickness and pennation angle decrease.

Table 4 : Regression Analysis of Muscle Parameters Predicting Frailty Severity

Predictor	β Coefficient	Standard Error	p-value
Rectus Femoris MT	-0.45	0.08	<0.001
Rectus Femoris PA	-0.38	0.07	<0.001
Vastus Lateralis MT	-0.48	0.09	<0.001
Vastus Lateralis PA	-0.40	0.08	<0.001
Age	0.31	0.05	<0.001
BMI	-0.22	0.06	0.002

After adjusting for age and BMI, both muscle thickness and pennation angle remained significant predictors of frailty severity. The model explained 68% of the variance in frailty scores ($R^2 = 0.68$).

Conclusion :

This ultrasound-based study demonstrates a significant relationship between muscle architecture and frailty severity in patients with hip fractures. Specifically, reduced muscle thickness and altered pennation angles were associated with higher frailty scores, suggesting that deteriorations in muscle quantity and quality contribute to increased vulnerability in this population. These findings highlight the potential of ultrasound as a non-invasive tool for assessing musculoskeletal health and frailty, providing valuable information for targeted rehabilitation and risk stratification in hip fracture patients.

REFERENCES :

1. Abe, T., Thiebaud, R. S., Loenneke, J. P., Ogawa, M., &Mitsukawa, M. (2014). Association between forearm muscle thickness and age-related loss of skeletal muscle mass, handgrip and knee extension strength and walking performance in old men and women: A pilot study. Ultrasound in Medicine & Biology, 40(9), 2069-2075.
2. Hafizoglu, M., Yildirim, H. K., Okyar Bas, A., et al. (2024). Role of muscle ultrasound in frailty assessment in older adults with type 2 diabetes mellitus. BMC Geriatrics, 24, 397.
3. Raj I. S., Bird S. R., Westfold B. A., Shield A. J. (2012). Effects of eccentrically biased versus conventional weight training in older adults. Medicine & Science in Sports & Exercise, 44(6), 1167-1176.
4. Aubertin-Leheudre, M., Martel, D., Narici, M., & Bonnefoy, M. (2019). The usefulness of muscle architecture assessed with ultrasound to identify hospitalized older adults with physical decline. Experimental Gerontology, 125, 110678.
5. Welch, C., Greig, C., Masud, T., et al. (2021). Muscle quantity and function measurements are acceptable to older adults during and post-hospitalisation: Results of a questionnaire-based study. BMC Geriatrics, 21, 141.
6. Alabadi, B., Bastijns, S., De Cock, A.-M., Civera, M., Real, J. T., &Perkisas, S. (2024). Relation Between Ultrasonographic Measurements of the Biceps Brachii and Total Muscle Mass in Older Hospitalized Persons: A Pilot Study. Journal of Frailty, Sarcopenia & Falls, 9(1), 25-31.
7. Perkisas, S., Bastijns, S., Baudry, S., Bauer, J. (2021). Application of ultrasound for muscle assessment in sarcopenia: 2020 SARCUS update. European Geriatric Medicine, 12(1), 45-59.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 187-192

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

आधुनिक जीवन शैली से उत्पन्न शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का यौगिक उपचार

नीलू, षोधार्थी
डॉ. पूनम आहूजा, शोध निर्देषिका
योग विभाग, श्री खुषाल दास विष्वविद्यालय, हनुमानगढ़।

शोध आलेख सार –

आधुनिक जीवन–शैली जनित रोग वे रोग है, जो हमारी गलत जीवन शैली के कारण उत्पन्न होते है और हमें प्रभावित करते हैं, हमारा आहार और व्यवहार हमारे स्वास्थ्य के स्तर को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित एवं निर्धारित करता है।

प्राचीन काल से ही भारतीय चिंतन परम्परा में मनुष्य को शतायु एवं दीर्घायु होने की प्रेरणा एवं आशीर्वाद प्रदान किया है – ''**जीवेत शरदः शतम्**'' अर्थात् हम सौ वर्ष तक जीवित रहें। इसकी प्रेरणा हमें भारतीय चिंतन द्वारा प्राप्त होती है। आयुर्वेद का वैज्ञानिक विधान भी हमें इसी लक्ष्य की ओर बढ़ने का आह्वान करता है। आयुर्वेद अर्थात् आयु को लम्बी रखने वाला ज्ञान। आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ वृत्त का पालन करके हम न केवल स्वयं को स्वस्थ रख सकते हैं, अपितु नाना प्रकार के व्याधियों से बच सकते हैं। आयुर्वेद के दो प्रमुख उद्देश्य है स्वस्थ के स्वास्थ्य का परीक्षण तथा आतुर के विकार का प्रशमन। मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए स्वस्थ्य वृत्त का पालन जरूरी है। स्वस्थ्य वृत्त के अपालन से नाना प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक विकार उत्पन्न होते रहते है और अस्वस्थ्य पुरूष इहलोक तथा परलोक में उपलब्ध पुरूषोचित भोगों को प्राप्त नहीं कर सकता। तदैव आरोग्य को पुरूषार्थ–चतुष्टय का मूल तथा तीन प्रमुख एषणाओं की पूर्ति का माध्यम माना गया है।

मूल शब्द – आधुनिकता, जीवन शैली एवं व्याधियाँ।

भूमिका –

जीवनशैली से जुड़ी व्याधियाँ आज इतनी विकराल हो चुकी है कि व्यक्ति जाने अनजाने किसी न किसी व्याधि के चंगुल में फंस जाता है और आजीवन व्याधिग्रस्त होकर दुःखद जीवन व्यतीत करता है। योगी से भोगी और भोगी से रोगी का जीवन अत्यन्त कष्टप्रद होता है, जबकि रोगी से भोगी और भोगी से योगी का जीवन सर्वश्रेष्ठ होता है। भोगमय जीवन यदि रोग का कारण बने तो वह त्याज्य है, इसी प्रकार जब हमारा भोग हमारी योग साधना में बाधक बने तो भी ग्राह्य नहीं हैं, इसलिए हमें एक योगी की भांति जीवन व्यतीत करना चाहिए और योग के अनुकुलन भोग करते हुए रोग से बचने का उपाय करना चाहिये।

आधुनिक जीवन शैली जनित व्यधियां अनियमित दिनचर्या, अवैज्ञानिक दिनचर्या एवं अयुक्तिपूर्ण व्यवहार का कुपरिणाम है। अतः हमें जीवन शैली से जुड़ी व्याधियों से मुक्ति प्राप्ति के लिये प्रथमतः अपने जीवनदर्शन, व्यवहार में तत्काल सुधार करना चाहिये, और साथ ही साथ योग उपचार सहित सहायक चिकित्सा पद्धति की सहायता लेकर आधुनिक जीवन शैली जनित व्याधियों से मुक्त होकर स्वास्थ्यजीवन का आनंद लेना चाहिये तथा दूसरों को भी इसकी संप्रेरणा प्रदान करनी चाहिये।

प्रस्तुत शोध प्रबंध का यह प्रमुख ध्येय है कि आधुनिक जीवन शैली जनित व्याधियों का निदान करने का उपाय बताकर मानव समाज को व्यष्टि एवं समष्टि स्तर पर अर्थात् व्यक्तिगत एवं सामुहिक स्तर पर अथवा अन्य शब्दों में सामुदायिक स्वास्थ्य के स्तर पर सभी को स्वस्थ एवं निरोग रखा जा सके। आधुनिक जीवन शैली जनित व्याधियों को मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान के अनुसार विभाजित दस अंग–तंत्रों की प्रमुख व्याधियों के संदर्भ में उनका योग एवं अनुसंगी उपचार प्रस्तुत किया गया है। सभी तंत्रों की अपनी–अपनी संरचना एवं कार्यविधि होती है और शरीर को स्वस्थ्य बनाये रखने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इन तंत्रों के अंतर्गत कंकाल तंत्र, मांसपेशियां तंत्र, अध्यावरण तंत्र, पाचन तंत्र, श्वसन तंत्र, लसिका तंत्र, रक्त परिसंचरण तंत्र, प्रजनन तंत्र, उत्सर्जन तंत्र, स्नायुतंत्र परिगणित किये जाते है। मानव को विभिन्न कार्य करने के लिये अपने शरीर को बहुत प्रकार से संचालित करना पड़ता है, कई प्रकार की वस्तुएँ उठानी पड़ती है, जिसमें हमारी हड्डियां सहायता करती है। मानव शरीर में कुल 206 अस्थियाँ होती है जिसमें सबसे बड़ी अस्थि जांघ में और सबसे छोटी अस्थि कान में पायी जाती है। इन विभिन्न प्रकार के अस्थि के कारण ही मानव शरीर अपना आकार ग्रहण करता है और विभिन्न प्रकार की गति करता है। मानव शरीर में अस्थियाँ विभिन्न शरीर संधियों से जुड़ती है और गतिमान होती है, कंकाल तंत्र में विभिन्नता के कारण ही मानव शरीर को एक निश्चित आकार प्राप्त होता है, और इसी कारण मानव शरीर सधा हुआ रहता है, अस्थि तंत्र बहुत ही लचीला होता है।

इसी प्रकार से शरीर के विभिन्न अंगों को गति देने के कार्य माँस पेशियां करती हैं। इस तंत्र के अंतर्गत मानव शरीर में उपस्थित सभी माँसपेंशियां आती है। मानव शरीर के कीमती अंगों और कोष्ठों का निर्माण करने का कार्य मांसपेशियां करती हैं। इस तंत्र के अंतर्गत मानव शरीर में विभिन्न प्रकार के तंत्रिका बंधनों द्वारा हड्डियों को जोड़ने के कार्य मांसपेशियाँ करती हैं।

वैज्ञानिक शोधों से परे योग विज्ञान की विशिष्टता यह है कि, हम योग विज्ञान में मानव शरीर को उसकी समग्रता में जानने समझने का प्रयास करते है। आंशिक संरचना की दृष्टि से मानव शरीर में जो विविधता दिखाई देती है उसके मूल में एवं अलौलिक एकता विद्यमान है जो मानव शरीर को एक इकाई का रूप प्रदान करता है। विभिन्न शरीरशास्त्रियों एवं प्राणिक वैज्ञानिकों ने मानव शरीर को जो जानने और समझने का प्रखर पुरूषार्थ किया है वह आज भी सिंधु में बिन्दु के समान है। मानव शरीर की दिव्य संरचना को विज्ञान के सीमित दायरे से नहीं जाना जा सकता है क्योंकि एक ओर वैज्ञानिक गतिविधियां एवं उपलब्धियां अभी नितांत प्रारंभिक दौर में हैं, और दूसरी ओर मानव शरीर के एक–एक कण में असीम और अदभुत रहस्य सामाहित हैं। जब–जब हम वैज्ञानिक दृष्टि से शरीर को जानने का प्रयास करते है, तब–तब हमारा पुरूषार्थ एक अपूर्णता के साथ पूर्ण होता है, और हम उस सीमित ज्ञान की परिधि के पार जाने के लिये बाध्य हो जाते है।

मानव शरीर रचना अनेक भौतिक, रासायनिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक संयोजन का परिणाम है। इन

संयोजनों के आधार पर समग्र मानव शरीर की रचना एवं क्रिया संपादित होती है। प्राणी विज्ञान की दृष्टि से जब हम मानव शरीर की संरचना और क्रिया विधि का अध्ययन करते है तो हमे एक अद्‌भुत सामंजस्ययुक्त अभियांत्रिकी एवं अनुपम सौंदर्ययुक्त संरचना का बोध होता है। मानव शरीर को यदि हम पूर्ण नैसर्गिक, स्वभाविक परिवेश में कार्य करने का अवसर प्रदान करें तो यह श्रेष्टतम अभियांत्रिकीय संरचना का प्रतिदर्ष प्रस्तुत करती है।

योगशास्त्र के अनुसार योग विद्या का संबंध मूलतः अंतः करण और आत्मा से है किन्तु समग्रता में मानव अस्तित्व को अभिव्यक्त करते समय शरीर, मन और आत्मा को एक इकाई के रूप में परिभाषित किया जाता है, क्योंकि शरीर हमारे अस्तित्व का स्थूल आधार है, जिस पर मन और आत्मा की मानसिक एवं आत्मिक या आध्यात्मिक शक्तियॉ नर्तन करती हैं। इस तरह से शरीर और मन, आत्मा के लिये एक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं, यौगिक संकल्पना की दृष्टि से जब शरीर और मन पूर्ण सामंजस्ययुक्त कार्य करते हैं तो योगानुकूल साधना सुगम एवं सफल हो जाती है, इसके विपरीत शरीर एवं मन में किसी प्रकार का विक्षेप होने पर आध्यात्मिक साधना में न केवल बाधा उत्पन्न होता है अपितु आत्मा की स्वभाविक दिव्यता भी प्रभावित होती है। इसलिये आध्यात्मिक साधना को सुगम एवं सफल बनाने के लिये शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को प्रागप्रेक्षा के रूप में स्वीकार किया गया है। इस लिये योगयुक्ति का आश्रय लेकर समाधि को सुगम बनाने का विधान योग शास्त्रों में मिलता है। पतंजलि योग सूत्र में व्याधि को मनोदैहिक विकृति या विक्षेप के रूप में अविहित किया गया है।

योग शब्द साधना एवं सिद्धि अर्थात् समाधि दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। व्याधि से समाधि कि यात्रा ही योग है, यहां व्याधि विक्षेपयुक्त अवस्था है, जबकि समाधि विक्षपे से मुक्त अवस्था है। इस प्रकार से यद्‌पि विभिन्न मनो शारीरिक उपचार से प्रत्यक्षतः संबंधित नहीं है किन्तु परोक्षतः समाधि सिद्धी को सुगम बनाने की दृष्टि से साधन एवं प्रागप्रेक्षा के रूप में योगोपचार को स्वीकृत एवं समाद्रित किया गया है।

मानव शरीर की यह विशिष्टता है कि यह शरीर में प्रकट होने वाली व्याधियों से स्वतः निकलने का प्रयास करता है, अर्थात् जब कोई व्याधि या विक्षेप शरीर से प्रगट होता है तो शरीर रोग प्रतिरोधक शक्ति के माध्यम से उस व्याधि विशेष से मुक्त होने की चेष्टा करता है, जिसमें सफल होने पर शरीर अपने नैसर्गिक स्वास्थ्य को प्राप्त कर लेता है और किचिंत कारणों से असफल होने पर शरीर को अन्य उपचार विधियों की आवश्यकता पड़ती है। सर्वे भवन्तु सुखिनाः सर्वेसन्तु निरामयः की विश्व मंगल कामना, विश्व मानव संस्कृति में स्वास्थ्य के महत्व को रेखांकित करती है। आज भी विश्व स्वास्थ्य संगठन विपुल संसाधनों को खर्च करके भी सबके लिए स्वास्थ्य जैसी मूल भूत आवश्यकता की प्रतिपूर्ति करने में असमर्थ रहा है। नित्य नवीन व्याधियों का आगमन एवं उत्कर्ष, मानव जीवन को असुरक्षित एवं असहाय अवस्था में छोड़ता है।

कोविड–19 की विश्वव्यापी माहामारी के दौरान सम्पूर्ण विश्व ने इस तथ्य का अनुभव किया कि हम साधनों की प्रचूर्णता से नहीं बल्कि साधना की प्रखरता से ही सुरक्षित रह सकते है। आने वाली पीढ़ी के लिए ये अपरिहार्य है कि वे साधना मूलक जीवन अपना कर अपने नैसर्गिक रोग प्रतिरोधक शक्ति का संवर्धन कर स्वास्थ्य एवं जीवन के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों का समय अनुकूल समाधान कर सके। योग आज विकल्प नहीं बल्कि आत्मिक संकल्प का विषय है। करो या मरो की स्थिति में आज पूरी मानव सभ्यता योग की ओर आशा भरी निगाह से देख रही है और योग की मांग कर आमंत्रण और अनुशासन में एक सुरक्षित भविष्य की सम्भावना तलाश रही है।

शारीरिक, आध्यात्मिक, मानसिक एवं आत्मिक व्याधियों से घिरा हुआ मानव का अस्तित्व एक समग्र उपचार पद्धति की अपेक्षा करता है।

वस्तुतः योग विज्ञान मानव जीवन को पूर्ण व्यवस्थित, सुनियोजित एवं वैज्ञानिक रीति से जीने की कला का विज्ञान है। प्रस्तुत शोध अध्ययन इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि आधुनिक जीवन शैली जनित व्याधियों का निदान योगोपचार विधि से किस प्रकार संभव है और उसकी रीति नीति क्या है?

महत्व –

अधिकांश व्याधियां स्वरूपतः मनोदैहिक होती हैं जिनका सफल उपचार योग से किया जा सकता है। योग साधना की विभिन्न विधियाँ जैसे षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध एवं नाद अनुसन्धान आदि के माध्यम से न केवल स्वस्थ जीवन की प्राप्ति होती है अपितु नाना प्रकार की आधुनिक जीवनशैली जनित व्याधियां जैसे मधुमेह, उच्च रक्तचाप, मोटापा, गठिया, अनिद्रा, अवसाद, तनाव आदि का सफल उपचार योग के माध्यम से किया जा सकता है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में विभिन्न व्याधियों का योग उपचार विशेषतः आसन एवं प्राणायाम के माध्यम से किया गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रकार के आसन उपचारात्मक महत्व रखते है और प्राणायाम के माध्यम से नाना प्रकार की व्याधियों विशेषतः श्वशन तंत्र की व्याधियों का सफल उपचार किया जा सकता है। सारतः आधुनिक जीवन शैली जनित शारीरिक एवं मानसिक रोगों का सफल उपचार योगोपचार से पूर्ण वैज्ञानिक तरीके से किया जा सकता है।

समकालीन मानव समाज को आरोग्य के आनंद से आनंदित करने हेतु एक सारस्वत प्रयास है। मानव समाज आधुनिक जीवन शैली के अनुरूप जी रहा है फलतः अनेक साध्य व असाध्य व्याधियों का शिकार हो रहा है। अर्थ के आभाव एवं प्रभाव के कारण आज मानव समाज परंपरागत नैसर्गिक जीवनशैली से दूर हटता जा रहा है। प्रकृति में केवल मानव ही ऐसा जीव है जो सबसे ज्यादा कृत्रिम व अप्राकृतिक जीवन जी रहा है। मानव अपने आहार और व्यवहार के माध्यम से निरंतर नियमो की उपेक्षा एवं अवहेलना करते जा रहा है। इस कारण से आज चिकित्सा विज्ञान की विविध उपलब्धियों के बावजूद भी मानव समाज रोगी जीवन व्यतीत कर रहा है।

आधुनिक जीवन शैली के कारण मनुष्य की नैसर्गिक जीवन शैली प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुई है। आधुनिक जीवन शैली एवं योग उपचार के इस अध्ययन के माध्यम से नैसर्गिक जीवन शैली के महत्त्व को स्थापित किया जायेगा।

आधुनिक जीवन शैली जनित व्याधियाँ जैसे मोटापा, अपच, गठिया, कब्ज, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, अनिद्रा आदि व्याधियों का सरल निदान पारम्परिक नैसर्गिक जीवन शैली में निहित है।

नैसर्गिक जीवन शैली के माध्यम से हम आधुनिक जीवन शैली जनित व्याधियों का निदान सहज ही कर सकते है।

उद्देश्य –

1. आधुनिक जीवन शैली जनित शारीरिक व्याधियों का योग उपचार मूलक विवेचन करना।
2. आधुनिक जीवन शैली जनित मानसिक व्याधियों का योग उपचार मूलक विवेचन करना।

परिकल्पनाएँ –

1. योग विज्ञान मानव जीवन को पूर्ण व्यवस्थित, सुनियोजित एवं वैज्ञानिक रीति से जीने की कला का

विज्ञान है।

2. आधुनिक जीवन शैली के कारण मनुष्य की नैसर्गिक जीवन शैली प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुई है।

शोध विधि :-

प्रस्तुत शोध कार्य मुख्यतः सैद्धांतिक विषय पर आधारित है जिसमे ग्रन्थ विश्लेषण विधि प्रयोग किया जायेगा, जिसके अंतर्गत मूल ग्रंथों, सहायक ग्रंथों प्रकाशित शोध पत्रों, पत्र–पत्रिका आदि की सहायता से उपरोक्त उद्देश्यों को पूरा किया जायेगा।

योग साधना की विभिन्न विधियाँ जैसे षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध एवं नाद अनुसन्धान आदि के माध्यम से न केवल स्वस्थ जीवन की प्राप्ति होती है अपितु नाना प्रकार की आधुनिक जीवनशैली जनित व्याधियां जैसे मधुमेह, उच्च रक्तचाप, मोटापा, गठिया, अनिद्रा, अवसाद, तनाव आदि का सफल उपचार योग के माध्यम से किया जा सकता है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में विभिन्न व्याधियों का योग उपचार विशेषतः आसन एवं प्राणायाम के माध्यम से किया जायेगा। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रकार के आसन उपचारात्मक महत्व रखते है और प्राणायाम के माध्यम से नाना प्रकार की व्याधियों विशेषतः श्वशन तंत्र की व्याधियों का सफल उपचार किया जा सकता है। सारतः आधुनिक जीवन शैली जनित शारीरिक एवं मानसिक रोगों का सफल उपचार योगोपचार से पूर्ण वैज्ञानिक तरीके से किया जा सकता है।

सारांश –

आधुनिक जीवन शैली जनित व्याधियाँ जब सामुदायिक स्वास्थ्य संबंधी व्याधियों के साथ मिश्रित हो जाती है तो उनकी विकरालता और बढ़ जाती है और वे असाध्य व्याधियों का रूप धारण कर लेती है। संक्रामक व्याधि से होने वाली अधिकांश मौतों का पृष्ठभूमि में आधुनिक जीवन शैली जानित व्याघियाँ ही रही है। उदा. स्वरूप कोरोना व्याधि का संक्रमण पुराने मधुमेह रोगियों दमा, रोगियों, मोटापा और उपापचय से संबंधित रोगियों कमजोर मनःस्थिति वाले व्यक्तियों जिसका सीधा संबंध कमजोर मन से है। रोग के लिए अधिक घातक सिद्ध हुई है। आधुनिक जीवन शैली जनित व्याघियों का सीधा संबंध मनुष्य के शरीर में विद्यमान प्राकृतिक रोग प्रतिरोधक शक्ति से है। रोग प्रतिरोधक शक्ति का संबंध हमारी जीवन शैली से है। योग उपचार के माध्यम से हमजन सामान्य को यौगिक जीवन शैली में प्रशिक्षित करके उनकी रोग प्रतिरोधक शक्ति को प्रबल करके आधुनिक जीवन शैली जनित व्धियों के साथ–साथ सामुदायिक पर व्याप्त व्याधियों का भी सफल निदान कर सकते है और विश्व जन समुदाय को न्यूनतम संसाधनों में आरोग्य प्रदान कर सकते है, जिसके लिए अभी हम अरबो मिलियन प्रतिवर्ष खर्च कर रहे है।

योग उपचार पद्धति का विस्तार करने से स्वास्थ्य व्यवस्था का भी सुधार हो जाता है क्योंकि अस्पताल में जाने वाले लोगों की संख्या जाती है और जो लोग अन्य अपरिहार्य कारणों से अस्तपाल में भर्ती है उन्हें बेहतर सुविधाएं प्राप्त होती है। योग उपचार पद्धति के माध्यम से सारा विश्व समुदाय समान रूप से लाभान्वित होता है चाहे वह संपन्न हो अथवा विपन्न हो। संसाधनों की विषमता एवं विषभता योग उपचार पद्धति के लिए बाधक नहीं है क्योंकि योगोपचार पद्धति साधन मूलक न हो कर के साधना मूलक पद्धति है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. ब्रह्मवर्चस (1998) व्यक्तित्व विकास हेतु उच्च स्तरीय साधनाएँ, वाङ्.मय 20, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
2. गोयन्दका, हरिकृष्णदास (2005) पातंजल योग दर्शन (2/46,48,52), गीताप्रेस गोरखपुर।
3. उपाध्याय, गोविन्द प्रसाद (2000) आयुर्वेदीय मानस रोग चिकित्सा, चौखम्भासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
4. विप्लव, विनोद (2006) मानसिक रोग कारण व बचाव, प्रभात पेपर बुक्स, नई दिल्ली।
5. सिंह, अरूण कुमार (2002) आधुनिक आसामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
6. श्रीवास्तव, डा अजय कुमार (2008) मनोविकृति विज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
7. गुप्ता, हरि ओम (2009) सूर्य चिकित्सा, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली।
8. शलभ, शशिभूषण (2011) वैकल्पिक चिकित्सा, राजा पॉकेट बुक्स, दिल्ली।
9. डॉ. स्वामी कर्मानंद (2008) रोग और योग, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत।
10. स्वामी सत्यानंद सरस्वती (2004) समस्या पेट की समाधान योग का, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत।
11. स्वामी सत्यानंद सरस्वती (2001) दमा, मधुमेह और योग, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642
Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 193-199
AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

STUDY OF THE NATURE AND SCOPE OF URBAN GEOGRAPHY IN SRI GANGANAGAR

Dr. Sachin Kumar
DEPARTMENT OF GEOGRAPHY,
SHRI KHUSHALDAS UNIVERSITY, HANUMANGARH, RAJASTHAN

ABSTRACT :

The academic field of urban geography matured while the 20th century. It has evolved over the course of time into a field that is well-established and deals with the study of urban settlements within the context of the geographic area in which they are located. The study of the genesis of urban settlements, as well as their morphology and their evolution, as well as their activities in and around their surrounds, may be said to fall within the purview of the sub-discipline that bears this name. The field of study has been more significant in the field of social sciences because of the rise in population and the emergence of urban settlements as the magnets of economic, social, and political activities. Most of the early urban geographers focused their attention on the physical characteristics of cities and the context in which they were located. The connection that existed between the topography and the architectural make-up of some towns and the landscapes that around them was where the bulk of the focus was placed.

Keywords : Nature, scope, urban, geography, Sriganganagar.

INTRODUCTION :

The academic field of urban geography matured while the 20th century. It has evolved over the course of time into a field that is well-established and deals with the study of urban settlements within the context of the geographic area in which they are located. The study of the genesis of urban settlements, as well as their morphology and their evolution, as well as their activities in and around their surrounds, may be said to fall within the purview of the sub-discipline that bears this name. The field of study has been more significant in the field of social sciences because of the rise in population and the emergence of urban settlements as the magnets of economic, social, and political activities. Most of the early urban geographers focused their attention on the physical characteristics of cities

and the context in which they were located.

The connection that existed between the topography and the architectural make-up of some towns and the landscapes that around them was where the bulk of the focus was placed. The conceptual framework used by urban geographers shifted throughout the course of time, resulting in the existence of two distinct approaches in the current day. The first one focuses mostly on cities as individual phenomena that may be found anywhere on the surface of the world. Typically, they investigate not only the distribution, size, function, and pace of population increase of urban settlements, but also the spatial interconnections that exist between various urban centres.

The second perspective examines cities about their morphology (layout and built-up area), as well as the degree to which land inside the city is being used. Within the confines of this paradigm, several authors have also begun the process of analysing difficulties associated with urban expansion and development.

The field of urban geography has grown over time to encompass a wider range of topics, some of which include: the spatial association of activities within urban places; the economic base of cities; patterns of distribution of cities across the earth's surface; the distribution of various geographical phenomena within cities; and the spatial interactions of one city with another. To put it another way, one might say that urban geography has a specific emphasis, with its fundamental interest being the study of the correlation of activities in urban areas, as well as the relationship of land use and other characteristics.

The primary emphasis is placed on the analysis and interpretation of patterns and interactions between various cities as well as those between urban and non-urban locations. To better grasp the nature and breadth of urban geography, several urban geographers have offered forth a variety of definitions. Few have been included here to help readers appreciate how the field of urban geography has expanded in breadth and subject matter throughout the years. According to Dickinson (1901), the study of urban geography entails focusing on how a metropolis influences the surrounding area. He gives the impression that the metropolis rules over its surrounding countryside like a monarch.

According to Mayer (1951), the field of urban geography is concerned with the study of the economic basis of cities, including interpretations of the linkages between cities as man's habitat and economic activity inside the city and their hinterland. Urban geography also looks at the relationship between cities and their hinterlands. Harold Carter (1972) is of the opinion that because geography focuses on the study of the uneven nature of the earth's surface, and because a sizeable portion of the world's population lives in urban settlements, the study of urban settlements, along with the people who live there and the buildings they contain, is of particular interest to the field of urban geography.

In addition, while studying urban geography, it is essential to pay attention to the difficulties experienced by those who live in cities. Raymond E. Murphy (1966) takes it one step further and asserts that the duty of the urban geographer is always to serve a dual purpose. First, he examines cities in the context of their location, characteristics, growth, and their relationship with their hinterlands. Second, he discusses the morphology of cities in terms of land use, social and cultural landscape, circulation patterns, and also the components of the physical environment – all of these in interrelation and interaction within the urban area.

LITERATURE REVIEW :

Cattaneo, Andrea &Adukia, Anjali (2022) it is essential for the economic and social growth of countries that its populations have easy access, both physically and logistically, to work and service possibilities. Access to metropolitan centres of varying sizes is a significant factor in determining the quality of life for the great majority of the 3.4 billion people who live in rural regions. In a similar vein, urban centres are dependent on the rural areas that surround them. The purpose of this review article is to extend the concept of catchment areas differentiated along an urban-to-rural continuum in order to better capture these urban-rural links.

Sokolowski, Dariusz (2019) The purpose of this article is to examine chosen characteristics of the economic structure and roles of some of Poland's biggest communities. The primary purpose of the research is to analyses the variety and changes that may be detected to have occurred in Poland before and after the collapse of communism. Along the rural–urban continuum, large villages with populations of more than 5,000 people may be found in the same region as small towns, including several poviat (1) seats. Because of this, they provide for an intriguing comparison category of housing units.

Mierzejewska, Lidia (2017) The spatial-functional structure of cities and the shifts that take place in this sector have been, and will continue to be, an important study subject in the field of urban geography. This research problem has a long history. In this context, we might differentiate between two different approaches: the social and the geographical. The first approach is one that follows in the footsteps of the so-called Chicago school, which includes names like Park, Burgess, and Hoyt, while the other follows in the footsteps of Ullman and Harris.

Heffner, Krystian&Gibas, Piotr (2016) The importance placed on the territorial aspect of public policy can be summed up as a transition from a sectorial approach to an integrated territorially approach. This transition is predicated on the integration of the activities of various public entities towards the territories, which are referred to less administratively and more functionally. The term "functional areas" (FA) refers to geographically distinct regions that have comparable characteristics

in terms of geography, space, and socioeconomics, as well as a system of functional linkages; on this basis, they have comparable development goals and make efficient use of the area's available area.

Nature and Scope of Urban Geography :

Aurousseau (1924) was one of the pioneers in the field of urban geography and was one of the first people to provide an overview of the subject matter. He is of the opinion that since this aspect of geography encompasses such a huge portion of human geography, it is not possible for it to be considered a specialized discipline, and as a result, he is uncertain about the nature of urban geography. However, after considering a variety of methods, he arrives to the conclusion that the regional study of towns and the functional research of those towns do constitute an essential part of its scope. This was a driving force behind the'site and scenario' and 'functional' techniques that are used within this field of study.

The development of the Chicago School in the late 1920s was a watershed point for the morphological approach, which saw a surge in popularity as a result. They paid attention to the many social and economic elements that were responsible for the city's segmented land use and paid attention to how those aspects contributed to the segregation. Therefore, now, the academics have shifted their focus away from the development and structure of the cities and instead have begun to investigate the complexity of the cityscape. This laid the groundwork for the new urban geography, which transformed the study of cities into a more integrated and systematic endeavour as a result.

According to Dickinson (1947), urban geography is not concerned with planning but rather with a variety of characteristics that are intrinsic to the spatial and geographical structure of the city and serve as the foundation upon which planning should be founded. As the importance of planning increased, so did the significance of functions, as it became common practice to define a town's location in terms of the roles it now performs or has in the past. The roles now also decide the pattern of growth and development for the city.

SCOPE OF URBAN GEOGRAPHY :

The study of urban geography seeks to determine and explain the distribution of towns and cities, as well as the sociospatial parallels and differences that occur within and between them. Following this, there are two fundamental approaches to urban geography: the first refers to the spatial distribution of towns and cities and the linkages between them; this can be considered the study of systems of cities; the second refers to the internal structure of urban places; this can be named the study of the city as a system. Both of these approaches are based on the idea that cities can be viewed as interconnected systems.

Although every town and city has its own unique personality, urban areas share some

characteristics that differ only in the degree to which they are present or how significant they are within the context of that specific urban fabric. Every city has neighbourhoods with residential space, transportation lines, economic activity, service infrastructure, commercial zones, and public buildings. Cities also have commercial zones and transit lines. Inadequate housing, economic decline, poverty, poor health, social polarisation, traffic congestion, and environmental pollution are some of the common difficulties cities face, although to varied degrees. Cities also show these issues in varying degrees. There are a lot of similarities across metropolitan areas in terms of traits and concerns. The study of urban geography is built on the foundations of these recurring issues and traits that are similar throughout cities.

The ability of urban geography to synthesise many various views in order to further our knowledge of urban phenomena is its primary strength. Urban Geography keeps crucial linkages with other subfields of geography and maintains these links.

This eclectic method of analyzing urban locations goes beyond typical disciplinary boundaries in order to combine the results of research and information gained from studies conducted in a variety of fields, not only geography. One of the most distinguishing features of urban geography is the integrative capacity of the sub discipline. In geographical research on the city, the primacy of spatial viewpoint is also one of the most important distinguishing characteristics. This is what differentiates urban geography from other comparable fields of urban study such as urban economics, urban sociology, or urban politics. Urban geography focuses specifically on the physical environment of cities. On the other hand, by recognizing the significance of geographic location we are not suggesting that space in and of itself is the primary component that serves as an explanation for the patterns of human activity in the city.

GEOGRAPHICAL FEATURES OF SRI GANGANAGAR :

Since Sri Ganganagar is situated on the outskirts of the state lines of both Punjab and Rajasthan, the geography of any state has a significant impact on the city. Although certain areas of the city exhibit the bone-dry climate that is typical of Rajasthan, the networks developed by the Indira Gandhi canals have guaranteed that most of the city is ornamented with lush vegetation and fertile soil. This is the case even if some portions of the city exhibit the climate that is typical of Rajasthan. Irrigation is accomplished with the help of the water taken from the Ghaggarriver as it passes through the city. Geographical location – 28.4 to 30.6 in latitudinal extent and 72.2 to 75.3 longitudinal extent.

Climate of Sri Ganganagar :

Range of temperatures – The average highest temperature during the summer is 41 degrees Celsius, while the average lowest temperature during the winter is 6 degrees Celsius.

Average rainfall (annual basis) - 200 mm

Culture of Sri Ganganagar :

Bagri and Punjabi are the two cultures that have the most amount of societal influence in Sri Gangangar. The crimson 'Odhni' with embroidered designs is an essential component of the costume worn by women in Bagri, and it is responsible for bringing Bagri's influence into sharper focus. The Bagri women who live in this city adhere to a particular clothing code that consists of long shirts, head ornaments known as borlos, and long dresses known as ghagros. A substantial and dedicated following has developed for the Punjabi cultural tradition. Women that participate in activities associated with the Punjabi culture are often seen dressed in a suit, salwar, and chunni, which is a sort of head covering.

Men of the different groups of Sri Ganganagar traditionally wear kurta-pyjamas, pant-shirts, and dhotis. This ensemble is known as the dhoti.

Songs that fall under the genres of Sikh and Rajasthani devotional music are typically the most popular in the city. In addition, songs from Bollywood are also found in circulation in most places in modern times.

CONCLUSION :

To summarise, Sri Ganganagar City's urban environment is comprised of a thriving Central Business District (CBD) in the city's epicentre, a Rural-Urban Fringe that is in the process of transitioning to an urban setting on the city's outskirts, and a larger Zone of Influence that is responsible for sustaining the city's economic, social, and cultural life. The interaction between these zones is necessary for the expansion of the city, its capacity to remain sustainable, and its integration with the area that surrounds it. In the process of urban planning and development for Sri Ganganagar City, significant issues include the management of urban growth, the conservation of agricultural land, and the cultivation of economic linkages with the hinterland.

The research came to several general findings, the most important of which are as follows: large discrepancies in the degree of development have been identified across several states in the southern area. The Tribal Sub Plan region has not been maintained in a manner that is suitable for health amenities. It is possible to draw the conclusion that the area suffers from very large regional differences and laggardness in regards to the levels of health facilities.

REFERENCES :

1. Lamprecht, Mariusz. (2022). Space syntax as a socio-economic approach: a review of potentials in the polish context. Miscellanea Geographica. 26. 10.2478/mgrsd-2020-0072.

2. Murtazaev, Isabek. (2021). ROLE AND IMPORTANCE OF MINING CITIES IN THE ECONOMIC DEVELOPMENT OF THE REGION (S). Psychology and Education Journal. 58. 2090-2098. 10.17762/pae.v58i1.1086.
3. Liu, Yansui. (2021). Urban-Rural Transformation Geography. 10.1007/978-981-16-4835-9.
4. Kurek, Slawomir&Wójtowicz, Miroslaw&Galka, Jadwiga. (2021). Using Spatial Autocorrelation for identification of demographic patterns of Functional Urban Areas in Poland. Bulletin of Geography. Socio-economic Series. 52. 123-144. 10.2478/bog-2021-0018.
5. He, Li & Tao, Jian'ge&Meng, Ping & Chen, Dan & Yan, Meng& Vasa, Laszlo. (2021). Analysis of socio-economic spatial structure of urban agglomeration in China based on spatial gradient and clustering. OeconomiaCopernicana. 12. 10.24136/oc.2021.026.
6. Cattivelli, Valentina. (2021). Methods for the identification of urban, rural and peri-urban areas in Europe: An overview. Journal of Urban Regeneration and Renewal. 14. 240-246.
7. Cattaneo, Andrea &Adukia, Anjali & Brown, David &Christiaensen, Luc & Evans, David &Haakenstad, Annie &Mcmenomy, Theresa & Partridge, Mark &Vaz, Sara & Weiss, Daniel. (2021). Economic and Social Development along the Urban-Rural Continuum: New Opportunities to Inform Policy.
8. Bogdanski, Marcin. (2021). Changes in the functional structure of small towns in the least developed regions of Poland. Human Geographies: Journal of Studies and Research in Human Geography. 15. 185-207. 10.5719/hgeo.2021.152.4.
9. Kurek, Slawomir&Wójtowicz, Miroslaw&Galka, Jadwiga. (2020). Functional Urban Areas—Theoretical Background. 10.1007/978-3-030-31527-6_2.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 200-204

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

बीकानेर जिले के भू आवरण के बदलते स्वरूप पर नगरीकरण का प्रभाव : एक भौगोलिक अध्ययन

सुमन चौधरी, षोधार्थी
डॉ. सचिन कुमार, शोध निर्देषक
भूगोल विभाग, श्री खुषाल दास विष्वविद्यालय, हनुमानगढ़।

शोध आलेख सार –

भारतीय परिदृश्य में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नगरीयकरण की अवधारणा में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। नगरीयकरण सामाजिक–आर्थिक विकास की वृहद प्रक्रिया है जिससे औद्योगिक पटल में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं। स्वतंत्रता के पश्चात उद्योगों में निवेश के माध्यम से द्रुतगामी औद्योगिकीकरण ने देश की अर्थव्यवस्था को स्थायीकरण प्रदान किया। औद्योगिकीकरण आधुनिकीकरण का अंग है जो नगरीयकरण को बढ़ावा देता है। औद्योगिकीकरण व नगरीयकरण एक–दूसरे के पर्याय है औद्योगिकीकरण जहां नगरों के विकास में महत्वपूर्ण साधन है तो वहीं नगरों में औद्योगिकीकरण हेतु पर्याप्त सुविधाएं मौजूद होती है। औद्योगिकीकरण उद्योग+करण दो शब्दों के मेल से बना है जिसमें उद्योग से तात्पर्य कारखाने तथा करण से तात्पर्य स्थापित करना है। अतः औद्योगिकीकरण कारखाने स्थापित करने की प्रक्रिया है जिनमें मानव श्रम की अपेक्षा मशीनी श्रम को अधिक महत्व व स्थान प्रदान किया जाता है। औद्योगिकीकरण की इस प्रक्रिया में मशीनी कृत उद्योगों को बहुलता प्रदान की जाती है जिससे कम समय में अधिक उत्पादकता प्राप्त की जा सके।

मूल शब्द – भू आवरण, स्वरूप एवं नगरीकरण।

भूमिका –

भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर–पश्चिम भाग पर थार के मरूस्थल का विस्तार है, तथा थार के मरूस्थल के उत्तर–पश्चिम भाग पर बीकानेर जिला विस्तृत है। बीकानेर के पूर्व में चूरू, उत्तर में गंगानगर व उत्तर–पूर्व में हनुमानगढ़ जिला स्थित है। बीकानेर नगर की स्थापना 1488 ई. में राव बीकाजी ने की थी। महाभारत काल में बीकानेर के भूभाग को जांगल प्रदेश के नाम से जानते थे, जो कि एक प्यासी व शुष्क भूमि के रूप में था।

वर्तमान में यह इंदिरा गांधी नहर के प्रभावों से मरूस्थल हरा–भरा व सम्पन्न बन चुका है। नहरों व सिंचाई सुविधाओं के विस्तार से जिला कृषि क्रियाओं में निरन्तर उन्नति को प्राप्त कर रहा है। यहाँ विभिन्न फसलों की उपजों के क्रय–विक्रय हेतु अलग–अलग तहसीलों व जिला मुख्यालय पर भी कृषि मण्डियों की स्थापना हो चुकी है। विगत कुछ वर्षों में बीकानेर जिले में मूंगफली व चने की उपजों में अभूत पूर्व वृद्धि देखी गई है, तथा बीकानेर

जिला राजस्थान की अर्थव्यवस्था में शिखर पर चला गया है। बीकानेर जिले में सिंचाई के साधनों व तकनीकों में सुधार होने से यह जिला एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक क्षेत्र, कृषि व औद्योगिक केन्द्र के रूप में विकसित हुआ है।

जलवायु :

बीकानेर जिला थार के मरूस्थल का प्रतिनिधित्व करता है। इस कारण यहाँ उष्ण कटिबंधीय मरूस्थलीय जलवायु दशाएं पायी जाती हैं। इस क्षेत्र में जलवायु की दृष्टि से अत्यधिक विषम भौगोलिक परिस्थितियां विद्यमान हैं। जून के महिने में यहाँ तापमान 40^0 से 50^0 सेल्सियस हो जाना सामान्य बात है। औसत रूप में अधिकतम तापमान 43^0 सेल्सियस होता है। जनवरी माह में न्यूनतम तापमान 8^0 सेल्सियस तक पहुँच जाता है।

नगरीकरण :

नगरीकरण पिछली सदी और वर्तमान काल की सर्वाधिक घटनाओं में से एक है जिसमें भूमि उपयोग में वैश्विक स्तर पर व्यापक परिवर्तन आये है। नगरीकरण एक सामाजिक–आर्थिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी क्षेत्र की जनसंख्या का एक बड़ा भाग कस्बों और नगरों में संकेन्द्रित हो जाता है। भारत जैसे विकासशील देश में नगरीकरण वर्तमान शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण घटना है जिसने राष्ट्रीय जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित किया है। विश्व में चीन के बाद दूसरा बड़ा जनसंकुल क्षेत्र होने के नाते भारत के इस तेजी से बढ़ते नगरीकरण का क्षेत्रीय और विश्वव्यापी असर है। भारत की नगरीय जनसंख्या द्वारा विश्व के नगरीय जनसंख्या के एक बड़े भाग का निर्माण किया जाता है। इसका अंदाज इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि विश्व का हर बारहवाँ एवं विकासशील देशों का हर सातवां नगरीय क्षेत्रों में रहने वाला व्यक्ति भारतीय है। इसी प्रकार भारत में उतने छोटे कस्बे (20000–49,999 आबादी के) है, जितने कि संयुक्त राज्य अमेरिका में, उतने मध्यम आकार (50000–99,999) के नगर है जितने कि पूर्व सोवियत संघ में और उतने महानगर (+500,000) है जितने कि आस्ट्रेलिया, फ्रांस एवं ब्राजील में मिलाकर पाये जाते हैं।

नगर के रूप मे बस्ती की उत्पत्ति विश्व में सबसे पहले कब और कहाँ हुई? इसके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनुमान लगाया जाता है कि नगरीय विशेषताओं वाली बस्ती का उदय आज से 5000 से 6000 वर्ष पूर्व हो गया था। प्राचीन काल में नगरीकरण की गति अत्यंत मंद थी। मानव इतिहास के आरंभिक काल में अर्थव्यवस्था कृषि, पशुपालन, आखेट आदि प्राथमिक क्रियाओं पर आधारित होती थी और कृषि उत्पादन अत्यंत सीमित होने से नगरवासियों के लिए अतिरिक्त उत्पादन बहुत कम होता था। अठारहवीं शताब्दी के औद्योगिक क्रांति के पूर्व तकनीकी पिछड़ेपन के कारण नगरीय विकास के लिए आवश्यक दशाओं–परिवहन के साधनों एवं संचार माध्यमों, औद्योगिक उपकरणो तथा मशीनो, कुशल श्रमिको, पूँजी, कच्चे माल आदि का अभाव था। अतः उस समय तक औद्योगीकरण के अभाव में अन्य नगरीय क्रियाएं भी पिछड़ी हुई थी जिसके परिणामस्वरूप नगरो का विकास बहुत सीमित क्षेत्रों में और सीमित मात्रा में ही संभव हो सका था। सम्भवतः 3000 ईसा पूर्व तक दक्षिण–पश्चिम एशिया (मेसोपोटामिया) में वास्तविक नगरों का अभ्युदय हो चुका था। इसके पश्चात् प्राचीन मानव सभ्यता के अन्य क्षेत्रो–नील घटी, सिन्धु घाटी, ह्वांग हो घाटी, मध्य अमेरिका, दक्षिणी यूरोप (यूनान, इटली आदि) में भी नगीकरण का आरम्भ हुआ। ईसा पश्चात् प्रथम शताब्दी (100 ई.) तक आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त अन्य आवासित महादीपों में नगरीय विकास का आरंभ हो चुका था।

नगरीय भूमि उपयोग में नगर की भूमि का कार्यों के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है। इसमें नगर की

भूमि के लम्बवत विस्तार का अध्ययन किया जाता है तथा यह जानने का प्रयास किया जाता है कि नगर कि भूमि का कौन–सा और कितना भाग किस–किस प्रकार के कार्यों में उपयोग किया जाता है। व्यावहारिक तौर पर यह कार्यात्मक आकारिकी का समानार्थी है, जिसमें तीन प्रकार के अध्ययन पर बल दिया जाता है– (क) नगरीय भूमि का कितना भाग किन–किन कार्यों में उपयोग किया जाता है, (ख) उस पर स्थित इमारतें किन–किन कार्यों के उपयोग में लायी जाती है, तथा (ग) नगर के भीतर भिन्न–भिन्न कार्यों में कितने व्यक्ति लगे है अर्थात नगर में रहने वाले लोगों कि व्यावसायिक संरचना किस प्रकार की है। सामान्यतः नगर के केंद्र से बाहर की ओर सभी दिशाओं में नगरीय भूमि उपयोग में अंतर दिखाई देता है तथा नगरीय विशेषताओं में उत्तरोत्तर ह्रास का आभास मिलता है। इसके अंतर्गत नगर के केंद्र के अति व्यस्त व्यवसायिक भूमि उपयोग से आवासीय और नगर की बाह्य सीमा पर प्राथमिक किस्म के भूमि उपयोग का परिवर्ती प्रतिरूप दृष्टिगोचर होता है। नगर में भूमि का मूल्य भी भूमि उपयोग की तीव्रता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है। साधारणतया नगर के केंद्र में भूमि का मूल्य सर्वाधिक होता है तथा जैसे–जैसे हम केंद्र से बाहर की ओर बढ़ते जाते है, भूमि–मूल्य उत्तरोत्तर घटता जाता है। नगर में जनसंख्या एवं बस्तियों का घनत्व भी सामान्यतया इसी प्रवणता से प्रभावित होता है।

नगरीय भूमि उपयोग :

भारत का भूमि उपयोग प्रतिरूप स्थलाकृति जलवायु मिट्टी, मानव क्रियाओं और प्रौद्योगिक आदानों ऐसे अनेक कारकों को प्रतिफल है। जहाँ अण्डमान एवं निकोबार द्वीपों, मिजोरम और अरूणाचल प्रदेश में अधिक वर्षा के कारण भूमि उपयोग में वनों की प्रधानता पाई जाती है, वहीं राजस्थान एवं गुजरात का एक बड़ा क्षेत्र वर्षा की कमी के कारण कृषि अयोग्य तथा बंजर के रूप में पाया जाता है। इसी प्रकार स्थलाकृति, उपजाऊ मिट्टी एवं जनसंख्या दबाव के कारण गंगा मैदान का अधिकांश भाग कृषि क्षेत्र में परिणित कर लिया गया है जबकि विषम धरातल और अनुपजाऊ मिट्टी के कारण नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम और अरूणाचल प्रदेश के क्षेत्रों में कृषि विकास बाधित होता रहा है।

जनसंख्या के बढ़ते दबाव एवं परिणामस्वरूप खाद्यान्नों की बढती मांग, विकासात्मक गतिविधियों और प्रौद्योगिक उन्नति परिवर्तन देखा गया है। पिछले चार दशकों के दौरान शुद्ध बोये गये क्षेत्र वृद्धि और नब्बे के दशक में इसके सर्वोत्तम स्तर तक पहुंच जाने, बंजर और अकृषित, के क्षेत्र में घटाव, कृषयेत्तर उपयोग के क्षेत्र में वृद्धि, नगरीकरण और औद्योगीकरण के कारण भूमि उपयोग की बढ़ती जटिलता, बहुशस्यन, मिश्रित शस्यन, शस्य विविधता आदि के कारण ग्रामीण भूमि उपयोग का गहनीकरण और लाभोन्मुखी भूमि उपयोग पर जोर देने आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

भारत को 2024 तक पृथ्वी पर सबसे अधिक आबादी वाला देश होने का अनुमान है और 2050 तक अपने वर्तमान 440 मिलियन (संयुक्त राष्ट्र विश्व जनसंख्या संभावनाएं, 2017) में 375 मिलियन शहरी निवासियों को जोड़ने की उम्मीद है।

महत्व –

मानव समुदाय के लिए भूमि एक मूलभूत संसाधन है, किसी क्षेत्र विशेष में भूमि के उपयोग से उस क्षेत्र की मौजूदा पारिस्थितिकी एवं मानव समुदाय के संबंध परिलक्षित होते है। वर्तमान समय में बढ़ती जनसंख्या एवं औद्योगिकरण तथा बेहतर शिक्षा व रोजगार की तलाश में ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर मानवीय प्रवास के कारण

भूमि उपयोग के प्रतिरूप में तीव्र गति से परिवर्तन हुआ है। भू–उपयोग परिवर्तन शहरी क्षेत्र में एक अपरिहार्य घटना बन गयी। भूमि उपयोग परिवर्तन आर्थिक विकास, शहरीकरण तथा सामाजिक बदलाव की ही प्रक्रिया हैं। यह सामाजिक और आर्थिक बदलाव भूमि उपयोग परिवर्तन व भू–रूपान्तरण की ओर ले जाते है। विश्व में भूमि भूमि उपयोग में आये बदलाव के लिए शहरीकरण ही विशेष रूप से उतरदायी है।

प्रस्तुत शोध का अध्ययन क्षेत्र बीकानेर शहर राजस्थान का एक वृहद नगर है जो पर्यटन, ऐतिहासिक, औद्योगिक एवं शैक्षणिक नगर है। विश्व स्तर पर पर्यटन की सुंदर छवि, शैक्षणिक सुविधाएं व औद्योगिक विकास की पर्याप्त आधारभूत सुविधाओं के कारण बीते तीन दशकों में जनसंख्या व क्षेत्रफल दोनों की दृष्टि से वृद्धि दर्ज की है। फलस्वरूप यह तीव्र गति से उभरता हुआ शहर प्रतीत होता है।

नगरीकरण स्थिर नहीं है, बल्कि गतिशील है। इसकी गति पर अर्थव्यवस्था का प्रभाव पड़ता है। यह अर्थव्यवस्था जितनी तीव्रगति से कृषि अर्थव्यवस्था से औद्योगिक अर्थव्यवस्था कि ओर बढ़ती है, उतनी तेजी से नगरीकरण भी बढ़ता है। नगरों कि जनसंख्या में वृद्धि के साथ–साथ उनकी संख्या में निरंतर वृद्धि होती है। कुल जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या का अनुपात भी बढ़ता रहता है। इसलिए यह कहा जाता है कि नगरीकरण एक प्रक्रिया है।

उद्देश्य –

1. बीकानेर शहर की बढ़ती जनसंख्या एवं नगरीकरण के सम्बन्धों की व्याख्या करना।
2. नगरीकरण एवं भूमि उपयोग में परिवर्तन के कारणों एवं इसके फलस्वरूप उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ –

1. बीकानेर शहर में बढ़ते प्रवास से जनसंख्या वृद्धि शहरीकरण प्रक्रम के मूल कारणों में से एक है।
2. भूमि उपयोग में परिवर्तन एवं नगरीकरण प्रक्रिया दोनों एक दूसरे से अर्न्तसम्बन्धित है।

शोध विधि :–

प्रस्तुत शोध में वर्णनात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबंधन अध्ययन के लिए स्त्रोत के रूप में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोत का प्रयोग किया गया है।

सारांश –

भारत की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है जबकि नगरीय जनसंख्या में भारत के कुल जनसंख्या वृद्धि से भी अधिक गति से वृद्धि हो रही है वही ग्रामीण क्षेत्रों में वृद्धि दर अपेक्षाकृत कम है। नगरीकरण वह चक्रीय प्रक्रिया है जिसमें कोई राष्ट्र कृषि–सामाजिक व्यवस्था से औद्योगिक–सामाजिक व्यवस्था की ओर बढ़ता है (जी. टी. ट्रिवार्था)। एक तरफ जहां नगरीकरण से देश की सामाजिक–आर्थिक प्रगति में वृद्धि होती है वही दूसरी तरफ तीव्र नगरीकरण से अनेक प्रकार की समस्याएं भी उत्पन्न होती हैं। नगरीय अर्थव्यवस्था के गतिविधियों जैसे– विनिर्माण उद्योग, निर्माण कार्य, व्यापार तथा सेवा आदि गतिविधियों के लिए कम स्थान की आवश्यकता होती है इस कारण कम स्थानों में अधिक लोगों को रोजगार मिलता है और कम स्थान में निवास करने वाले लोगों की संख्या अधिक रहती है। यहां शिक्षा, रोजगार, व्यापार आदि गतिविधियों के लिए ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरों की ओर जनसंख्या का प्रवाह भी अधिक होता है जिस कारण नगरीय घनत्व अधिक हो जाता है। नगरीय विकास

तथा अधिक जनसंख्या के कारण नगरों में अनेक प्रकार की समस्याएं भी उत्पन्न हो जाती है जिसका बहुआयामी प्रभाव लोगों के जीवन पर पड़ता है। जिस नगर का आकार जितना अधिक होता है वहां जल आपूर्ति, यातायात, नगर की सफाई, जैसी अनेक समस्याएं उतनी ही अधिक मात्रा में पायी जाती है। नगरीकरण के द्वारा लोगों के सामाजिक मूल्यों में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देता है। ग्रामीण क्षेत्रों में जहां सामूहिकता की भावना पायी जाती है वहीं नगरीय क्षेत्र में व्यक्तिवादी भावना अधिक पायी जाती है। नगरीकरण से लोगों में शिक्षा का विस्तार तथा वैज्ञानिक एवं तर्क प्रधान सोच के विकास से अंधविश्वास आदि कम होने लगा है तथा महिलाओं की स्थिति नगरीय क्षेत्रों में अधिक शसक्त है जो आर्थिक रूप से अच्छी होने लगी है। नगरीय विस्तार से समाज के संयुक्त परिवार अब एकल परिवार में परिवर्तित होने लगे हैं। जिस कारण व्यक्तिवादी सोच को बढ़ावा मिल रहा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. आर. सी. तिवारी, बी. एन. सिंह (2015) : ''कृषि भूगोल'' प्रवालिका पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद (उत्तरप्रदेश) पेज सं. 75–78.
2. गुप्ता, एम. एल. (2019) : ''बीकानेर संभाग का जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन'' राजस्थानी ग्रन्थागार बीकानेर (राज.) पेज सं. 18–40।
3. चौहान, टी. एस. (2018) : ''राजस्थान का भूगोल'', साईन्टिकफिक पब्लिशर्स (इण्डिया), बीकानेर(राज.), पेज नं. 14–19 1.
4. बंसल, एस. सी. (2012) : ''मानव भूगोल'' मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ (उत्तर प्रदेश)।
5. बंसल सुरेश चन्द्र (2015–16) : ''नगरीय भूगोल'' मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ (उत्तरप्रदेश), पेज सं.–316–317.
6. तिवारी, आर. सी. (2014) : ''अधिवास भूगोल'' प्रवालिका पब्लिकेशन्स, 11/10, यूनिवर्सिटी रोड़, इलाहाबाद (यू.पी.).
7. तिवारी, आर. सी. (2015) : ''भारत का भूगोल'' प्रवालिका पब्लिकेशन्स, 11/10 यूनिवर्सिटी रोड़, इलाहाबाद (यू.पी.)।
8. मौर्य, एस. डी. (2018) : ''जनसंख्या भूगोल'' शारदा पुस्तक भवन, पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश)।
9. मौर्य, एस. डी. (2018) : मानव भूगोल, शारदा पुस्तक भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश).
10. शर्मा, एच. एस. और शर्मा एम. एल. (2019) : 'राजस्थान का भूगोल' पंचशील प्रकाशन, जयपुर (राजस्थान), पेज संख्या–420–431.

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 205-210

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

पातंजलि योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक–तकनीक की अवधारणा का अध्ययन

विपिन बोहरा, षोधार्थी
डॉ. पूनम आहूजा, शोध निर्देषिका,
योग विभाग, श्री खुषाल दास विष्वविद्यालय, हनुमानगढ़।

शोध आलेख सार –

पतंजलि योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता के यौगिक तकनीक से वर्तमान समय में मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। योग के इन ग्रंथों में संपूर्ण विश्व के लिए शांति, सद्भावना, सामाजिक समरसता, विश्व बंधुत्व की भावना, भय एवं संघर्ष मुक्त समाज की स्थापना, ज्ञान और कर्म की अनूठी प्रेरणा है। अविद्या के कारण मनुष्य दुखी होता है और दुख से मुक्त होने के लिए जीवन भर प्रयास करता रहता है। दुख से मुक्ति के साधनों का विस्तार से वर्णन इन ग्रंथों में प्राप्त होता है।

मूल शब्द – योग, यौगिक तकनीक एवं अवधारणा।

भूमिका –

योगदर्शन भारतीय ज्ञान परम्परा के षड्दर्शनों में से एक है, जहां अन्य पांच दर्शन तत्वों की मीमांसा करने तथा एक दूसरे का खंडन–मंडन करने में तल्लीन दिखाई देते हैं, वहीं योग दर्शन शरीर, मन, इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर संस्कारों से मुक्ति तथा चित्तवृत्तियों के निरोध के पश्चात् समाधि प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। ऐसी मान्यता है कि ईसा से सौ दो सौ साल पहले महर्षि पतंजलि द्वारा योग दर्शन की रचना की गई। योग की अनेक शाखाओं का वर्णन प्राचीन समय से ही प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, सन्यासयोग आदि का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। इन सबके बावजूद भी अष्टांग योग का प्रणेता महर्षि पतंजलि को ही माना जाता है। इसी को योग का आधार बनाकर योग की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ है।

योग दर्शन के दूसरे सूत्र में महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। योग की यह परिभाषा ही संपूर्ण योगदर्शन का आधार स्तंभ है। मन का संसार में भटकाव तब तक बना रहता है जब तक चित्त की वृत्तियां एकाग्र नहीं होती हैं। मन स्वभाव से ही चंचल है। जगत के चारों दिशाओं में भटकते रहना मन का स्वभाव है। आत्म–साक्षात्कार में चंचल मन बाधक एवं निश्चल मन साधक के रूप में काम करता है। योग की साधना से साधक स्थूल भाव से सूक्ष्म भाव की यात्रा करता है।

योग बाह्य जगत से अंतर्जगत की यात्रा है। योग का मुख्य उद्देश्य आत्मतत्व का प्रत्यक्षीकरण है।

मनुष्य की इंद्रियां जब स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होती हैं तब आत्मतत्व को ग्रहण करने के योग्य होती हैं। सामान्यतया चित्त की वृत्तियां भौतिक जगत के विषय पदार्थों को ग्रहण करने में सक्षम होती हैं, परंतु ''अष्टांगयोग अर्थात– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की साधना से चित्त की वृत्तियों का निरोध होने के पश्चात् आत्म तत्व का साक्षात्कार होता है''।

इन यौगिक क्रियाओं के अभ्यास से जीवन के परम लक्ष्य, मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार की यौगिक शाखाओं यथा– हठयोग, मंत्रयोग, जपयोग, लययोग, ज्ञानयोग आदि का जन्म हुआ। वर्तमान में इन योग की शाखाओं की संख्या लगभग सौ से ऊपर हो गई है। योग की साधना से मनुष्य अपने जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। योग मानव जीवन को सफल एवं सार्थक बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है। मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आत्मिक विकास में योग की महत्वपूर्ण भूमिका है। यौगिक अभ्यास के माध्यम से व्यक्ति अपना चतुर्दिक विकास कर सकता है। संकल्प और धारणा शक्ति के माध्यम से मनुष्य अपने जीवन में किसी भी लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। अष्टांगयोग में वर्णित योगांगों का नियमित अभ्यास करके मनुष्य अपने जीवन में वांछित सफलता को प्राप्त कर सकता है।

योगसूत्र के रचयिता महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''योग चित्त वृत्तियों का निरोध है। जब चित्त की वृत्तियां निरुद्ध होती हैं तब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है। यदि द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित नहीं है तो वह चित्त की वृत्तियों के अनुरूप ही अपने स्वरूप को समझने लगता है।'' योग के अधिगम से तात्पर्य वृत्तियों से मुक्त होकर द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति अर्थात कैवल्य अवस्था की प्राप्ति से है। पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिए प्रकृति का पुरुष से संयोग होता है। अपना यह प्रयोजन सिद्ध कर लेने के पश्चात परिणामी प्रकृति जो कार्य–कारण के रूप में विभक्त होकर अपना कार्य कर रही थी, वही तीन गुणों से युक्त प्रकृति प्रतिलोम–परिणाम को प्राप्त होकर अपने कारण में विलीन हो जाती है। ''वास्तव में यही प्रकृति के गुणों का कैवल्य है। इसकी प्राप्ति पुरुष से अलग होने के पश्चात ही होती है, क्योंकि अविद्या के कारण गुणों के साथ पुरुष का संबंध अनादि सिद्ध है। अविद्या के नाश के पश्चात इस संबंध का अभाव हो जाने से पुरुष का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही पुरुष का कैवल्य है।'' ''अविद्या के अभाव से प्रकृति पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है। इस अभाव को ही द्रष्टा की स्वरूप स्थिति या चेतन आत्मा का कैवल्य कहा जाता है।''

योग के अधिगम की यौगिक तकनीक के रूप में महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों को साधक एवं बाधक वृत्तियों अर्थात अविद्या को पुष्ट करने वाली वृत्ति को बाधक वृत्ति और अविद्या का नाश करने वाली वृत्ति को साधक वृत्ति के रूप में परिभाषित किया है। पांचप्रकार की वृत्तियों से चित्त आवृत रहता है। योग के साधक को ''अविद्याकृत–क्लेशों को समाप्त करने वाले, योग के साधक वृत्तियों का अभ्यास करना चाहिए, जिससे योग की साधना का मार्ग प्रशस्त हो सके।

श्रीमद्भगवद्गीता के रचना का श्रेय महाभारत के पौराणिक संकलनकर्ता श्री व्यास जी को दिया जाता है। महाभारत के भीष्म पर्व के 23–40 अध्याय गीता के 18 अध्याय के रूप में वर्णित है। ''गीता का मूल रचना ईसवी–पूर्व दो सौ में लिखी गई थी। वर्तमान रूप में वर्णित गीता, ईशा की दूसरी शताब्दी में वेदान्त के अनुयायी

किसी विद्वान द्वारा किया गया है– ऐसी मान्यता है।'' श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषदो और ब्रह्मसूत्र के बराबर की मान्यता, हिन्दू धर्म ग्रंथो में प्राप्त है।

इन तीनो ग्रंथो को मिलाकर प्रस्थानत्रयी कहते हैं। उपनिषदो और वेदान्त की तुलना में अपेक्षाकृत, सुसंगत दृष्टिकोण गीता में प्रस्तुत किया गया है। ''गीता ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, नीतिशास्त्र, अधिविद्या का विज्ञान और ब्रह्म के साथ संयोग की कला प्रस्तुत करता है।'' श्रीमद्भगवद्गीता का प्राकट्य ऐसी परिस्थितियों में हुआ जब ज्ञान, कर्म को प्रभावित नहीं कर पा रहा था। ज्ञान और कर्म का अंतर्विरोध जीवन में पलायन की ओर ले जाता है। अर्जुन भी इसी मानसिक ऊहापोह की स्थिति में अपने कर्तव्य पथ से विचलित हो रहा था। ऐसी स्थिति में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा गीता के ज्ञान का अधिगम अर्जुन को कराया गया।

श्रीमद्भगवद्गीता में 18 अध्याय हैं। प्रथम 06 अध्यायों में कर्मयोग का ज्ञान दिया गया है, क्योंकि अर्जुन कर्म न करने के लिए अपने ज्ञान का व्यवहारिक प्रयोग कर रहा था। ऐसा ज्ञान जो व्यक्ति को अव्यवहारिक कर्म करने के लिए विवश करें, वह अधिगम नहीं बल्कि ज्ञान की सूचना मात्र है। ज्ञानयुक्त व्यवहार से ही कर्मयोग की साधना हो सकती है। गीता में कर्मयोग की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम ज्ञानयुक्त कर्म का अधिगम कराया गया। उसके पश्चात दूसरे 06 अध्यायों में भक्ति योग की शिक्षा दी गई है। बिना भक्ति के कर्मयोगका संधान नहीं हो पाता। हमारा मन जो भी करना चाहता है, उसके लिए कर्म तभी करता है, जब उन चाहतों के प्रति समर्पण हो। जिस लक्ष्य के प्रति हम समर्पित नहीं होते, उसके लिए कर्म कर पाना सहज नहीं होता है। कर्म का अधिगम उद्देश्यपूर्ण होता है और उद्देश्य की पूर्ति लक्ष्य के प्रति समर्पित होने से होती है। भक्ति समर्पण की संस्कृति है, समर्पण का मनोविज्ञान है। इसके पश्चात् अंत के 06 अध्याय ज्ञानयोग के अधिगम से संबंधित हैं। ज्ञान के बिना भक्ति विलाप करती है।

धर्मक्षेत्र–कुरुक्षेत्र में युद्ध की आकांक्षा से एकत्रित कौरव और पांडव सेनाओं के मध्य में खड़े अर्जुन के हृदय में चलने वाले द्वंद्वयुद्ध के परिणामस्वरूप गीता प्रकट होती है। मनुष्य की चेतना जब चित्तवृत्तियों के अनुसार विचार और व्यवहार करती है, तब जिस मनः–स्थिति का निर्माण होता है–उसी का प्रतीक अर्जुन है और श्रीकृष्ण शरीरधारी चित्त की वृत्तियों से मुक्त चैतन्यस्वरूप, विशेष पुरुष के प्रतीक हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य संवाद के रूप में भौतिक युद्ध को निमित्त बनाकर, मनुष्य के मन में चलने वाले वैचारिक द्वंद्व–युद्ध का वर्णन गीता में किया गया है। मनुष्य ईश्वर का अंश है और ईश्वर रूप हुए बिना, उसे सुख और शांति का अनुभव नहीं होता है। आत्म–दर्शन से ईश्वरीय रूप की अभिव्यक्ति होती है और इस अभिव्यक्ति के लिए किया गया प्रयत्न ही सच्चा पुरुषार्थ है। गीता का उद्देश्य आत्म साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील साधक को आत्म दर्शन कराना है। वास्तव में आत्म साक्षात्कार करने का अद्वितीय उपाय निष्काम कर्मयोग अर्थात् कर्मफल का त्याग है। श्रीमद्भगवद्गीता का संपूर्ण प्रतिपाद्य विषय कर्मफल की कामना से मुक्त होकर ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय से युक्त योगशास्त्र का वर्णन है।

मनुष्य एक क्षण के लिए भी कर्म से मुक्त नहीं हो सकता है। जहां शरीर है, वहां कर्म तो निश्चित है और कर्म में कुछ न कुछ दोष भी होता है। जिससे मुक्ति केवल निर्दोष मनुष्य को ही मिलती है। कर्मफल की कामना ही कर्म का दोष है। जिससे मुक्ति पाने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक तकनीक के रूप में निष्काम कर्म, यज्ञार्थ कर्म, ईश्वर को अर्पित करके किया जाने वाला कर्म, फल का त्याग करके किये जाने वाले कर्म का वर्णन

विस्तार से किया गया है।

इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों के अनुसार शोधार्थी ने पतंजलि योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक–तकनीक की अवधारणा का समन्वयात्मक अध्ययन करना आवश्यक समझा।

महत्व –

योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता के शिक्षण का उद्देश्य ज्ञान के साथ कर्म की प्रेरणा देना है। ज्ञान के बिना कर्म और कर्म के बिना ज्ञान का कोई महत्व नहीं होता है। ज्ञान और कर्म के योग से ही मनुष्य के जीवन में संतुलन स्थापित हो सकता है। आधुनिक समय में व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की किसी भी समस्या का समाधान ज्ञानयुक्त कर्म से हो सकता है। यह संसार कर्मभूमि है, जहां कर्म के बिना एक पल भी रहा नहीं जा सकता है। अज्ञानता के साथ किया जाने वाला कर्म दुख का कारण बनता है और ज्ञान के साथ किया जाने वाला निष्काम कर्म मोक्ष का कारण बनता है। मोक्ष, मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् ही मानव जीवन की सिद्धि होती है। ज्ञान और कर्म के योग से ही मोक्ष मिलता है। योग के इन ग्रंथों के की यौगिक प्रक्रिया से इस अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

उद्देश्य –

1. पतंजलि योगसूत्र में यौगिक तकनीक की अवधारणा का अध्ययन करना।
2. श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक तकनीक की अवधारणा का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ –

1. योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक तकनीक द्वारा आनंदपूर्ण जीवन जीने वाले मनुष्य का निर्माण किया जा सकता है।
2. व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त समस्या का समाधान योग के इन ग्रंथों में वर्णित यौगिक तकनीक के माध्यम से किया जा सकता है।

अध्ययन की सीमाएँ :

1. संसाधनों की सीमितता एवं उपलब्ध साहित्यों एवं विषय की व्यापकता को दृष्टिगत रखते हुए शोधार्थी द्वारा प्रस्तुत शोध अध्ययन में योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अधिगम की यौगिक तकनीक का ही अध्ययन किया गया है।
2. प्रस्तुत शोध का विषय योग–दर्शन है, जिसमें दर्शन व विषय से सम्बन्धित सामग्री पतंजलि योगसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता से संकलित की गई। इस अध्ययन में किसी भी प्रकार की सांख्यिकीय गणना विधि का प्रयोग नहीं किया गया है।

शोध विधि :–

शोधार्थी का मुख्य उद्देश्य योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित यौगिक प्रविधियों का अध्ययन करना है। किसी भी शोध अध्ययन के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए एक शोध अभिकल्प तैयार किया जाता है, जिससे वांछित उद्देश्य की सिद्धि की जा सके। योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता में दुख से मुक्ति और अपने वास्तविक स्वरूप के बोध के लिए जिस तरह का आध्यात्मिक एवं प्रेरणात्मक संचार हुआ है उनके तत्वों का अध्ययन करने के लिए शाब्दिक विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग इस शोध अध्ययन में किया गया है। योग के इन ग्रंथों

की व्याख्या विशेषज्ञों, विद्वानों, धर्माचार्यों, वैज्ञानिकों ने अपने ढंग से अलग अलग तरीके से किया है। योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता की विषय वस्तु का शाब्दिक विश्लेषण शोध प्रविधि से अध्ययन किया गया है।

शोध अनुसंधान विधि में शाब्दिक विश्लेषण विधि शोध अध्ययन की एक प्रविधि है, जिसके माध्यम से शोधार्थी द्वारा लिखित, मुद्रित शोध सामग्री में दिए गए तत्वों का विश्लेषण किया जाता है। शाब्दिक विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य विषय का विवेचन, रूपरेखा, विषय के संदेश, कार्य एवं उसके प्रभावों का विश्लेषण करना है। इस विधि का प्रयोग करते समय शोधार्थी को विषय वस्तु का चयन सावधानीपूर्वक करना पड़ता है। इस शोध अध्ययन के लिए जिन विषय वस्तुओं का प्रयोग किया जा रहा है उनके दो रूप हो सकते हैं– संबंधित विषय के विशेषज्ञ द्वारा दिया गया संदेश और किसी संदेश की लिखित या मुद्रित प्रतियां। दोनों ही स्थितियों में शाब्दिक विश्लेषण विधि के माध्यम से विषय वस्तु का अध्ययन किया जा सकता है। इस विधि में शोध विषय से संबंधित यौगिक ग्रंथों का अध्ययन किया गया है।

यह शोध–प्रबंध मुख्यतः पतंजलि योगसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित अधिगम की यौगिक तकनीकों को पहचानने का प्रयास है ताकि उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानकर ही उसका अभ्यास किया जाए।

सारांश –

वर्तमान समय में निराशा, चिंता, शोक, मोह, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मद, विषाद आदि मानसिक विकारों से मनुष्य एवं समाज किसी न किसी रूप में ग्रसित होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में इन ग्रंथों की उपादेयता आज भी उतनी ही है जितनी कि प्राचीन समय में थी। विज्ञान एवं तकनीकी के इस युग में जहां भौतिक सुख के साधनों का विकास हुआ है वहीं मनुष्य मानसिक, भावनात्मक एवं आत्मिक रूप से असंतुलित हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप चिंता, शोक, तनाव, विषाद, उदासी, निराशा, हताशा इत्यादि प्रवृत्तियां मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में बढ़ती जा रही हैं। हर क्षण किसी न किसी रूप में मनुष्य बेबस, लाचार, अकेला और असहाय महसूस कर रहा है। अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह किए बिना ही व्यक्ति अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए तत्पर रहता है, जबकि अधिकार का जन्म कर्तव्य के पालन से ही होता है। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्यों एवं चरित्र का पतन तेजी से हो रहा है, जो मानव एवं मानवीय समाज के लिये चिंताजनक है। मानवीय मर्यादा धीरे–धीरे समाप्त होती जा रही है। अनीति, अराजकता, अशांति, भय, हिंसा, असंतोष आदि की प्रवृत्ति दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इन सभी समस्याओं का समाधान योग के इन ग्रंथों के यौगिक तकनीक से संभव है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. सम्पूर्णानंद, (1965), योगदर्शन, हिन्दी समिति सूचना विभाग उ.प्र. लखनऊ।
2. आत्मानंद, स्वामी अक्षय (1981), योग के चमत्कार, हिन्द पाकेट बुक्स, नई दिल्ली।
3. अरविंद, (1969), योग समन्वय (पूवार्द्ध), श्री अरविंद सोसायटी, पांडिचेरी।
4. शर्मा, वेंकटेश्वर, (1975), आध्यात्म योग और चित्त विकलन, बिहार राष्ट भाषा परिषद् पटना।
5. गोयन्दका हरिकृष्णदास, (संवत् 2072), योगदर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर।
6. दास अभिलाष, (2007), महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन पारख भाष्य, कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर इलाहाबाद–211001।

7. तीर्थ स्वामी ओमानंद, (संवत 2069), पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर।
8. शर्मा, श्रीराम, शर्मा, देवी भगवती, (2011), सांख्य एवं योगदर्शन, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा।
9. शास्त्री, श्रीकृष्णपंत, (2016), योगवासिष्ठ (महारामायण), चौखंभा, सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
10. संक्षिप्त योगवासिष्ठ, (संवत 2073), गीताप्रेस गोरखपुर।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 8.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
February 2026 Page No. : 211-213

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

भोजपुरी लोकगीतों में अभिव्यक्त लोक जीवन

संतोष कुमार

ग्राम–बरौना, पोस्ट–किछौछा, जिला–अंबेडकर नगर।

मनुष्य का सम्बन्ध प्रकृति के साथ उसके जन्म से ही रहा है। आदिम जीवन लोक अस्तित्व के संघर्ष से जूझता हुआ आगे बढ़ता रहा। जीवित रहने की जीजिविषा ने मनुष्य को प्रकृति के साथ संघर्ष करना सीखाया। प्रकृति के विविध रूपों को देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित होता था। प्रकृति का जो रूप जीवन के लिए सहयोगी सिद्ध हुए उन्हें देखकर मनुष्य मन उनके प्रति प्रेम और श्रद्धा से भर उठा और जो रूप मनुष्य के लिए घातक या विनाशक रहा, उससे बचने के लिए नवीन मार्गों की खोज करता रहा। अस्तित्व के संघर्ष, जीविका की खोज, सुरक्षा की भावना ने मनुष्य के अनुभव और कल्पनाशक्ति का विकास किया। उसने एक पीढ़ी द्वारा प्राप्त अनुभव, अर्जित संस्कार, परम्परा, ज्ञान इत्यादि को दूसरी पीढ़ी को दिया। इस प्रकार मनुष्य के अंदर सामाजिकता की भावना को बल मिला और धीरे–धीरे उसकी सभी गतिविधियाँ समाज के दायरे में संचालित होने लगी। उसे जब भी सुख या दुख की अनुभूति हुई, उसने बिना अवसर गँवायें अपने भावों को रागात्मक स्वरों में अभिव्यक्त किया जिसे 'लोकगीत' कहते है। लोकगीतों में लोक जीवन की झलक दिखाई देती है। लोकगीत संस्कृति और सभ्यता के वाहक होते है। यह मिट्टी से जुड़े लोक की आत्माभिव्यक्ति है जो जनसाधारण द्वारा, जनसाधारण की आवाज में, जनसाधारण के लिए होती है। यह शास्त्रीय नियमों की पकड़ से मुक्त होती है। इसमें ग्राम्यता के साथ–साथ जीवन का मर्म देखा जा सकता हैं। इसमें मौलिकता, अपनत्व, विश्वसनीयता की झलक दिखाई देती है। वास्तव में लोकगीत जीवन की रागात्मक अभिव्यक्ति हैं।

लोकगीत लोक भाषा में अभिव्यक्त होती है जिससे उस विशेष अंचल के लोक जीवन, लोक समाज और लोक संस्कृति का पुट झलकता है। भोजपुरी लोकगीतों का क्षेत्र विस्तृत है। उसमें समाज, संस्कृति और इतिहास से लेकर लोक जीवन के सभी पहलुओं का रूप सम्मिलित है। भोजपुरी लोकगीतों को सुनकर सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि उसमें भोजपुरी समाज अपने सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव और यथार्थ के साथ चित्रित हुआ हैं। भोजपुरी लोकगीतों में सम्बन्धों का सौन्दर्य लोक, त्योहारों का मनोरम रूप, प्रकृति का सौन्दर्य, जीवन व्यवहार के विविध पहलुओं को विशेष महत्व दिया गया है। भोजपुरी समाज में अभी भी संयुक्त परिवार का स्वरूप देखा जा सकता है। यहाँ पारिवारिक शिष्टाचार का बड़ा महत्व है। परिवार के छोटे सदस्य अपने बड़ों का पैर छूकर आर्शीवाद प्राप्त करते हैं। किसी भी शुभ कार्य को करने के लिए जाते समय या फिर वापस आने पर, पैर लगने की प्रथा आज भी प्रचलन में है। छोटे अपने बड़ों से कभी उल्टा सवाल जवाब नहीं करते हैं।

'पुजेले बाबाजी के पाँव, सुदिनवा केरा जनमल।

पुजेले आजी के पाँव, सुदिनता केरा जनमल।।'

पत्र व्यवहार में भी संस्कृति और परम्परा की झलक देखी जा सकती है। चिठ्टी पत्री के शुरूआत में भी बड़ों को प्रणाम या पैर छुई लिखते है। यहाँ तक की मोबाइल फोन पर बात करते समय प्रणाम या पैर लागी कहते सुना जा सकता है। और बड़े निस्वार्थ भाव से खुश रहो, और बड़ा बनने, देह जागर ठीक रहे, दूधे नाहा, दूधे कूला आदि जैसे आर्शीवाद देते हैं।

भोजपुरी समाज में जन्म उत्सव से लेकर अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह, अंतिम संस्कार, मुंडन संस्कार, जनेऊ संस्कार इत्यादि अवसरों पर विविध गीतों को गाया जाता है। लोकगीत के बिना कोई भी संस्कार या उत्सव पूर्ण नहीं माना जाता है। न ही घर की औरतों का काम ही गीतों के बिना सैयराता है। उनका मन बिना गीत गाये रहा नहीं जाता है। काम के साथ–साथ गीत गुनगनाया करती है।

पुत्र जन्म के अवसर पर गाये जाने वाला गीत 'सोहर' कहलाता है। "सोहर शब्द की उत्पत्ति शोभन से ज्ञात होती है। सोहर के गीत 'सोहली' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। संभवतः यहीं शोभन शब्द सोभिलों, सोहिलों, सोहर के रूप में परिवर्तित होता हुआ इस रूप में आ गया है। भोजपुरी में सोहल का अर्थ 'अच्छा लगाना' या 'सुहाना' है। जो संस्कृत के शोभन का अपभ्रंश है।"[1]

भोजपुरी समाज में विवाह का अपना अनूठा तरीका है। विवाह गीतों में दो प्रकार के गीत गाये जाते हैं पहला वह जो कन्या पक्ष के द्वारा पर गाया जाता है और दूसरा वह जो वर पक्ष के घर गाया जाता है। डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय ने कन्यापक्ष के गीतों के 22 भेद और वर पक्ष के गीतों के 16 भेद बताये है। कुछ उदाहरण इस प्रकार है – तिलक के गीत, संझा के गीत, माँड़ों के गीत, कलसा धराई के गीत, हरदी के गीत, लावा भुजाई के गीत, कोहबर के गीत, माँड़ों के गीत, विदाई के गीत इत्यादि। विवाह के दौरान कोहबर के समय गाये जाने वाले गीत का एक उदाहरण्ध इस प्रकार है।

'ठीक दुपहरिया अइह मोरो राजा हो, हम रउरा से करबी लराई।
निचवा रजाई रे उपरा दोलाई। ताहि बीचे होखेला लराई।।'[2]

भोजपुरी समाज में ऋतुओं के अनुरूप वस्त्र धारण करने का भी प्रचलन है। जैसे–जैसे ऋतुएं आती है, उसी के अनुरूप स्त्रियाँ वस्त्र धारण करती है, मेंहदी लगाती है और उसी के अनुरूप गीतों का गायन भी करती है। सावन के महीने में कजरी या कजली गायी जाती है। एक कजरी का उदाहरण इस प्रकार है –

'सोने की थारी में जेवना परोसलो, जवेना ना जवे हो,
सखिया साझे भइल बेरी बिसवे,
सामी घरे ना अइले हो।
बोलु–बोलु कागवा सुलच्छन बोलिया,
हरि घरे ना अइले हो।'[3]

फाल्गुन मास में 'फगुआ' गाया जाता है। जो होली के रंगों को और तेज एवं उत्सव को रंगीन बनाता है।

इस प्रकार भोजपुरी समाज की जाति सम्बन्धी गीत भी बहुत प्रसिद्ध है जिसमें अहीरों के द्वारा गाया जाने वाला गीत 'बिरहा', कहारों के गीतों को 'कहँरूवा', तेलियों के गीत को 'कोल्हू के गीत' इत्यादि नामों से पुकारा

जाता हैं जो अपना विशेष सांस्कृतिक महत्व रखते है। इन गीतों के साथ–साथ लोग कई प्रकार के नृत्य भी करते हैं। जिससे गीत का पूरा–पूरा रस एवं भाव आसानी से समझा जा सकता हैं। इसके साथ ही दर्शक पूरा आनन्द का अनुभव कर पाते है। बिरहा का एक उदाहरण देखिए –

'रसवा के भेजली भँवरवा के संगिया,
रसवा ले अरले हा थोर।
अतना ही रसवा में केकरा के बटबों,
सगरी नगरी हित मोर।।'[4]

निष्कर्ष के तौर कहा जा सकता है कि भोजपुरी लोकगीत जहाँ एक तरफ जन–जन का मनोरंजन करती है वहीं दूसरी तरफ सामाजिकता की भावना, भाईचारा, अपनत्व, प्रेम, सौहार्द की भावना को भी बनाये रखने में सफल है। इन लोकगीतों में आस्था, विश्वास, रूढ़ियाँ, परम्पराएं, मान्यताएं, और वास्तविकताएं संरक्षित रहती हैं। लोकगीतों के माध्यम से समाज एवं संस्कृति की सही स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। लोकगीतों में विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों, संस्कारों, स्त्री मन की स्थिति के साथ–साथ लोक जीवन के बिम्बों, लोकोक्तियों का अनूठा प्रयोग भी दिखाई देता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोकगीत लोक जीवन का वास्तविक झलक प्रस्तुत करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. भोजपुरी लोक साहित्य – कृष्णदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाश, द्वितीय संस्करण 2008, पृष्ठ संख्या – 132
2. भोजपुरी लोक साहित्य – कृष्णदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाश, द्वितीय संस्करण 2008, पृष्ठ संख्या – 141
3. भोजपुरी लोक साहित्य – कृष्णदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाश, द्वितीय संस्करण 2008, पृष्ठ संख्या – 148
4. भोजपुरी लोक साहित्य – कृष्णदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाश, द्वितीय संस्करण 2008, पृष्ठ संख्या – 180

मोबाइल नंबर–8737946909
ई–मेल–kapoorsantosh10@gmail.com

PRINTED MATTER/PRINTING BOOK CLAUSE 121 (A) P & T GUIDE

गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.)
द्वारा भिवानी (हरियाणा), काठमाण्डू (नेपाल) से प्रकाशित

ISSN : 2395-7115
Impact Factor : 8.642

बोहल शोध मंजूषा
Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL MULTI DISCIPLINARY, MULTIPLE LANGUAGES
PEER REVIEWED, REFREED RESEARCH JOURNAL

UGC Valid Journal (The Gazette of India, Extraordinary Part III, Section 4, Dated July 2018)

Website :
www.bohalshodhmanjusha.com
Email : grsbohal@gmail.com

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Adv.
M. : 8708822674, 9466532152

गीना देवी शोध संस्थान
द्वारा श्रीगंगानगर, (राजस्थान), पटियाला (पंजाब) व नेपाल से प्रकाशित

ISSN : 2321-8037
Impact Factor : 7.834

Gina Shodh SANGAM

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES MONTHLY RESEARCH JOURNAL

UGC Valid Journal (The Gazette of India, Extraordinary Part III, Section 4, Dated July 18, 2018)

Website : www.ginajournal.com
Email : grngobwn@gmail.com
Office : 8708822674

Editor :
Dr. Rekha Soni, Vice Principal
Education, Tantia University
M. 9828531975

गिरधारीलाल घासीराम शोधपीठ
द्वारा नई दिल्ली, आगरा, गाजियाबाद एवं नेपाल से प्रसारित

ISSN : 2348-5639
Impact Factor : 6.521

SHODH SAMALOCHAN

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

UGC Valid Journal (The Gazette of India, Extraordinary Part III, Section 4, Dated July 18, 2018)

Website : https://ginajournal.com/shodh-samalochan/
Executive Editor : Dr. Varsha Rani M. 9671904323
Managing Editor : Dr. Mukesh Verma M. 9627912535

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Advocate
M. 8708822674

सानिया प्रकाशन एवं गिना प्रकाशन द्वारा
संयुक्त रूप से नई दिल्ली, आगरा, गाजियाबाद एवं नेपाल से प्रसारित

ISSN : 2394-6458
Impact Factor : 6.521

RESEARCH JOURNAL OF MEEMANSA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES HALF YEARLY RESEARCH JOURNAL

UGC Valid Journal (The Gazette of India, Extraordinary Part III, Section 4, Dated July 18, 2018)

Website : https://ginajournal.com/shodh-samalochan/
Editor-in-Chief : Dr. Lata S. Patil
Managing Editor : Dr. Jaivir Langyan M. 9728790909

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Advocate
M. 8708822674

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक गुगनराम सोसायटी रजि. के लिए डॉ. नरेश सिहाग एडवोकेट ने मनभावन प्रिन्टर्ज, भिवानी से छपवाकर गीना प्रकाशन, 202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड भिवानी-127021 (हरि.) से वितरित की।

ISSN 2395:7115

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

S. RAJALAKSHMI
Assistant Professor in Hindi
Agurchand Manmull Jain College,

for the paper titled

डॉ. नरेश सिहाग की कविता : 'वक्त का सफर'

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 10-12

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate
M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

आलोक कुमार मिश्रा

वरीय शोधार्थी, स्नातकोत्तर नागपुरी विभाग,
जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा संकाय, राँची विश्वविद्यालय राँची, झारखण्ड।

for the paper titled

नागपुरी का व्याकरणिक परम्परा

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 13-14

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

चन्द्रिका कुमारी

शोधार्थी, स्नातकोत्तर नागपुरी भाषा विभाग,
राँची विश्वविद्यालय, राँची।

for the paper titled

नागपुरी जागरण गीत एवं कविताएँ : एक अध्ययन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 15-16

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

खुशबू सिंह

शोध छात्र, प्राचीन इतिहास संस्कृत एवं पुरातत्व विभाग,
महाराज सुहेलदेव विश्वविद्यालय, आजमगढ़।

for the paper titled

श्रम का विभाजन या सामाजिक नियंत्रण : जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक व्याख्या

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 17-21

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

प्रोफेसर चन्द्रशेखर सिंह

समाज कार्य विभाग,

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

for the paper titled

युवतियों में बढ़ते अनैतिक व्यवहार का उनके स्वास्थ्य एवं सामाजिक दृष्टिकोण पर पड़ने वाले प्रभाव : वाराणसी के संदर्भ में

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 22-30

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

डॉ० शिवानन्द कुमार

एल० ई० बी० बी० उच्च विद्यालय, राँची (TGT)

for the paper titled

इतिहास में मिथक, लोककथा और जनस्मृति का महत्व

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 31-36

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

डॉ० प्रमीला उराँव

असिस्टेंट प्रोफेसर, कुँड़ुख़ विभाग
करमचन्द भगत महाविद्यालय, बेड़ो, राँची।
राँची विश्वविद्यालय, राँची (झारखण्ड)

for the paper titled

झारखण्ड के उराँव जनजाति की युवागृह संस्था

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 37-39

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

डॉ. पूजा धमीजा, शोध निर्देशिका
सुभाष चन्द्र वर्मा, शोधार्थी,
हिन्दी विभाग, टांटिया यूनिवर्सिटी, श्रीगंगानगर (राज.)

for the paper titled

नई काव्य चेतना में प्रतिष्ठित लघु मानव : एक नया व्यक्तित्व

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 40-43

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

राजेंद्र प्रसाद

सहायक आचार्य, संहिता विभाग

देश भगत विश्वविद्यालय, मंडी गोबिंदगढ़, पंजाब।

for the paper titled

विभिन्न दर्शनों में श्रम की व्याख्या : एक समालोचनात्मक अध्ययन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 44-48

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

महेन्द्र, शोधार्थी
डॉ. सुनीता मालवीय, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग
प्रधानमंत्री कॉलेज ऑफ एक्सीलेंस श्री अटल बिहारी वाजपेयी
गवर्नमेंट आर्ट्स एंड कॉमर्स कॉलेज, इंदौर।

for the paper titled

आजाद हिंद फौज का इंदौर से संबंध

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 49-54

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

डॉ. सतीश चन्द मंगल

निर्देशक व उप–प्राचार्य श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर शिक्षा महाविद्यालय,
सीटीई, केशव विद्यापीठ, जामडोली, जयपुर, (राजस्थान)

राम खिलाड़ी गुर्जर, शोधार्थी

शिक्षा विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

for the paper titled

कबीर के काव्य में गुरु–शिष्य परंपरा : एक सर्वांगीण आध्यात्मिक एवं सामाजिक विश्लेषण

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 55-58

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

ANSHUL NAGAR

Research Scholar,
Department of History and Indian Culture
Banasthali Vidyapith, Newai, Rajasthan.

for the paper titled

Democratic Decentralization and the Evolution of Panchayati Raj Institutions in Rural Rajasthan (1950–1980)

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 59-66

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

डॉ. बिहारी लाल द्विवेदी

प्राचार्य,

मेकलसुता कॉलेज डिण्डौरी।

for the paper titled

भारतीय ज्ञान परम्परा और आयुर्वेदीय चिकित्सा

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 67-72

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

धीरज मीणा

जे.आर.एफ. देवी अहिल्या विश्वविद्यालय,
इंदौर।

for the paper titled

चंबल संभाग में भारत छोड़ो आंदोलन : एक ऐतिहासिक अध्ययन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 73-77

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

डॉ. रामानुज प्रताप सिंह धुर्वे

सहायक प्राध्यापक इतिहास

शास. बा. सा. दे महा. कुनकुरी जिला जशपुर (छ.ग.)

for the paper titled

मध्य प्रांत के प्रमुख जंगल सत्याग्रह

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 78-85

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

PRADEEP SOLET

Research Scholar,
Department of history and Indian culture, Banasthali Vidyapith, Newai Rajasthan

for the paper titled

Mercantile Prosperity and Architectural Flourishing in Shekhawati during British India

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 86-91

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

Srishti Agrahari
Research Scholar, Department of History
Dr. B. R. Ambedkar University, Delhi.

for the paper titled

Narratives of Time and the Past in Early Historical South Asia

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 92-97

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate
M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

शिवानी

शोध छात्रा, इतिहास विभाग,
एम0 बी0 पी0 जी0 कॉलेज, हल्द्वानी (उत्तराखण्ड)

for the paper titled

उत्तराखण्ड ताम्र हस्तशिल्प कला : चुनौतियां और पुनरूद्धार रणनीतियां

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 98-103

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

NITISH KUMAR SINGH

ASST. PROF, ST.PAUL TEACHERS' TRAINING COLLEGE, PIN - 848102

for the paper titled

Impact of Social Media and Online Games on Early Growing School Children

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 104-109

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

Dr. Vaishali Singh

Assistant Professor, Education Department
Smt. Anar Devi T.T. College Bakharana (Kotputli) Behror,
Rajasthan-303108

for the paper titled

सहयोगात्मक अधिगम और अकादमिक सफलता

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 110-114

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

Dr. Anurag Singh, Aso. Professor (YOGA),
Amar Singh, Research Scholar,
Dep. Of Physical Education, Post Graduate College, Ghazipur, U.P.

for the paper titled

Comparative Awareness of Yoga and Physical Education Careers among Urban and Rural College going girl's

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 115-122

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

नरेश प्रसाद भट्ट, शोधार्थी
डॉ. मंजू सिंह, सहायक प्राध्यापक
संस्कृत साहित्य विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय,
गजरौला, अमरोहा (उत्तर प्रदेश)

for the paper titled

गौवंश के संरक्षण हेतु विभिन्न सामाजिक संगठनों द्वारा किए गए प्रयासों का समग्र अध्ययन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 123-126

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

डॉ. अजय कुमार यादव
पोस्ट डॉक्टरल फेलो
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

for the paper titled

सूरदास : ऐंद्रिक आसक्ति के बीच भक्ति का साक्षात्कार

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 127-134

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

Dr. Ram Nagina Rajak

Lecturer, Primary Teacher Education College, Rampur Jalalpur (Samastipur)

for the paper titled

Teaching and learning process to enhance teaching a literature review

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 135-140

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

प्रो. मधुबाला मीना

संस्कृत–विभाग,

गौरी देवी राजकीय महिला महाविद्यालय, अलवर।

for the paper titled

‘कवि किंकर भट्ट’ श्री गिरधारी शर्मा ‘तैलंग’ का मत्स्यांचल के संस्कृत साहित्य में योगदान

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 141-145

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा
Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

अरविन्द उनियाल, शोधार्थी
डॉ. मंजू सिंह, सहायक प्राध्यापक
संस्कृत ज्योतिष विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय,
गजरौला, अमरोहा (उत्तर प्रदेश)

for the paper titled

विभिन्न प्रकार के राजयोगों का तुलनात्मक अध्ययन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115
Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 146-149

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor
Dr. Naresh Sihag Advocate
M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

रुखमणी मोहबे, शोधार्थी,

डॉ. मुन्नालाल चौधरी, शोध निर्देशक (सहा. प्राध्या. संस्कृत)

संस्कृत विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिवनी, म. प्र. –480661

for the paper titled

आधुनिक राजनीति में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 150-156

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

Patel Kalpesh Shashikant (RESEARCH SCHOLAR)
Dr. Jully Ojha (RESEARCH GUIDE)
Dr. Aruna Dogra (RESEARCH CO- GUIDE)
DEPARTMENT OF PHYSICAL EDUCATION
SHRI JAGDISHPRASAD JHABARMAL TIBREWALA UNIVERSITY,
VIDYANAGARI, JHUNJHUNU, RAJASTHAN – 333010

for the paper titled

A STUDY OF PSYCHOLOGICAL AND MENTAL ABILITY PROFILES OF INDIVIDUAL AND TEAM GAME PLAYERS

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 157-164

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

करनाराम, षोधार्थी

डॉ. महेश चन्द्र, शोध निर्देषक

योग विभाग, श्री खुषाल दास विष्वविद्यालय, हनुमानगढ़।

for the paper titled

यौगिक ध्यान तकनीकों का अध्ययन : पतंजलि योगसूत्र और भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 165-169

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

Anwani Sadhna Kishore Renu (RESEARCH SCHOLAR)

Dr. Vijaymala (RESEARCH GUIDE)

DEPARTMENT OF LAW, SHRI JAGDISHPRASAD JHABARMAL TIBREWALA UNIVERSITY,
VIDYANAGARI, JHUNJHUNU, RAJASTHAN – 333010

for the paper titled

RISING DIVORCE RATES IN URBAN INDIA : A STUDY THROUGH FAMILY COURT PERCEPTIONS

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 170-177

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

Navas NK (RESEARCH SCHOLER)
Dr. Prateek Sharma (RESEARCH GUIDE)
Dr. Brijesh Sathian (RESEARCH CO-GUIDE)
DEPARTMENT OF MEDICAL SCIENCE, SHRI JAGDISH PRASAD JHABARMAL
TIBREWALA UNIVERSITY JHUNJHUNU RAJASTHAN

for the paper titled

Role of ultrasound based muscle quality and architecture study for early identification of frailty in acute hip fracture

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 178-186

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

नीलू, षोधार्थी

डॉ. पूनम आहूजा, शोध निर्देषिका

योग विभाग, श्री खुषाल दास विष्वविद्यालय, हनुमानगढ़।

for the paper titled

आधुनिक जीवन शैली से उत्पन्न शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का यौगिक उपचार

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 187-192

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

Dr. Sachin Kumar

DEPARTMENT OF GEOGRAPHY,
SHRI KHUSHALDAS UNIVERSITY,
HANUMANGARH, RAJASTHAN

for the paper titled

STUDY OF THE NATURE AND SCOPE OF URBAN GEOGRAPHY IN SRI GANGANAGAR

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 193-199

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

#202, Old Housing Board, Bhiwani-127021 (Hry.) 8708822674, 9466532152

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

सुमन चौधरी, षोधार्थी

डॉ. सचिन कुमार, शोध निर्देषक

भूगोल विभाग, श्री खुषाल दास विष्वविद्यालय, हनुमानगढ़।

for the paper titled

बीकानेर जिले के भू आवरण के बदलते स्वरूप पर नगरीकरण का प्रभाव : एक भौगोलिक अध्ययन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 200-204

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

विपिन बोहरा, षोधार्थी

डॉ. पूनम आहूजा, शोध निर्देषिका,

योग विभाग, श्री खुषाल दास विष्वविद्यालय, हनुमानगढ़।

for the paper titled

पातंजलि योगसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता में यौगिक-तकनीक की अवधारणा का अध्ययन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 205-210

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)

ISSN:2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

Impact Factor : 8.642

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERED AND INDEXED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Email : grsbohal@gmail.com Website : www.bohalshodhmanjusha.com

Certificate of Publication

is awarded to

संतोष कुमार

ग्राम—बरौना, पोस्ट—किछौछा,
जिला—अंबेडकर नगर।

for the paper titled

भोजपुरी लोकगीतों में अभिव्यक्त लोक जीवन

Published in Bohal Shodh Manjusha ISSN:2395-7115

Feb. 2026, Vol. 23, Issue -2, Part-2, Page No. 211-213

https://doi.org/10.5281/zenodo.18621819

9 772395 711007

Editor

Dr. Naresh Sihag Advocate

M.A., LL.B. (Hon's), M.A.J.M., M.Lib.& Information Science, M.Phil.
Ph.D., D.Litt (Nepal) Diploma Panchayati Raj (Silver Medalist)